स्फोटदर्शन

पण्डित रङ्गनाथ पाठक

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना–४

प्रथम संस्करण २०००
शकाब्द १८८९; विक्रमाब्द २०२४; खृष्टाब्द १९६७

मूल्य : दस रुपये मात्र

मुद्रक
सर्वोदय प्रेस
पटना–४

वक्तव्य

आधुनिक भाषाविज्ञान वैखरी वाणी से प्रारम्भ होता है। 'विखर', अर्थात् शरीर के आधार पर उत्पन्न होनेवाली वाणी को 'वैखरी' वाणी कहते हैं। अतः, पाश्चात्य भाषाविज्ञान भाषाशास्त्र के अनुशीलन-परिशीलन के प्रसंग में ध्वनियों के उच्चारण और श्रवण की प्रक्रिया का विश्लेषण करने के लिए उच्चारण-स्थान कण्ठ से ओष्ठ तक एवं श्रवण-स्थान कर्ण-कुहर से मस्तिष्क तक के हमारे शरीर के विभिन्न अवयवों के संचालन का गहरा अध्ययन करके ध्वनियों का स्वरूप-गुण-निर्धारण और वर्गीकरण करता है। भौतिक विज्ञान के आधुनिक साधनों के सहारे भाषाशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनियों के अध्ययन का विषय वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में विकसित होकर ध्वनि-विज्ञान (फोनेटिक्स) के रूप में अपना विशिष्ट स्वरूप निर्धारित कर चुका है। उसी प्रकार आधुनिक भाषा-विज्ञान में शब्द-प्रयोग और वाक्य-विन्यास के वैज्ञानिक अध्ययन का विषय रचना-विज्ञान (मॉरफोलॉजी) और अर्थाभिव्यक्ति का विषय अर्थ-विज्ञान (सेमान्टिक्स) के रूप में निरूपित हो चुका है। पाश्चात्य भाषाविज्ञान ने शरीर-विज्ञान (फिजियोलॉजी), समाजविज्ञान (सोशियोलॉजी), मनोविज्ञान (साइकोलॉजी), नृतत्त्व-विज्ञान (एन्थ्रोपोलॉजी) आदि सम्बद्ध विषयों के आश्रय से बड़ी गहराई में जाकर भाषाशास्त्र के विविध अवयवों का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

किन्तु, भाषा केवल उच्चार ही नहीं है। एक ओर तो वह सूक्ष्म अन्त-र्जगत् के अदृश्य विचारों की संवेद्य संवाहिका है, दूसरी ओर वह स्थूल बहिर्जगत् के दृश्य आचारों की नियामिका भी है। अतः, भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध विचार, उच्चार और आचार, तीनों से है। इन तीनों क्रियाओं में हमारी चिति का संचरण ही मूल तत्त्व है। अति-मानस से मानस-स्तर तक हमारी चिति का संचरण विचार कहलाता है, मानस से लेकर अन्तिम वैखरी अवयव तक की उसकी यात्रा उच्चार कहलाती है और बाह्य-जगत् के क्रियात्मक नियोजन में वह आचार बन जाता है।

भारतीय भाषाशास्त्र वाणी के इन त्रिविध आयामों की सम्यक् विवेचना के उपरान्त इस तथ्य पर पहुँचा था कि वाणी के बहुरंगी वितान का मूलाधार परावाक् है, जो निस्तरंग चित्-शक्ति है। इस निस्तरंग परा वाक् में वाणी का समस्त सौन्दर्य और अभिव्यक्ति का सारा चमत्कार मयूराण्डरसवत् निहित रहता है

जो क्रमशः पश्यन्ती और मध्यमा की स्थितियों से होकर वैखरी रूप में अभिव्यक्त होता है। अतः वाणी का चरम स्वरूप शुद्ध-बुद्ध, निस्तरंग और निर्विकल्प चित्-शक्ति है। इसे ही प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्रियों ने 'स्फोट' की संज्ञा दी है—'स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः'। भारतीय भाषाशास्त्र (व्याकरण-विभज्य व्याकरणम्) का यह स्फोटवाद, न केवल वैयाकरणों के लिए ही, वरन् दार्शनिकों और आध्यात्मिक चिन्तकों के लिए भी विचारोत्तेजक विषय रहा है। परिणाम-स्वरूप, 'स्फोट' तत्त्व के विवेचन और उसके अनुशीलन-परिशीलन को लेकर भारतीय चिन्तन में 'स्फोटदर्शन' का एक विशिष्ट महत्त्व है।

यदि पाश्चात्य भाषाविज्ञान मुख्यतः भौतिक आधारों पर अवलम्बित है, तो 'स्फोटदर्शन' प्रधानतः अध्यात्म के रंग में रँगा हुआ है। पूज्य विनोबाजी के शब्दों में—"तीन ताकतों ने आजतक दुनिया बनाई। आगे भी जीवन के ढाँचे को स्वतन्त्र रूप देनेवाली ये ही तीन ताकतें हो सकती हैं: विज्ञान, आत्मज्ञान और वाणी। ···विज्ञान बाहर से प्रकाश डालता है, तो आत्मज्ञान भीतर से प्रकाश करता है। इन दोनों के बीच वाणी पुल का काम करती है। वह दोनों किनारों का संयोग कराती है और दोनों तरफ रोशनी डालती है।···आत्मज्ञान और विज्ञान दोनों के बीच रहकर अनुसन्धान करनेवाला है—शब्दशक्ति-सम्पन्न साहित्यिक, जिसे ज्ञानदेव ने 'शब्दतत्त्व-सारज्ञ' कहा है।"

हमें हार्दिक प्रसन्नता है कि संस्कृत भाषा, साहित्य और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् पं० रंगनाथजी पाठक की असीम कृपा से हम 'स्फोटदर्शन' जैसे अत्यन्त निगूढ़ विषय को हिन्दी में प्रस्तुत कर सके हैं। इसके लिए हम उनके प्रति आभारी हैं। साथ ही हम पं० गिरिजादत्त त्रिपाठी के भी आभारी हैं, जिन्होंने श्रमपूर्वक इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। हमें विश्वास है कि यह ग्रन्थ पाश्चात्य भाषावैज्ञानिक प्रक्रियाओं से अवगत हिन्दी के शब्द-साधकों के सम्मुख आत्मज्ञान और विज्ञान के समन्वय का एक नया मार्ग प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध होगा।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना
अग्रहायण-पूर्णिमा, २०२४ विक्रमाब्द

नवलकिशोर गौड़
निदेशक



ग्रन्थकार

समर्पण

पूज्य पिताजी के स्वर्गारोहण के बाद जिनकी असीम
कृपा और निरुपम उदारता के कारण ही मुझे
कुछ विशिष्ट शिक्षा पाने का अवसर
मिला, उन सहजस्नेहमयी
वात्सल्यमूर्त्ति परमपूज्या
माताजी के पावन
श्रीचरणों में
सभक्ति सादर
समर्पित

—रङ्गनाथ पाठक

मङ्गलाचरणम्

नित्यं निर्दोषलेशं निरतिशयचिदानन्दसत्यस्वरूपं
ब्रह्म ह्यासीत् पुरस्ताज्जगदुदयतोऽव्यक्तमेकं प्रशान्तम् ।
तस्यैवोङ्काररूपा निखिलजगदुपादानभूतात्मशक्तिः
प्रादुर्भूतेक्षणात्मा जयति सकलवाक्सृष्टिहेतुः पराख्या ॥

नीहारहारघनसारसुधाकराभां
विद्युत्प्रभामखिलवाङ्मयसृष्टिहेतुम् ।
आधारचक्रनिलयां चलचित्कलां तां
स्फोटात्मिकाममलवाचमहं प्रपद्ये ॥

ध्यात्वा गुरुपदाम्भोजं पित्रोश्च चरणौ हृदि ।
स्फोटदर्शनसिद्धान्त रङ्गनाथेन लिख्यते ॥

यावन्तो मतभेदाः दृश्यन्ते शब्दतत्त्वविषयेऽस्मिन् ।
सर्वेषामपि तेषामहमिह कृतवान्निदर्शनं प्रायः ॥

नात्रातीव प्रकर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः ।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥
(उदयनाचार्य)

आत्मनिवेदन

स्फोटतत्त्व के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त करने की इच्छा मुझे छात्रावस्था में ही उत्पन्न हुई थी। परन्तु, उस समय साधन और अतिरिक्त समय के अभाव से इच्छा की पूर्त्ति न हो सकी। जिस समय मैंने आरा में अध्यापन-कार्य प्रारम्भ किया, उसी समय दर्शनशास्त्र की परीक्षा देने की भी उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई। इसके लिए दर्शन की पुस्तकों को मँगाया और देखना आरम्भ किया। भगवान् शङ्कराचार्य के 'शारीरकभाष्य' तथा पार्थसारथिमिश्र की 'शास्त्रदीपिका' में स्फोट का खण्डन ही मिला, मण्डन नहीं; परन्तु वाचस्पतिमिश्र के 'भामती' आदि ग्रन्थों को देखने से विदित हुआ कि ये महानुभाव स्फोट को सादर मानते थे। इससे मेरी पूर्व की इच्छा प्रबल हो उठी।

उपनिषद् आदि वैदिक शास्त्रों में तीन तत्त्वों का जितना विशद विवेचन पाया जाता है, उतना किसी अन्य तत्त्वों का नहीं। वे तीन तत्त्व हैं—प्राणतत्त्व, वाक्तत्त्व और मनस्तत्त्व। जब मैं पटना में सन् १९१७ ई० में आया और अध्यापन करने लगा, तब भी नये-नये अपरिचित ग्रन्थों को देखने की अभिलाषा थी ही। मुजफ्फरपुर-संस्कृत-कॉलेज के पुस्तकालय से माँगकर 'शारदातिलक' नामका तन्त्रशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ ले आया और उसको आद्योपान्त देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वाक्तत्त्व का सबसे अधिक महत्त्व तन्त्रशास्त्र में ही पाया जाता है।

स्व० पं० ईश्वरीदत्तजी की कृपा से तन्त्रशास्त्र की कई एक अपरिचित पुस्तकें भी देखने के लिए मिल गई थीं। मैं अपने अनुकूल उनमें से श्लोकों का संग्रह भी करता जाता था। इसी समय अपने पूज्य पिताजी की एक हस्तलिखित पुरानी कॉपी भी उनकी संगृहीत पुस्तकों में मिल गई, जिसमें 'उतत्त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्' इत्यादि श्रुति का अर्थ अनेक कारिकाओं में किया गया है। अनेक वैदिकों से पूछने पर भी मुझे यह पता नहीं लगा कि वे कारिकाएँ किसकी बनाई हुई हैं और पिताजी ने कहाँ से संग्रह की थी; परन्तु उन कारिकाओं और तन्त्रशास्त्र के संगृहीत श्लोकों पर समन्वयात्मक दृष्टि से विचार करने से मुझे यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि यह वाक्तत्त्व वैयाकरणों के घर आकर स्फोट या शब्दब्रह्म शब्द से व्यवहृत होने लगा। शनैः-शनैः इसपर कुछ लिखना भी आरम्भ कर दिया। यद्यपि लिखने का समय नहीं मिलता था, कारण उस समय विद्यार्थियों की

उपस्थिति अधिक मात्रा में थी, और हर एक विषय अकेले ही पढ़ाना पड़ता था, तथापि अनध्याय के दिनों में या अवकाश में घर जाने पर प्रचुर समय मिल जाता था। अन्त में, सन् १६२४ ई० में ही ग्रन्थ संस्कृत में तैयार हुआ, जिसका नाम 'स्फोटतत्त्वविमर्श' रखा गया।

यह ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ; क्योंकि यह संस्कृत में है और संस्कृत के ऐसे ग्रन्थों को प्रकाशित करनेवाली कोई संस्था नहीं, और न मेरे पास साधन हैं, जिनसे स्वयं छपाऊँ। जिस समय हिन्दी में मेरा 'षड्दर्शन-रहस्य' ग्रन्थ छप रहा था, उसी समय मैंने इसके विषय में स्व० बाबू शिवपूजन सहायजी से चर्चा की थी। उन्होंने कहा था कि संस्कृत में किसी ग्रन्थ को प्रकाशित करने की कोई विधि परिषद् में नहीं है। यदि आप इसको हिन्दी में लिखें, तो मैं प्रकाशित करने का यत्न करूँगा। उनके इस सत्परामर्श से मैंने हिन्दी में लिखना आरम्भ कर दिया और कुछ ही महीनों में समाप्त भी कर दिया। और, उसका नाम 'स्फोटदर्शन' रखा गया।

इस पुस्तक में केवल भूषण, मञ्जूषा आदि से, जो स्फोट के समर्थक प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, सहायता नहीं ली गई है, अपितु उनके सिद्धान्तों के कतिपय अंशों के विपरीत भी सिद्धान्त इसमें दिये गये हैं। पतञ्जलि के महाभाष्य तथा भर्तृहरि के वाक्यपदीय से बहुत सहायता ली गई है। वस्तुतः तो वैदिक और तान्त्रिक ग्रन्थों के आधार पर ही यह ग्रन्थ लिखा गया है।

इस ग्रन्थ का हृदय पूर्वार्द्ध में ही है, उत्तरार्द्ध में शब्द-तत्त्व के विषय में जितने मत-मतान्तर हैं, उनका निदर्शन और विवेचन किया गया है। इसमें सफलता और असफलता का विचार करना विद्वान् पाठकों का काम है। मेरी अल्प बुद्धि में जो भी आया, लिख डाला। विद्वान् पाठकों से मेरी यह सविनय प्रार्थना है कि कम-से-कम एक बार इसको आद्योपन्त पढ़ जायँ और इसमें जो भी त्रुटि प्रतीत हो, उसे सूचित करने की कृपा करें, ताकि दूसरे संस्करण में उसे सुधारने की चेष्टा की जा सके।

इस 'स्फोटदर्शन' को राष्ट्रभाषा हिन्दी में लिखने की प्रेरणा मुझे स्व० बाबू शिवपूजन सहायजी से मिली थी तथा स्व० नलिनविलोचन शर्मा ने इसे हिन्दी में लिखा देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की तथा मुझे बहुत प्रोत्साहन दिया और कहा था कि यह आपकी पुस्तक हिन्दी-जगत् में पहली होगी; क्योंकि आजतक इस विषय में किसी ने भी कुछ नहीं लिखा है।

दुर्भाग्यवश, वे दोनों हिन्दी के महारथी आज मेरे बीच नहीं रहे! अतः, उन दोनों महानुभावों को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

पं० श्रीभुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' जी को भी साशीर्वाद धन्यवाद देना नहीं भूल सकता, जिनके प्रयास से बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने इसे प्रकाशित करने का निश्चय किया। पं० गिरिजादत्त त्रिपाठी, व्याकरण-न्याय-साहित्याचार्य, एम्० ए० (उपप्राचार्य, मुंशी सिंह कॉलेज, मोतीहारी, को भी साशीर्वाद धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने बड़ी सावधानी से सम्पादन के साथ सुन्दराक्षर में इसकी प्रतिलिपि भी कर दी। इनके अतिरिक्त पं० पुरुषोत्तम पाण्डेय, साहित्याचार्य, एम्० ए०; अयोध्यानाथ पाण्डेय, एम्० ए० तथा राधामोहन सिंह 'मनोहर, बी० एस्-सी० इन तीनों व्यक्तियों को भी साशीर्वाद और सस्नेह स्मरण किये विना नहीं रह सकता, जिन्होंने प्रेस-कॉपी तैयार करने तथा अनवधानता से छूटी हुई मात्रा और अक्षरों के सुधारने में पूर्ण सहयोग दिया। इनके अतिरिक्त बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के मान्य निदेशक श्रीनवल-किशोर गौड़ तथा परिषद् के सदस्यों और कार्यकर्त्ताओं को भी हार्दिक साशीर्वाद धन्यवाद देता हूँ, जिनकी गुणग्राहिता, कार्यदक्षता और उदारता का ही यह फल है कि ऐसे-ऐसे अपूर्व ग्रन्थों का प्रकाशन इस संस्था से प्रतिवर्ष हो रहा है।

पटना

रक्षा-पूर्णिमा, २०२४ विक्रमाब्द

रङ्गनाथ पाठक

प्रस्तावना

स्फोट का सामान्य परिचय

स्फोटवाद हमारे वैयाकरणों का मुख्य विषय है। शब्दतत्त्व का ही एक दूसरा अन्वर्थ नाम हमारे वैयाकरणों ने स्फोट रखा है। स्फोटतत्त्व के प्रथम आविष्कर्त्ता महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि माने जाते हैं। परन्तु, ग्रन्थों के मथन करने से विदित होता है कि पाणिनि के पहले स्फोटायनाचार्य ही स्फोट का आविष्कार कर चुके थे। मालूम होता है, स्फोट का आविष्कार करने के कारण ही उनका स्फोटायन नाम भी प्रसिद्ध हुआ था। इसीलिए, भगवान् पाणिनि ने भी 'अवङ् स्फोटायनस्य' इस सूत्र में स्फोटायन नाम से ही उनका स्मरण किया है। यद्यपि स्फोटायनाचार्य का कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होता, जिससे पता चले कि उनके पहले शब्दतत्त्व के अर्थ में किसी ने स्फोट शब्द का व्यवहार किया है या नहीं। यद्यपि पाणिनि के सूत्रों में भी कहीं स्फोट शब्द का स्पष्ट प्रतिपादन नहीं किया गया है, तथापि पाणिनि-सूत्रों के रचना-क्रम से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पाणिनि भी स्फोटतत्त्व को भली भाँति जानते और मानते थे।

भाष्यकार पतञ्जलि भी 'तपरस्तत्कालस्य' इत्यादि सूत्रों के रचना-क्रम के आधार पर ही स्फोटतत्त्व को प्रकाश में लाये हैं। पाणिनि ने स्फोट शब्द का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं किया, इसका कारण यही प्रतीत होता है कि स्फोट शब्द केवल वैयाकरणों के ही व्यवहार का विषय रहा था, और स्फोटायनाचार्य के बाद पाणिनि के समय तक व्याकरण के पठन-पाठन का व्यवहार प्रायः लुप्त-सा हो गया था। इस स्थिति में स्फोट शब्द का व्यवहार न होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। बीच में व्याकरण के पठन-पाठन के व्यवहार के लुप्त होने में प्रमाण महाभाष्यकार पतञ्जलि को ही दिया जा सकता है। पतञ्जलि ने व्याकरण के प्रयोजन-प्रदर्शन के अवसर पर स्पष्ट कहा है कि पूर्वकाल में लोग व्याकरण ही पढ़ा करते थे, जब व्याकरण के द्वारा स्थान, प्रयत्न स्वर आदि का पूर्ण ज्ञान हो जाता था तभी उन्हें वैदिक शब्दों का उपदेश दिया जाता था : 'पुराकाले संस्कारोत्तरं ब्राह्मणाः व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यः स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते, अद्यत्वे न तथा।'

आज वह बात नहीं है। 'इदानीं वेदमधीत्य त्वरितं वक्तारो भवन्ति, वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धाः लोकाश्च लौकिकाः अनर्थकं व्याकरणमिति'—इस समय के

लोग वेद पढ़कर तुरत ही वक्ता बन जाते और कहने लगते हैं वेद से वैदिक शब्द सिद्ध हो जाते हैं और लोक से लौकिक, व्याकरण अनर्थक ही है। 'तेभ्यः विप्रतिपन्न-बुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद्भूत्वा आचार्यः इदं शास्त्रमन्वाचष्टे'—इस प्रकार विप्रतिपन्न (उलटी) बुद्धिवाले अध्येताओं के लिए सुहृत् होकर आचार्य (पाणिनि) इस व्याकरण-शास्त्र का अन्वाख्यान करते हैं। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है कि भाष्यकार ने 'अन्वाचष्टे' कहा है, जिसका अर्थ होता है—अनु = पश्चात्, आचष्टे = कहते हैं—अर्थात् पश्चात् कहना। इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि इसके आदि प्रवर्त्तक नहीं हैं, बल्कि पूर्वप्रवृत्त धारावाहिक व्याकरण के लुप्तप्राय होने पर पुनः उन्होंने उज्जीवित-मात्र किया है। इस सन्दर्भ से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि स्फोट शब्द के आविष्कर्त्ता स्फोटायन के बाद पाणिनि के समय तक व्याकरण के अध्ययनाध्यापन का व्यवहार न होने के कारण स्फोट शब्द का व्यवहार एकदम लुप्त ही हो गया था। इस स्थिति में पाणिनि का स्फोट शब्द का कहीं प्रयोग न करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह सब होते हुए भी पाणिनि शब्दतत्त्व को नित्य और व्यापक मानते थे, इसमें किसी भी व्याकरण-शास्त्र के अनुशीलन करनेवाले को सन्देह नहीं रह जाता।

यहाँतक कि 'शब्दः जायते', 'शब्दः नश्यति', इत्यादि स्थलों में भी 'जायते' का उत्पन्न होना और 'नश्यति' का सर्वथा नष्ट होना, यह अर्थ पाणिनि नहीं मानते; बल्कि उत्पन्न होने का अर्थ 'प्रकट करना' और नाश का अर्थ 'अदर्शन होना' ही मानते हैं। इस अभिप्राय से सूत्रकार ने 'णश् अदर्शने', 'जनी प्रादुर्भावे' यही अर्थ धातुपाठ में माना है। अर्थात्, पाणिनि 'जनी' धातु का अर्थ उत्पन्न होना नहीं, अपितु प्रादुर्भाव-मात्र होना ही अर्थ मानते हैं। इसी प्रकार, नाश का अर्थ सत्ता का अभाव नहीं, अपितु उसका अदर्शन-मात्र मानते हैं, जिसका अर्थ तिरोभाव या छिप जाना होता है। वस्तुतः, शब्द नित्य और व्यापक है, यह सर्वथा समाप्त कभी नहीं हो सकता और न नया पैदा ही हो सकता है।

भगवान् भाष्यकार पतञ्जलि ने भी 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इस वार्त्तिक के व्याख्यान में शब्द और उसके अर्थ के साथ सम्बन्ध को अनेक प्रमाणों और युक्तियों द्वारा नित्य सिद्ध किया है। इस प्रकार, अनेक सूत्रों के व्याख्यान में शब्दों के नित्यत्ववाद का भाष्यकार ने समर्थन किया है। इस विचार में हम यह भी देखते हैं कि पदों और वाक्यों को भी नित्य होने का समर्थन कर एक नया मौलिक विचार दार्शनिक जगत् के समक्ष महाभाष्यकार पतञ्जलि ने रखा है। क्योंकि, नैयायिकों ने शब्दों की नित्यता का अनेक युक्तियों से खण्डन कर शब्दों को

अनित्य या नाशवान् सिद्ध किया था। इस प्रकार, मीमांसकों ने भी क, ख, ग, आदि पृथक्-पृथक् वर्णों को तो नित्य माना है, परन्तु वर्णों के समूह-रूप पदों और पदसमूह-रूप वाक्यों को अनित्य ही माना है। मीमांसासूत्र के भाष्यकार शबरस्वामी तथा कुमारिलभट्ट आदि विद्वान् भाष्यकार और वार्त्तिककारों ने अपने-अपने भाष्य और वार्त्तिक में वर्णों के ही नित्यत्व का व्यवस्थापन किया है, पद और वाक्यों को अनित्य ही माना है। एक बात यहाँ विचारणीय है कि मीमांसाशास्त्र के आदि प्रवर्त्तक आचार्य जैमिनि ने 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' इस सूत्र से शब्द (पद) के अर्थ के साथ सम्बन्ध को नित्य मानकर पद को भी नित्य ही मान लिया है। क्योंकि, पद के अवयव वर्णों के साथ अर्थों का सम्बन्ध मानना युक्ति-युक्त या प्रमाणसिद्ध नहीं प्रतीत होता। इस स्थिति में मीमांसकों के लिए भी पद या वाक्य को नित्य मानना आवश्यक हो जाता है। इसलिए, शबरस्वामी का पद और वाक्य को अनित्य मानना जैमिनि आचार्य के मत से विरुद्ध ही प्रतीत होता है।

वेदान्त में स्फोट की चर्चा

वेदान्त के परमाचार्य भगवान् शङ्कराचार्य ने भी वेदान्त-दर्शन के देवताधिकरण में स्फोटवाद की चर्चा तो की है, परन्तु अन्त में उसका खण्डन कर मीमांसकों के वर्णनित्यतावाद का ही समर्थन किया है। परन्तु, भामतीकार वाचस्पतिमिश्र ने अनेक स्थलों में स्फोटवाद का ही समर्थन किया है। आज स्फोटवाद का प्रथम प्रचारक भगवान् पतञ्जलि को ही माना जाता है। इसके बाद महावैयाकरण भर्तृहरि ने आगम (तन्त्र) शास्त्र के ही आधार पर स्फोटतत्त्व का विशद विवेचन कर पद और वाक्यस्फोट का स्पष्टीकरण किया है। यहीं तक नहीं, बल्कि 'तद्‌द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्' (वह मुक्ति का द्वार और वचन के मलों की अनुपम चिकित्सा है) यह कहकर व्याकरणशास्त्र की स्तुति की है और उसे मुक्ति का मार्ग भी बताया है। स्फोट शब्द का विकास आगमशास्त्र के आधार पर ही माना जाता है। ऐसे तो समस्त विद्याओं का मूल आधार वेद को ही हमारे आर्य लोग मानते आये हैं, परन्तु इस स्फोटवाद का विकास आगमशास्त्र के आधार पर व्याकरण-शास्त्र में ही हुआ है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। वैदिक सृष्टि-प्रकरण में तीन पुरुषों का विवेचन किया गया है—क्षर, अक्षर और अव्यय। इनमें प्रत्येक की पाँच-पाँच कलाएँ बताई गई हैं। इनमें अव्यय पुरुष की जो आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् नाम की पाँच कलाएँ हैं, उनमें वाक् कला को व्याकरण में स्फोट नाम दिया गया है, यह वैदिक विद्वानों की मान्यता है। इसी

से सकल शब्दार्थमय जगत् की सृष्टि है। इसके अतिरिक्त क्षर पुरुष की कला-रूप में जिस अन्य 'वाक्' शक्ति का शास्त्रों में निरूपण किया गया है, उसको व्याकरण-दर्शन में व्यावहारिक स्फोट माना गया है। 'उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्, चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' इत्यादि श्रुतियों में प्रकृत स्फोट का वर्णन वाक् शब्द से ही किया गया है। वाक या वाणी शब्द से श्रुतियों में जिस तत्त्व का वर्णन किया गया है, उसी को व्याकरण-दर्शन में स्फोट माना गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इस स्फोट का वाक् शब्द से ही व्यवहार किया गया है—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वा पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सानो हवं जुषतामिन्द्रपात्नी॥

अर्थात्, सम्पूर्ण देवता, गन्धर्व, पशु और मनुष्य वाक् के ही आधार पर जीवित रहते हैं, यह समस्त ब्रह्माण्ड वाणी पर ही अवलम्बित है। शतपथ-ब्राह्मण में भी कहा है—'यद् वै प्रजापतेः परमस्ति वागेव तत्', अर्थात् जो प्रजा-पति से भी परतत्त्व है, वह वाक् ही है। दूसरे शब्दों में वाक्-तत्त्व उतना ही व्यापक है, जितना कि ब्रह्म। इन सब श्रुतियों के उदाहरणों से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि वाक्-तत्त्व (जिसे स्फोट कहा गया है) आर्ष वाङ्मय में सर्वव्यापक तत्त्व माना गया है। इसी आधार परमहावैयाकरण भर्तृहरि ने—'स्वरूप-ज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी' (वा० प०) कहकर आत्मतत्त्व (ब्रह्मतत्त्व) के रूप में परावाक् का व्यवस्थापन किया है।

आगे चलकर जहाँ श्रुतियों में सृष्टि का विवरण किया गया है, वहाँ भी इसी परावाक्-स्वरूप आत्मतत्त्व से सर्वप्रथम शब्द घन-रूप आकाश की ही उत्पत्ति मानी गई है—'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः' इत्यादि।

जो तत्त्व सर्वप्रथम उत्पन्न होता है, उसी को सबसे सूक्ष्म होने से सर्वव्यापक हमारे आचार्यों ने माना है। यह युक्तियुक्त भी है। आगमशास्त्र में भी बिन्दु से व्यापक नाद की उत्पत्ति पहले मानी गई है—'नादाद् बिन्दुसमुद्भवः'। इसमें शब्दभेद होने पर भी तात्पर्य वही है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन चार प्रकार के शब्दों में परा नाम की वाक् को ही 'स्वरूपज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी' इस कारिका में आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप घोषित किया गया है। यही वैयाकरणों का मुख्य स्फोट माना गया है। यही नाम-रूपात्मक सकल ब्रह्माण्ड का मूल उपादान होता है। यह परावाक्-रूप स्फोट अत्यन्त

सूक्ष्म होने के कारण सर्वजनसंवेद्य नहीं है, यह व्यवहार के ऊपर की वस्तु है। योगावस्था की निर्विकल्पक समाधि में ही इसका साक्षात्कार योगियों को होता है।

परा स्वरूप से पश्यन्ती और मध्यमा में क्रमशः वाणी की अवतरण होती है। पश्यन्ती में वाक् की अवतारणा होने पर भी वहाँ शब्द और अर्थ परस्पर इतना सम्मिलित रहते हैं कि कुछ भी पार्थक्य नहीं प्रतीत होता। पश्यन्ती का भी प्रत्यक्ष साधारण जन को नहीं होता, केवल योगियों को सविकल्पक समाधि में इसका भान होता है। पश्यन्ती के साक्षात्कार होने पर ही प्रकाश का आविर्भाव होता है। जिसे प्रकाश मिल जाता है, उसी को भाष्यकार शिष्ट मानते हैं। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' सूत्र के भाष्य में किसके उच्चरित शब्द साधु होते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भाष्यकार ने कहा है—'शिष्टों के'। और, शिष्ट माना है वैयाकरण को। इसके बाद 'किञ्चिदन्तरेण' प्रतीक को लेकर कैयट ने कहा है—

> आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
> अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥
> अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
> ये भावं वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥

इसका तात्पर्य यह है कि जिस योगी या वैयाकरण को प्रकाश का आविर्भाव हो गया है या पश्यन्ती का साक्षात्कार हो गया है, उस शान्तचित्तवाले महात्माओं को जो अतीत और अनागत (भूत, भविष्य) का ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष से विशेष नहीं है, अर्थात् प्रत्यक्ष के समान ही भूत-भविष्य का ज्ञान करामलकवत् होता रहता है। अतीन्द्रिय और असंवेद्य (नहीं जानने योग्य) को भी आर्ष (दिव्य) चक्षु से देखते हैं, उनका वचन अनुमान से बाधित नहीं होता। अर्थात्, पश्यन्ती वाक् का साक्षात्कार करनेवाला ही असली वैयाकरण है, उसी को कारिका में आर्षचक्षु कहा गया है, उसी का अखिल वाङ्मय ब्रह्माण्ड पर आधिपत्य हो जाता है और उसी का उच्चरित या उपदिष्ट कोई भी शब्द साधु और प्रमाण माना जाता है। इसलिए, उसको भाष्यकार ने शिष्ट कहा है। इसी आर्षचक्षु (दिव्यचक्षु) को गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है—'दिव्यं ददामि ते चक्षुः'—हे अर्जुन! अब मैं तुझे दिव्य (आर्ष) चक्षु देता हूँ, जिससे तुम मेरे रूप या स्वरूप का साक्षात्कार कर सकते हो। इस चर्मचक्षु से मेरे रूप का दर्शन नहीं हो सकता।

कहने का तात्पर्य यह है कि पश्यन्तीवाक् का भी योगी के अतिरिक्त साधारण जन को प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, इसलिए यह भी परा के समान ही व्यवहार के ऊपर की वस्तु है। जब मध्यमा में वाक् का अवतरण होता है, तभी वाक् और अर्थ का तादात्म्य होने पर भी पृथक्-पृथक् विभक्त अनुभव सर्वसाधारण को होता है, अर्थात् मध्यमा में ही सबको अर्थबोध होता है। सांख्य-सिद्धान्त में भी यही प्रक्रिया देखी जाती है। वहाँ भी मूलप्रकृति (अव्यक्त) को परा के समान प्रत्यक्ष से परे माना गया है, अर्थात् उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। उससे उत्पन्न होने-वाले महान् में भी शब्द और अर्थ परस्पर सम्बद्ध होकर मिलित ही रहते हैं। यह भी पश्यन्ती के समान सबके अनुभव का विषय नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति में समनियत जो अध्यात्म बुद्धि-तत्त्व है, उसी में विशकलित (पृथक्-पृथक्) शब्दार्थों का प्रत्यक्ष-भान होता है, जैसे मध्यमा में। यहाँ यह भी समझना चाहिए कि मन में सोचकर जितना भी निश्चय किया जाता है, वह सब मध्यमा में ही होता है। इसके अतिरिक्त मध्यमा में अवस्थित शब्दार्थों का ही परस्पर संकेत-ग्रह भी होता है। इसलिए वधिर, मूक और बालकों को भी स्थूल वैखरी वाणी के बिना भी मध्यमा में ही वैज्ञानिक प्रक्रिया से संकेत ग्रह करा दिया जाता है।

वैखरी शब्द तो वक्ता के मुख से उच्चरित होकर श्रोता की श्रवणेन्द्रिय का ही विषय होता है, वह अर्थ का बोध नहीं कराता। जब वैखरी ध्वनि से हृदय-प्रदेश (मध्यमा) में क्षोभ पैदा होता है, तभी मध्यमा में अवस्थित व्यापक स्फोट की अभि-व्यक्ति होने से अर्थ का बोध होता है। स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है— स्फुटति = विकसति अर्थः अस्मात् इति स्फोटः, अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित या विकसित हो, वही स्फोट है। वैखरी ध्वनि केवल हृदयस्थ स्फोट का अभिव्यञ्जक-मात्र होता है, उससे अर्थ का बोध नहीं होता। वैखरी ध्वनि के बिना भी केवल चेष्टा आदि से मध्यमा में स्थित स्फोटात्मक शब्दों की अभिव्यक्ति हुआ करती है। अनेक कवि, विद्वान् और लेखक वैखरी वाणी का उच्चारण किये बिना भी गद्य आदि की रचना करते हैं, उन्हें लिखकर अपने इष्ट मित्रों के पास भेजते हैं और पाठक भी उन्हें पढ़कर अर्थबोध कर लेते हैं। यहाँ वैखरी वाणी का व्यापार कुछ भी नहीं देखा जाता, केवल लिपि के संकेत से ही मध्यमा वाणी के द्वारा शाब्दबोध हुआ करता है। शब्दों के संकेत का ज्ञान भी मध्यमा में ही होता है, इसलिए मध्यमा में ही अर्थ का बोध होना स्वाभाविक प्रतीत होता है। इसी अभिप्राय से भर्तृहरि ने लिखा है—

वैखर्या हि कृतो नादः परश्रवणगोचरः।
मध्यमया कृतो नादः स्फोट व्यञ्जक उच्यते॥ (वा० प०)

अर्थात्—वैखरी वाणी से जो नाद (ध्वनि) किया जाता है, वह केवल दूसरे के श्रवण का ही विषय होता है, उससे अर्थ का बोध नहीं होता। हृदयस्थ मध्यमा वाणी से जो नाद किया जाता है, उसी से स्फोट अभिव्यक्त होता है, जिससे शाब्द-बोध होता है। इसका तात्पर्य यही होता है कि हमलोग जिस वैखरी वाणी का उच्चारण करते हैं, उससे उत्पन्न स्थूल वर्ण श्रोताओं के कर्ण द्वारा हृदय प्रदेश में प्रवेश कर वहाँ अवस्थित मध्यमा वाणी को प्रबुद्ध करते हैं और वहाँ व्यापक रूप से स्थित वर्णों को पद, वाक्य आदि रूप में विभक्त कर स्फोट को अभिव्यञ्जित करते हैं। अतः, श्रोताओं को भी सुने हुए वाक्यों का अर्थबोध मध्यमा में ही होता है। वह मध्यमा वाणी भी सर्वत्र व्यापक है, इसी कारण बालक, मूक, वधिर आदि को भी प्रयत्न के द्वारा शब्दार्थ का बोध करा दिया जाता है। इसी मध्यमा में अवस्थित बौद्ध शब्दों का उनके अर्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध आचार्यों ने माना है। यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि बौद्ध शब्द और बौद्ध अर्थ इन दोनों का ही तादात्म्य सिद्ध होता है, बाह्य शब्द और अर्थ का नहीं।

बौद्ध अर्थ और बौद्ध शब्द इन दोनों का पूर्ण विवेचन आगे किया गया है।



विषय-सूची

(पूर्वार्द्ध)

(उत्तरार्द्ध)

आन्तर स्फोट-विचार

परिशिष्ट

●

पूर्वार्द्ध

ओङ्कारपञ्जरशुकीमुपनिषदुद्यानकेलिकलकण्ठीम् ।
आगमविपिनमयूरीमार्यामन्तर्विभावये गौरीम् ॥

'ओमित्येतदक्षरम्', 'इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्', 'भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वम् ओङ्कार एव' 'यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदपि ओङ्कार एव' इत्यादि माण्डूक्य श्रुतियों के अर्थ की समालोचना करने से यही प्रतीत होता है कि नामरूपात्मक सकल चराचर जगत् समष्टि रूप से एक ही है। कारण यह है कि नाम और रूप, विवर्त्त और उसका अधिष्ठान, इनमें परस्पर भेद का भान होने पर भी वास्तव में ये एक ही हैं, इनमें भेद नहीं है। यह चित् (चैतन्य) में प्रतिबिम्बित जो अविद्या है, उसी का विलास है और ओङ्कार का ही परिणाम या विवर्त्त है। परन्तु, 'नामरूपे व्याकरवाणि' इस श्रुति में 'नामरूपे' में द्विवचन का जो श्रवण होता है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि रूपात्मक जगत् की सृष्टि से पृथक् ही नामात्मक (वाङ्मय) जगत् की सृष्टि है। परन्तु, प्रश्न है कि नामात्मक और रूपात्मक इन दोनों प्रकार की जगत्सृष्टि का मूल उपादानकारण एक ही है अथवा दो। इस प्रकार का संशय प्रायः सभी गवेषणापरायण जनों के मन में उठा करता है। यही नहीं, बल्कि 'नाऽसदासीन्नो सदासीत्', 'न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा', 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतत्' इत्यादि श्रुतियों से भी यह प्रतीत होता है कि सकल प्रपञ्च का जो मूल कारण है, वह तर्क का विषय नहीं है; क्योंकि वहाँ न चक्षु की गति है, न वाक् की, न मन की, न बुद्धि और विज्ञान की ही। इस अवस्था में वह तर्क का विषय किस प्रकार हो सकता है। परन्तु, जगत् की सृष्टि के पहले जगत् के अभाव की दशा में किसी सर्वज्ञ, अतर्क्यमहिमा, जगत्-सिसृक्षु (सृष्टि की इच्छा करनेवाले) ऐन्द्रजालिक के समान अचिन्त्य-शक्तिशाली आत्मा को 'स ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि श्रुतियाँ बोधित करती हैं, जिस सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् परमात्मा को कार्यत्व आदि हेतु के द्वारा अनुमान से भी सिद्ध किया जाता है। यह प्रायः निर्विवाद-सा है कि जगत् का मूल कारण कोई अवश्य है और वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, जिसका व्यवहार लोक में ब्रह्म, ईश्वर या भगवान् आदि अनेक शब्दों से किया जाता है। वही अपनी अचिन्त्य शक्ति-रूप माया (जो अघटनघटनापटीयसी है) का आश्रयण कर जगत् की सृष्टि में निमित्तभूत धर्म-अधर्म की कल्पना कर नाम-रूपात्मक जगत् के आकार में भासित या परिणत होता है। यही समस्त श्रुतियों

और स्मृतियों का निष्कर्ष प्रतीत होता है। प्राकृत महाप्रलय-काल में जिस समय समस्त प्रपञ्च अपने-अपने कारण के द्वारा माया में ग्रसित हो जाते हैं, उस समय भी सकल प्राणियों के कर्मरूप धर्म-अधर्म सूक्ष्म वासना के रूप में माया में अवस्थित रहते हैं। इसीलिए, धर्म-अधर्म का भी सृष्टि में कारण होना जो श्रुति-स्मृति में प्रोक्त और सकललोकप्रसिद्ध है, उससे विरोध नहीं होता।

प्राकृत महाप्रलय का विचार

इस महाप्रलय का वर्णन उपनिषद्, महाभारत आदि ग्रन्थों में इस प्रकार किया गया है—

> जगत् प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
> तेजस्यापः प्रलीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते॥
> वायुः प्रलीयते व्योम्नि तदव्यक्ते प्रलीयते।
> अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कलङ्के प्रलीयते॥

इसका अभिप्राय यह है कि जगत् की प्रतिष्ठा पृथिवी जल में लीन हो जाती है, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश अव्यक्त (माया) में और अव्यक्त निष्कलङ्क ब्रह्म में लीन हो जाता है। उस समय निस्तरङ्ग प्रशान्त सागर के समान अखण्ड, निर्लेप, निर्विकार, निष्कलङ्क ब्रह्ममात्र शेष रहता है। उस समय अन्यत्व (भेद) का न तो दर्शन होता है, न श्रवण, न विज्ञान। केवल शुद्ध, बुद्ध, अखण्ड, निर्लेप, सत्-चित्, आनन्दमय परमात्मा ही रह जाता है।

यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि पूर्वोक्त श्लोक में अव्यक्त शब्द से ब्रह्म की शक्ति-रूप माया का ही ग्रहण है और उसका जो ब्रह्म में विलय कहा गया है, वह आत्यन्तिक विनाश-रूप विलय नहीं है। कारण यह है कि आत्यन्तिक विनाश-रूप विलय मानने से उसके उत्तरकाल में जगत् की सृष्टि का अभाव ही हो जायगा। इसलिए, माया के प्रलय का तात्पर्य है कि जिस प्रकार सुषुप्तिकाल में इन्द्रियों की विषयाभिमुख वृत्तियों का अभाव हो जाता है, आत्यन्तिक विनाश नहीं, उसी प्रकार माया की विषयाभिमुख वृत्तियों का अभाव होना ही माया का ब्रह्म में विलय है।

सिसृक्षा-नाद-बिन्दु आदि का विचार

प्राणियों के भुक्तावशिष्ट कर्म महाप्रलय के समय माया में विलीन होकर अत्यन्त सूक्ष्म संस्कार (वासना) के रूप में अवस्थित रहते हैं, कालक्रम से

व परिपक्व होकर अपने फल देने के लिए समस्त प्राणिकर्म ...
हुए के समान शान्त एवं निर्विकार रूप से अवस्थित अद्वितीय परमात्मा में सिसृक्षात्मिका (सृष्टि करने की इच्छावाली) मायावृत्ति को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार, सिसृक्षा के बाद परिपक्व होकर सृष्टि के लिए उन्मुख हुए समस्त प्राणि-कर्मों की घनी भावावस्था उत्पन्न हो जाती है। इसी घनी भावावस्था के लिए जो व्यापार होता है, उसी का वर्णन 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय', 'स ऐक्षत लोकानुसृजै', 'सोऽकामयत', अर्थात् उस परमात्मा ने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ, प्रजा एवं लोकों की सृष्टि करूँ इत्यादि श्रुति-स्मृतियों ने तथा आचार्यों ने विचिकीर्षा, कामना आदि शब्दों से किया है। घनीभाव के लिए जो व्यापार है, वही चिकीर्षा का लक्षण या वाच्य अर्थ होता है। आगम कहता है—'विचिकीर्षु-र्घनीभूता क्वचिदभ्येति बिन्दुताम्।'

उपर्युक्त वाक्यों से यह सूचित होता है कि सृष्टि के उन्मुखीभूत परिपक्व प्राणियों के कर्मों के आकार में माया ही परिणत होती है। उस माया से विशिष्ट सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म ही बिन्दु शब्द का वाच्य होता है। यही बिन्दु जब अविभागावस्था में रहता है, तब अव्यक्त कहा जाता है। अविभागावस्थापन्न इसी बिन्दु का वर्णन व्यासदेव ने महाभारत में अव्यक्त शब्द से किया है—

तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम इत्यादि।

यहाँ 'उत्पन्नम्' शब्द से इस अव्यक्त की उत्पत्ति भी सूचित होती है। इसी अव्यक्त का सकल सृष्टि की उत्पादनभूत प्रकृति, प्रधान आदि नामों से वर्णन सांख्यशास्त्र में किया गया है। इसी का विवेचन प्रकारान्तर से 'शारदातिलक' में इस प्रकार है —

निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः।
निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः॥
सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादः नादाद् बिन्दुसमुद्भवः॥

इस श्लोक में सनातन—अविनाशी—परमात्मा के दो स्वरूप बताये गये हैं—एक निर्गुण, दूसरा सगुण। प्रकृति से असम्बद्ध परमात्मा को निर्गुण और प्रकृति से सम्बद्ध को सगुण कहा गया है। इसी प्रकृति से युक्त सच्चिदानन्द सगुण परमात्मा से शक्ति का आविर्भाव होता है और शक्ति से नाद तथा नाद से बिन्दु की उत्पत्ति होती है। यहाँ नाद पद से सृष्टि के उन्मुख घनीभूत अवस्था का ही बोध होता है। यही बिन्दु का जनक होता है। जगत् के अङ्कुराकार

इसी बिन्दु से (जिसका दूसरा नाम अव्यक्त है) नामरूपात्मक :दोनों प्रकार के जगत् का उद्‌गम होता है। यही सच्चिदानन्दवैभव, प्रकृतिपुरुषमय, अव्यक्त नाम का बिन्दु 'नामरूपे व्याकरवाणि' इस प्रकार की भगवदिच्छा के बल से जब नामात्मक सृष्टि करने के लिए चिदानन्दमय शक्तिप्रधान होता है, तब उस अवस्था में वाङ्मय (शब्दमय) सृष्टि की उपादानभूत शक्ति, कुण्डलिनी इत्यादि नामों से शैवागम-तन्त्रों में इसका व्यवहार किया जाता है। जैसे—

तस्माद्विनिर्गता नित्या सर्वगा विश्वसम्भवा।
शिवेच्छया परा शक्तिः शिवतत्त्वैकसङ्गता॥
ततः परिस्फुरत्यादौ सर्गः तैलं तिलादिव।

इसका तात्पर्य यह है कि उस प्रकृति-सम्बद्ध परमात्मा से, परमात्मा की ही इच्छाशक्ति से परा शक्ति का, जिसका नाम कुण्डलिनी भी है, प्रादुर्भाव हुआ, जो एक शिवतत्त्व में ही सङ्गत और नित्य है, जो विश्व का कारण है। उसी से समस्त वाङ्मय (शब्दमय) जगत् का प्रादुर्भाव होता है, जैसे तिल से तैल का। भागवत में भी इसका निर्देश है—

शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननव्यापारबद्धोद्यमाम्।
ज्ञात्वेत्थं न पुनर्विशन्ति जननीगर्भेऽर्भकत्वं नराः॥

अर्थात्, कुण्डलिनी नाम की जो परा शक्ति है, जिसका उद्योग सतत विश्व-जनन (उत्पादन) में ही बद्ध है, जिसको जानकर माता के गर्भ में मनुष्य नहीं आता है, अर्थात् मुक्त हो जाता है। जिस बिन्दु से शब्द की उपादानभूत कुण्डलिनी शक्ति शक्तिप्रधान होकर प्रादुर्भूत होती है, उसी अव्यक्तापरपर्याय बिन्दु से कालक्रम से रूपसृष्टि का उपादानभूत सदाशिव (ईश्वर) चैतन्यप्रधान होकर माया के आश्रयण से प्रादुर्भूत होता है—

अथ बिन्द्वात्मनः शम्भोः कालबन्धोः कलात्मनः।
अजायत जगत्साक्षी सर्वव्यापी सदाशिवः॥

इस सन्दर्भ से यही सूचित होता है कि शब्दमय सृष्टि का उपादानभूत जो भगवान् का स्वरूप है, वह :शक्तिप्रधान है, वही शक्ति कुण्डलिनी आदि नामों से व्यवहृत होती है, और वही वाङ्मय सृष्टि का कारण है। और, अर्थसृष्टि का उपादानभूत जो बिन्दु है, वह चैतन्यप्रधान है, वह सदाशिव, ईश्वर आदि नामों से व्यवहृत होता है और वही अर्थ (रूप) सृष्टि का कारण होता है।

इसलिए, शब्दमय सृष्टि के उपादानकारणभूत शब्द की अधिष्ठात्री देवी में शक्त्यंश की अधिकता रहने से स्त्रीरूपत्व और रूप (अर्थ) सृष्टि के उपादान-कारणभूत अर्थ के अधिष्ठाता देव में चैतन्यांश की अधिकता रहने से पुरुषरूपत्व होना सिद्ध होता है। श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम आदि के मथन करने से यही निष्कर्ष निकलता है। 'शारदातिलक' भी इसे प्रमाणित करता है—

शब्दरूपमशेषन्तु धत्ते शङ्करवल्लभा।
अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः॥

अर्थात्, समस्त शब्दमय शरीर को पार्वती धारण करती हैं तथा समस्त अर्थस्वरूप को स्वयं महेश्वर धारण करते हैं। इसीलिए, शास्त्रों में शब्द के प्रायः गिर्, वाक्, वाणी, सरस्वती आदि स्त्रीत्व-विशिष्ट नाम ही उपलब्ध होते हैं। इसलिए, शब्द की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती हैं और अर्थ के अधिष्ठाता देव स्वयं महेश्वर, यही रहस्य सूचित करता है।

जिस प्रकार स्त्री और पुरुष दोनों का उपादानभूत एक ही बिन्दु काल की महिमा से माता का अंश अधिक होने पर स्त्री और पिता का अंश अधिक होने पर पुरुष को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार एक ही अव्यक्त नाम का बिन्दु काल की महिमा से शक्त्यंश की अधिकता होने पर वाङ्मय एवं चैतान्यांश की अधिकता होने पर अर्थ (रूप) मय जगत् को उत्पन्न करता है। शास्त्रों में भी लिखा है—

नारी रजोऽधिकेंऽशेस्यान्नरः शुक्राधिकेंऽशके।
रजोऽधिके भवेन्नारी तथा रेतोऽधिके पुमान्॥

शब्द और अर्थ इन दो प्रकार की विरुद्ध सृष्टि का कारण

यहाँ एक शङ्का प्रायः उत्पन्न होती है कि एक ही अव्यक्त नामक बिन्दु के केवल भगवदिच्छा और काल को निमित्त बनाकर नामात्मक और रूपात्मक ये दो विरुद्ध धर्मवाले परिणाम किस प्रकार सङ्गत होते हैं। उनमें भी एक से श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य शब्द उत्पन्न होता है और दूसरे से नहीं, यह क्यों? इसका परम्परागत उत्तर यह है कि भगवान् की महिमा अतर्क्य है और अतर्क्य को तर्क की कसौटी पर नहीं कस सकते—

अतर्क्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।

इसीलिए, शास्त्रकारों ने चित्र-विचित्र जगत् के निर्माण के लिए माया की कल्पना की है और उसे अघटनघटनापटीयसी माना है।

जगत् के उत्पादन में काल को प्रायः सभी आचार्यों ने कारण माना ही है : 'जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः' (कारिकावली)। समस्त उत्पत्तिशील जगत् का कारण काल है और साथ ही जगत् का आश्रय भी है। स्त्री और पुरुष, यह दो प्रकार की जो सृष्टि है, उसका भी निमित्त काल को माना गया है। धर्मशास्त्र, आयुर्वेद आदि के अनेक ग्रन्थों में आता है—युग्म (सम) रात्रि में स्त्री-प्रसङ्ग करने से पुत्र और अयुग्म (विषम) रात्रि में प्रसङ्ग से पुत्री का जन्म होता है, इसलिए पुत्रार्थी को चाहिए कि ऋतुकाल में चार दिन के बाद सम रात्रि में ही प्रसङ्ग करे। लिखा है—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु।
तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्त्तवे स्त्रियाम् ॥

इससे सिद्ध होता है कि कालशक्ति के बल से एक ही बिन्दु के द्वारा दो प्रकार की सृष्टि में कोई विरोध नहीं है। यहाँ एक बात और भी जानने योग्य है कि इस प्रकार की जो व्याख्या की गई है, वह शक्ति और शक्तिमान् का भेद मानने पर ही सम्भव है, अन्यथा नहीं।

वैयाकरण-सिद्धान्त

शब्द-ब्रह्म के उपासक वैयाकरण शक्ति और शक्त (शब्द और अर्थ) में भेद मानते हैं। इसी आधार पर शक्ति और शक्तिमान् में अभेद माननेवाले तार्किक आदि भी शब्द में पृथक् शक्ति को स्वीकार करते हैं। यह शक्ति और शक्त का भेद भी अनिर्वचनीय और कल्पित ही है। जिस प्रकार इस लोक में स्त्री-पुरुष में पार्थक्य होने पर भी पुत्रोत्पादन, अग्निसेवन आदि कार्यों में उनके सहकर्त्तृत्व या समानकर्त्तृत्व के कारण एकात्मत्व की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार परस्पर अभिन्न ब्रह्म और शक्ति में दृश्यमान भेद के न रहने पर भी नामात्मक और रूपात्मक भेद से भिन्न दो प्रकार की सृष्टियों के उपादानत्व के विवेचन के लिए भेद की कल्पना भी मान्य होती है।

वस्तुतः, शक्त्या विरहितः शक्तः शिवः कर्त्तुं न किञ्चन इत्यादि प्रमाणों से सिद्ध होता है कि शक्ति से रहित शिव (ब्रह्म) भी कुछ करने में समर्थ नहीं होता, अतः वह ईश्वर नहीं हो सकता और शक्ति भी आश्रय के विना ठहर नहीं सकती; इसलिए शक्ति और शक्तिमान् में कुछ भेद ही नहीं है, यही वास्तविक रहस्य समझना चाहिए। इसलिए, नामसृष्टि के उपादानभूत चिदानन्दमय अव्यक्त रूप शक्ति के अधिकांश विशिष्ट होने के कारण चैतन्यप्रतिबिम्बित मायारूप बिन्दु को शक्ति, कुण्डलिनी, आधारशक्ति आदि नामों से अपने तन्त्रों में वर्णित किया गया है और रूपसृष्टि के उपादानभूत सच्चिदानन्द-

रूप शुद्ध स्वरूप चैतन्य-अंश के अधिक होने से चित्-रूप बिन्दु पुंस्त्वविशिष्ट ईश्वर, सदाशिव आदि नामों से व्यवहृत होता है। यही बात प्रकारान्तर से तन्त्रों में मिलती है—

> नादात्मना प्रबुद्धा सा निरामयपदोन्मुखी।
> शिवोन्मुखी यदा शक्तिः पुंरूपा सा तदा स्मृता॥

इससे यह सूचित होता है कि एक ही अव्यक्त रूपा प्रकृति पदोन्मुखी और शिवोन्मुखी होकर नामात्मक और रूपात्मक जगत् की सृष्टि करती है। इसी को दूसरे शब्दों में कूर्मपुराण में भी इस प्रकार लिखा है—

> प्रधानं पुरुषञ्चैव प्रविश्य तु महेश्वरः।
> क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः॥
> प्रधानात् क्षोभ्यमाणाच्च तथा पुंसः पुरातनात्।
> प्रादुरासीन्महद् बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्॥

इसका अभिप्राय यह है कि महेश्वर (ब्रह्म) प्रधान और पुरुष में प्रविष्ट होकर परसंज्ञक योग से उसमें क्षोभ पैदा करता है। क्षोभ्यमाण प्रधान और पुरातन पुरुष से प्रधानपुरुषात्मक महद् बीज प्रादुर्भूत होता है। यहाँ प्रधान शब्द से नाम (वाङ्मय) सर्ग के उपादानभूत बिन्दु और पुरुष शब्द से रूपसर्ग के उपादान-भूत बिन्दु का ग्रहण समझना चाहिए। इसके बाद भगवदिच्छा और काल से जब प्रधान बिन्दु में क्षोभ होता है, तब उससे ज्ञान, इच्छा और क्रिया इन तीन शक्तियों से विशिष्ट बिन्दु, नाद और बीज का प्रादुर्भाव होता है। पुरुषबिन्दु से भी ब्रह्म-विष्णुमहेश्वरात्मक सृष्टिस्थितिप्रलयादि कार्यकर्तृ विशिष्ट पुरुषात्मक महद् बीज प्रादुर्भूत होता है। तन्त्र में लिखा है—

> गुणेभ्यः क्षोभ्यमाणेभ्यस्त्रयो देवा विजज्ञिरे।
> एकमूर्त्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥
> अन्योन्यमनुरक्तास्ते अन्योन्यमनुजीविनः।
> अन्योन्यप्रणताश्चैव लीलया परमेश्वराः॥
> त्रिधा कृत्वात्मनो देहं सोऽन्तर्यामीश्वरः स्थितः।

इसका आशय यह है कि जब अव्यक्तसंज्ञक प्रधान बिन्दु में क्षोभ (ईक्षण) पैदा होता है, तब उसमें तीन देवता उत्पन्न या प्रादुर्भूत होते हैं। वे तीनों देव एकमूर्त्ति हैं और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर नाम से प्रसिद्ध हैं। वे परस्पर

अनुरक्त परस्पर अनुजीवी हैं और वे लीला से परस्पर प्रणत (नम्र) भी रहते हैं। वह अन्तर्यामी ईश्वर अपनी देह को तीन भागों में विभक्त कर स्थित है।

सांख्यमत से साम्य

एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों की जो साम्यावस्था है, उसी का नाम प्रकृति है। वही प्रकृति (प्रधान) मूल कारण है, इसलिए 'गुणेभ्यः क्षोभ्यमाणेभ्यः' यह कहना भी इससे भिन्न कोई अर्थ नहीं रखता। इससे यही सिद्ध होता है कि शक्ति से सम्पृक्त जो शिवशक्तिमय परमात्मा हैं, वे शक्ति-अंश से शब्दमय जगत् के और शिव-अंश से अर्थमय जगत् के व्यापक होते हैं। इसी अभिप्राय से पुराणों में भगवती के शब्दात्मक होने से शब्द-रूप होने का वर्णन किया गया है। जैसे—

शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानम्
उद्गीथरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्।
देवी त्रयी भगवती भवभावनाय
वार्त्ताऽसि सर्वजगतां परमार्त्तिहन्त्रीम् ॥ (मा० पु०)

हे भगवति ! तुम्हीं संसार के उत्पादन के लिए शब्दात्मक रूप को धारण करती हो; ऋग्, यजुष् तथा रमणीय पदपाठवाले साम का भी निधान (आश्रय) हो, और प्रकाशमान त्रयी (वेद) मयी और समस्त संसार के कष्ट को नाश करनेवाली वार्त्ता भी तुम्हीं हो। इस स्तुति में भगवती के वाङ्मय-स्वरूप शरीर का स्पष्ट वर्णन किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि शक्तिप्रधान परमात्मा ही शब्दमय जगत् का मूलकारण (उपादान) है।

श्रोत्रग्राह्य शब्दों के उपादानप्रधान बिन्दु का विवेचन

पूर्वोक्त जो शक्तिमय प्रधान बिन्दु है, वही कालक्रम से शब्दब्रह्म को प्रकट करने के लिए भगवान् की इच्छा और काल को निमित्त बनाकर तीन भागों में विभक्त हो जाता है। विभाग के विना शब्द का उत्पन्न होना असम्भव है, इसलिए विभाग को भी मानना आवश्यक हो जाता है। इसी अवस्था में चित्-अचित्-विशिष्ट जो चिदानन्दमय शक्तिप्रधान शब्द-बिन्दु है, उसके त्रिधा भिन्न होने पर शब्दों की उत्पत्ति के कारणीभूत तीन शक्तियों का प्रादुर्भाव उसी शब्द-बिन्दु से होता है। इसका विशद विवेचन शैवागम-तन्त्रों में इस प्रकार है—

परशक्तिमयः साक्षात् त्रिधासौ भिद्यते पुनः।
बिन्दुर्नादो बीजमिति तस्य भेदाः समीरिताः ॥

बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः ।
समवायः स विज्ञेयः सर्वागमविशारदैः ॥
रौद्री बिन्दोस्ततो नादाज्ज्येष्ठा बीजादजायत ।
वामा ताभ्यः समुत्पन्ना रुद्रब्रह्मरमाधिपाः ॥
संज्ञानेच्छाक्रियात्मानो वह्नीन्द्वर्कस्वरूपिणः ।
भिद्यमानात् परा बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ॥
शब्दब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः ।
शब्दब्रह्मेति शब्दार्थं शब्दमित्यपरे जगुः ॥
न हि तेषां तयोः सिद्धिः जडत्वादुभयोरपि ।
चैतन्यं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति मे मतिः ॥ (शा० ति०)

इसके अतिरिक्त अन्य तन्त्रों में भी आता है—

कालेन भिद्यमानोऽपि स बिन्दुर्भवति त्रिधा ।
स्थूलसूक्ष्मपरत्वेन तस्य त्रैविध्यमिष्यते ॥
स बिन्दुर्नादबीजत्वभेदेनापि निगद्यते ।
बिन्दोस्तस्माद् भिद्यमानादव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ॥
स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते ।

इन्हीं तन्त्रशास्त्रों के रहस्यमय सिद्धान्तों से स्फोट-तत्त्व के विषय में कुछ विशेष प्रकाश मिलता है। इनका भावार्थ यह है—

नामसृष्टि (शब्दमय जगत् की सृष्टि) के उपादानभूत जो पूर्वोक्त प्रकृति बिन्दु है, वह कालक्रम से तीन प्रकार के रूप धारण करता है—१. चिदंश, २ अचिदंश और ३. चिदचिदंश। चिदंश ब्रह्म है, अचिदंश शक्ति है और चिदचिदंश दोनों का समवाय है। उपर्युक्त श्लोकों का भाव यह है कि शिवशक्तिमय पूर्वोक्त बिन्दु में स्फोट के आविर्भाव के लिए जब काल और भगवान् की इच्छा से क्षोभ उत्पन्न होता है, तब वह तीन रूप धारण करता है। उसमें शिवांश का नाम बिन्दु, शक्ति-अंश का नाम बीज और उन दोनों के परस्पर समवाय-रूप सम्बन्ध का नाम नाद है।

उसके बाद शब्द के कारणीभूत ज्ञान, इच्छा और क्रिया को उत्पन्न करने के लिए पूर्वोक्त तीन अंशों से क्रमशः तीन शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। बिन्दु से रौद्री शक्ति, नाद से ज्येष्ठा शक्ति और बीज से वामा शक्ति क्रमशः उत्पन्न होती हैं। इन्हीं तीन शक्तियों से क्रमशः ज्ञान, इच्छा और क्रिया की उत्पत्ति होती है। ज्ञान,

इच्छा और क्रिया ये तीनों चेतन के ही धर्म हैं। इसीलिए, पूर्वोक्त तीन शक्ति से क्रमशः ज्ञान, इच्छा और क्रिया के आश्रयीभूत रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु इन ती देवताओं का प्रादुर्भाव माना जाता है।

ये तीनों देव पुराणादिप्रसिद्ध रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु नहीं हैं; क्यों वे तो अर्थसृष्टि की ही उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कर्त्ता हैं, शब्दमय जग की सृष्टि के नहीं। पूर्वोक्त रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु शब्दसृष्टि के अन्तर्गत अग्नि चन्द्र और सूर्यरूप और ज्ञान, इच्छा तथा क्रियात्मक हैं। इन्हीं का निर्दे निरोधिका, अर्द्धेन्दु और बिन्दु नामों से आगमशास्त्रों में पाया जाता है। शक्ति के ही कल्पित अवस्था-विशेष के नाम हैं। ये तीनों देव शब्दसृष्टि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कर्ता हैं। तन्त्रशास्त्र में लिखा भी है—

बिन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम्।
तयोर्योगे भवेन्नादः तेभ्यो जातास्त्रिशक्तयः॥
रौद्री बिन्दोः समुद्भूता ज्येष्ठा नादादजायत।
वामा बीजादभूच्छक्तिस्ताभ्यो देवास्त्रयोऽभवन्॥ (शा० ति

भावार्थ यह है कि शिवात्मक बिन्दु है, शक्त्यात्मक बीज और उन दो के योग से नाद उत्पन्न होता है, और इन तीनों से क्रमशः तीन शक्तियाँ उत्प होती हैं—जैसे, बिन्दु से रौद्री, नाद से ज्येष्ठा और बीज से वामा शक्ति उत्पत्ति होती है। इन तीन शक्तियों से क्रमशः पूर्वोक्त तीन देवताओं की उत्पत्ति होती है। इससे यह भी समझना चाहिए कि क्रियात्मक जो अचित् अंश है, व स्थूलरूप बीज है और वैखरी शब्द का कारण है। चित्-अचित्-मिश्र ज सूक्ष्मरूप नाद है, वह पुरुषरूप इच्छात्मक है और मध्यमा नाद का कार होता है। चित्-अंश जो सूक्ष्मतर बिन्दु है, वह ज्ञानात्मक परब्रह्मरूप है; व परा और पश्यन्ती का कारण है। इसमें भी ज्ञान के दो प्रकार होने सविकल्पक ज्ञानात्मक बिन्दु पश्यन्ती का कारण है और निर्विकल्पक ज्ञानात्म बिन्दु परा का।

पूर्वोक्त 'भिद्यमानात् पराद् बिन्दोः' में 'पराद् बिन्दोः' कहने से शक्ति अवस्थाविशेष-रूप प्रथम बिन्दु का ही ग्रहण होता है। उसी से अव्यक्तात्मा, अर्था वर्णादिविशेष-रहित अखण्ड नादमात्र की उत्पत्ति होती है, उसी का स्वरूप कह जाता है 'सर्वागमविशारदाः' इत्यादि से। इसका तात्पर्य है कि सब श्रुतिय के अर्थ समझनेवाले। इसी को आचार्यों ने दूसरे शब्दों में कहा है—'तदेव श्रुति समन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते।' इसका तात्पर्य है कि श्रुति के तात्पर्यार्थ समझनेवा उसी अखण्ड नादमात्र को शब्दब्रह्म कहते हैं। दूसरे शब्दों में, सृष्टि के उन्मु

जो परब्रह्म है, उससे जो चिन्मय श्रोत्रोपलब्धि-रूप व्यापक अखण्ड स्वरूप आविर्भूत होता है, वही शब्दात्मक ब्रह्म या शब्दब्रह्म कहा जाता है। यही तात्पर्य है। इसी बात को आचार्यों ने तन्त्रशास्त्र में कहा है—

क्रियाशक्तिप्रधानायाः शब्दशब्दार्थकारणम्।
प्रकृतेर्बिन्दुरूपिण्याः शब्दब्रह्माऽभवत्परम्॥ (शा० ति०)

इसका तात्पर्य यह है कि क्रियाशक्ति जिसमें प्रधान है, इस प्रकार की जो बिन्दुरूपिणी प्रकृति है, वही शब्द शब्दार्थ, अर्थात् वाङ्मय (शब्दमय) सृष्टि का कारण है। इसके बाद शब्दार्थ नामक आन्तर स्फोटवादी के मत को और अखण्डजातिव्यक्तिस्फोटवादी के मत को दूषित करने के लिए कहते हैं—'शब्द-ब्रह्मेति।'

एक आचार्य का मत है कि शब्दार्थ नाम का जो आन्तर स्फोट है, वही शब्दब्रह्म है। उसका कहना है कि निरंश (अंशरहित), अभिन्न (अद्वितीय) और नित्य शब्दार्थमय बोध का जो भाव है, वही आन्तर स्फोट है और वही शब्दब्रह्म। दूसरे वैयाकरण का मत है कि पूर्वपूर्व वर्णों के उच्चारण से अभिव्यक्त और तत्-तत् पदों के उच्चारण से उत्पन्न संस्कार की सहायता से अन्तिम पद के ज्ञान से उद्बुद्ध जो वाक्य-स्फोटलक्षण शब्द है, वही अखण्ड एक अर्थ का प्रकाशक होने के कारण शब्दब्रह्म है, और वही स्फोट है। इसी को दूसरे शब्दों में वैयाकरणों ने कहा है कि 'एक एव नित्यो वाक्याभिव्यङ्ग्योऽखण्डो व्यक्ति-स्फोटो जातिस्फोटो वेति।' अर्थात्, एक ही नित्य और वाक्य से अभिव्यक्त होनेवाला अखण्ड व्यक्तिस्फोट या अखण्ड जातिस्फोट है। 'बहिः रूपः' का तात्पर्य है, जिसका रूप बाहर हो।

मुख्य स्फोट का व्यवस्थापन

उपर्युक्त दोनों के मतों में दोष दिखाते हुए और आन्तर स्फोट या जाति-व्यक्तिस्फोट के मत का निराकरण करते हुए आचार्य अपना मत कहते हैं—'नहि तेषां तयोः सिद्धिर्जडत्वादुपपद्यते इति' अर्थात् उन वादियों के मत में शब्द और अर्थ के आन्तर स्फोट को जो शब्दब्रह्म मानते हैं, या अखण्ड व्यक्ति-स्फोट या अखण्ड जातिस्फोट को ही शब्दब्रह्म मानते हैं, उनकी सिद्धि नहीं होती। कारण यह है कि ब्रह्म पदार्थ चैतन्य-स्वरूप है और वे दोनों (आन्तर स्फोट या अखण्ड व्यक्ति अथवा जातिस्फोट) जड, अर्थात् अचेतन हैं, चेतन नहीं।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि आन्तर स्फोट-रूप शब्दार्थ अथवा ध्वनि-रूप शब्द को ही यदि शब्दब्रह्म मान लें तो उनका ब्रह्म-पद का वाच्य होना युक्त

नहीं होता; क्योंकि वे दोनों ही जड, अर्थात् अचेतन हैं और ब्रह्म पदार्थ चित् और आनन्दस्वरूप है। इसलिए, उन दोनों के अतिरिक्त चैतन्य ब्रह्म ही शब्दब्रह्म शब्द का वाच्य हो सकता है, दूसरा नहीं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

> अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
> विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

आदि और अन्तरहित जो अक्षर (अविनाशी) शब्दतत्त्व है, वही ब्रह्म है। वही अर्थरूप से भासित होता है और उसी से जगत् की प्रक्रिया (सृष्टि) है। यही इसका अभिप्राय है। इसका हृदय पञ्चदशी के वक्ष्यमाण श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है—

> चिदानन्दमयब्रह्मप्रतिबिम्बसमन्विता।
> तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा॥
> सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
> मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः॥
> अविद्यावशगस्त्वन्यः तद्वैचित्र्यादनेकधा। इत्यादि। (पं० द०)

अर्थात्, चिदानन्दमय ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से समन्वित तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुणमयी प्रकृति दो प्रकार की है : शुद्धसत्त्वप्रधान माया और अविशुद्ध (मलिन)-सत्त्वप्रधान अविद्या।

माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म माया को अपने वश में करके ईश्वर-पद का वाच्य होता है और अविद्या में प्रतिबिम्बित अविद्या के वश होकर जीव-शब्द का वाच्य। इस पञ्चदशी के सिद्धान्त से प्रकृति के दो प्रकार बताये गये हैं। इसमें रहस्य यह है कि रूपसृष्टि के प्रतिपादन में प्रवृत्त ग्रन्थकार और टीकाकार दोनों ने ही केवल रूपसृष्टि की उपादानभूत माया और अविद्या-रूप प्रकृति का ही सम्यक् विवेचन किया है, और नामसृष्टि की उपादानभूत प्रकृति का तो केवल निर्देशमात्र। प्रकृति में उपयोगी न होने से उसका विवेचन नहीं किया है। वस्तुतः, इसका भाव यह है कि 'प्रकृति द्विविधा च सा'। सा=वह प्रकृति दो प्रकार की है कि पहली शब्द की उपादानभूता, दूसरी अर्थ की उपादानभूता। 'द्विविधा' का यही अर्थ युक्त और सङ्गत होता है। यदि 'द्विविधा च' का अर्थ—अर्थसृष्टि की उपादानभूत माया और अविद्या-रूप प्रकृति को ही मानें, तब तो 'द्विविधा च सा' में 'च' शब्द व्यर्थ हो जाता है। इसी अभिप्राय से टीकाकार ने स्पष्ट कहा है कि चकाराद् वक्ष्यमाणं प्रकारान्तरं सूचयति,

अर्थात्, चकार से वक्ष्यमाण प्रकारान्तर की सूचना होती है। यहाँ रहस्य यह है कि तमोगुणप्रधान प्रकृति ही स्थावर-जङ्गमात्मक रूप (अर्थ) सृष्टि का उपादान होती है, और सत्त्वप्रधान प्रकृति शब्दसृष्टि (वाङ्मय जगत्) का उपादान होती है, यही विशेषता है। ये दोनों प्रकार की प्रकृति (जो शब्दसृष्टि और अर्थसृष्टि की उपादानभूता कही गई है) सत्त्व की शुद्धि और अविशुद्धि के भेद से माया और अविद्या शब्दवाच्य होती है।

यहाँ रूप-जगत् के कारणीभूत जो विशुद्धसत्त्वप्रधान प्रकृति है, जिसका दूसरा नाम माया भी है, उसमें प्रतिबिम्बित जो चिदात्मा है, वह उस माया को अपने अधीन कर सर्वकर्त्तृत्व आदि गुणों से युक्त होकर ईश्वर आदि शब्दों का वाच्य होता है, जिसका दूसरा नाम कुण्डलिनी है, उसमें प्रतिबिम्बित जो स्व-स्वरूप चिदात्मा श्रोत्रोपलब्धि-स्वरूप है, वही स्फोट है, जिसको शब्दब्रह्म भी कहते हैं।

परिणाम के भेद से अन्तःकरण के भी दो भेद होते हैं—मन और बुद्धि। इसमें ईश्वरभूत जो चैतन्य है, वह शुद्ध मन से ही गृहीत होता है, और स्व-स्वरूप जो चैतन्य है, वह अन्तःकरण के परिणामभूत बुद्धि से गृहीत होता है। एक बात और है कि 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'—इस सिद्धान्त से जिस प्रकार व्यापक ईश्वर भी हृदय-देश में अभिव्यक्त होता है, उसी प्रकार शब्द-ब्रह्मभूत जो स्फोट-रूप चैतन्य है, वह प्राणियों के मूलाधार में अभिव्यक्त होता है, इसमें सन्देह नहीं। इसमें विशेषता यही है कि ईश्वर-रूप जो चैतन्य है, वह शुद्ध मन से ग्राह्य होने पर भी अतीन्द्रिय है, केवल योगियों के ही प्रत्यक्ष का विषय होता है, और स्व-स्वरूप स्फोट-रूप जो चैतन्य है, वह अतीन्द्रिय नहीं है; क्योंकि वह सर्वदा श्रोत्र से उपलब्ध होता है।

अविद्या-रूप जो दो प्रकार की प्रकृति है, उसमें प्रतिबिम्बित जो चैतन्य (आत्मा) है, वही जीव-पद का वाच्य होता है। इसमें भी अर्थसृष्टि की उपादान-भूत प्रकृति-रूप अविद्या का आश्रयण कर वर्त्तमान चैतन्य प्राज्ञ कहा जाता है, और अविद्या उसका कारणशरीर है। और, शब्दसृष्टि की उपादानभूत प्रकृति-रूप जो अविद्या है, उसके आश्रयण से वर्त्तमान चैतन्य तत्-तत् नामों से व्यवहृत होता है, और वह नामरूप कहा जाता है। इसमें विशेषता यह है कि तमःप्रधान जो अविद्या है, उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य अविद्या-रूप कारण-शरीर के आश्रयण से वर्त्तमान होकर प्राज्ञ नाम का जीव कहा जाता है, और सत्त्वप्रधान अविद्या के आश्रयण से वर्त्तमान जो शब्दरूप चैतन्य है, वह नामा-भिमानी जीव होता है।

(न्यूनाधिक) होने के कारण देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के भेद से विविध प्रकार का होता है। और, सत्त्वप्रधान अविद्या की परिणामभूत बुद्धि का आश्रयण कर वर्त्तमान जो नामाभिमानी जीव है, वह भी तत्-तत् नामों से व्यवह्रियमाण होकर अनेक प्रकार का होता है। यहाँ एक और भी विशेष ज्ञातव्य है कि प्राज्ञ नाम का जो जीव है, वह कर्मफल के भोग के लिए—

> बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया।
> शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते॥

—इत्यादि रीति से सूक्ष्म या स्थूल शरीर धारण कर क्रम से तैजस और विश्वसंज्ञक होकर कर्मफल का उपभोग करता है; परन्तु शब्दाभिमानी जो जीव है, वह विशुद्ध सत्त्वप्रधान अविद्या के आश्रयण से वर्त्तमान है, इसलिए कर्मफल के उपभोग का अभाव होने से पाञ्चभौतिक शरीर का ग्रहण नहीं करता। किन्तु, माया का आश्रयण कर वर्त्तमान सर्वज्ञ जिस प्रकार तत्-तत् शरीरों में ईश्वर हिरण्यगर्भ और वैश्वानर नामों से प्रसिद्ध होकर सम्राट् के समान धर्माधर्म के फल देने के लिए विराट् रूप से रहता है, उसी प्रकार अविद्या का आश्रयण कर वर्त्तमान शब्दरूप नामाभिमानी चैतन्य ईश्वर के समान ही शरीराभिमानी जीवों के उपकार के लिए प्रकाश-स्वरूप जीवों के साथ सर्वत्र रहता ही है। यह कर्म के उपभोग के लिए भौतिक शरीर ग्रहण नहीं करता। इसमें कारण यह है कि इसकी उपाधिभूता जो अविद्या है, वह रजोगुण और तमोगुण से कलुषीकृत नहीं है।

इससे यह सिद्ध होता है कि भौतिक सृष्टि की उपादानभूत जो तमोगुण प्रधान प्रकृति है, उसके दो भेद हैं: पहला, शुद्धसत्त्वप्रधान और दूसरा, मलिनसत्त्वप्रधान। शुद्धसत्त्वप्रधान प्रकृति माया कही जाती है और यही ईश्वर की उपाधि है। मलिनसत्त्वप्रधान प्रकृति अविद्या है, यह जीव की उपाधिभूत है, और यह विचित्र होने कारण अनेक प्रकार की है। इसमें भी विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता होने से माया, जो ईश्वर की उपाधिभूत है, एक ही प्रकार की है और एक ही इसका नाम है—माया। इसी प्रकार, वाङ्मय-जगत् की उपाधिभूत जो प्रकृति है, उसके दो प्रकार के होने पर भी शब्दब्रह्म की उपाधिभूत जो शक्ति है, वह सदा विशुद्धसत्त्व-प्रधान होने से एक ही प्रकार की है। इसीलिए, उस शक्ति का भी एक ही नाम है—कुण्डलिनी। यही श्रुति-स्मृति के गूढ अर्थ को समझनेवाले शास्त्र-निष्णात विद्वानों की मान्यता है। आगमशास्त्रों में भी इस प्रकार वर्णन किया गया है—

तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम् ।
वर्णात्मनाऽऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ॥
ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वगा विश्वरूपिणी ।
शिवसन्निधिमासाद्य नित्यानन्दगुणोदया ॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना सर्वदेहानुगा शुभा ।
पराऽपरविभागेन परशक्तिरियं स्मृता ॥
योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसा ।
आधारे सर्वभूतानां स्फुरन्ती विद्युदाकृतिः ॥
शङ्खावर्त्तक्रमाद्देवी सर्वमावृत्य तिष्ठति ।
कुण्डलीभूतसर्पाणामङ्गश्रियमुपेयुषी ॥
सर्वदेवमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा ।
सर्वमन्त्रमयी साक्षात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः ॥
त्रिधामजननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी ।
द्विचत्वारिंशद्वर्णात्मा पञ्चाशद् वर्णरूपिणी ॥
गुणिता सर्वगात्रेषु कुण्डली परदेवता ।
विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमयञ्जगत् ॥
द्विचत्वारिंशता भूयः गुणिता विश्वनायिका ।
सा प्रसूते कुण्डलिनी शब्दब्रह्ममयी विभुः ॥
शक्तिं ततो ध्वनिस्तस्मान्नादस्तस्मान्निरोधिका ।
ततोऽर्द्धेन्दुस्ततो बिन्दुः तस्मादासीत्परा ततः ॥
पश्यन्ती मध्यमा वाचि वैखरीशब्दजन्मभूः ।
संज्ञानेच्छाक्रियात्मासौ तेजोरूपा गुणात्मिका ॥
क्रमेणानेन सृजति कुण्डली वर्णमालिकाम् ।
अकारादिक्षकारान्तं द्विचत्वारिंशदात्मिकाम् ॥
पञ्चाशद्वारगुणितां पञ्चाशद्वर्णमालिकाम् ।
सूते तद्वर्णतोऽभिन्नाः कलारुद्रादिकान् क्रमात् ॥

निरोधिका भवेद् वह्निरर्द्धेन्दुः स्यान्निशाकरः ।
अर्कः स्यादुभयोर्योगे बिन्द्वात्मा तेजसां निधिः ॥
जाता वर्णा यतो बिन्दोः शिवशक्तिमयात् पुनः ।
अग्निसोमात्मकास्ते स्युः शिवशक्तिमयाद् रवेः ॥
येन सम्भवमापन्नाः सोमसूर्याग्निरूपिणः । (यो० कुं०३०)

इन कारिकाओं का भावार्थ यह है—चैतन्य ही शब्दब्रह्म है। उस चैतन्य का स्वरूप है 'कुण्डलीरूपम्'। नाम, अर्थात् वाङ्मय-सृष्टि का उपादानभूत सत्त्वप्रधान प्रकृति-रूप शक्तितत्त्व (जो शब्द-पद का वाच्य है) है, उसमें प्रतिबिंबित होने के कारण, अभेद का अध्यवसाय (ज्ञान) होने से कुण्डली-स्वरूप है, यह इसका तात्पर्य है। इसका अधिष्ठान क्या है, इस जिज्ञासा का उत्तर है—'प्राणिनां देहमध्यगः'। प्राणियों का देहमध्य, अर्थात् मूलाधार इसका स्थान है। जिस प्रकार माया-प्रतिबिम्बित ईश्वर के व्यापक होने पर भी उसका एक स्थान हृदय माना गया है—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति', उसी प्रकार कुण्डली में प्रतिबिम्बित शब्दब्रह्मस्फोट का भी प्राणियों के मध्यभाग में स्थित जो मूलाधार है, वही स्थान कल्पित किया गया है। इसका स्पष्ट विवेचन आगे किया जायगा। कुण्डलिनी-स्वरूप जो तत् = वह चैतन्य है, वही गद्य-पद्य आदि भेद से वर्णों के रूप में आविर्भूत होता है। इससे यह स्पष्ट है कि समस्त वाङ्मय जगत् की सृष्टि चैतन्यविशिष्ट कुण्डलिनी से ही होती है। सर्वव्यापक शब्द-चैतन्य के शरीर से वर्णात्मक परिणाम दिखाने के लिए आगे कहते हैं—'ततश्चैतन्य-रूपा सा' इत्यादि। 'ततः' = शरीरोत्पत्ति के बाद, चैतन्यरूपा, अतएव शब्दमयी 'सा' = वह परदेवता कुण्डलिनी, 'सर्वगात्रेण गुणिता' = समस्त शरीरस्थ वायु से स्फुरित होकर 'विश्वात्मना प्रबुद्धा' सृष्टि के उन्मुख प्रवृत्त होकर 'मन्त्रमयं जगत् सूते' = मन्त्रमय जगत् को उत्पन्न करती है। (अष्टम श्लोक के अन्त्य पाद के साथ इसका अन्वय होता है)।

यहाँ मूलाधार में कुण्डलीभूत सर्प के समान एक नाडी है, वही कुण्डलिनी शक्ति है। इसमें शरीरस्थ वायु का जब आघात होता है, तभी उसमें स्फुरण पैदा होता है, यही इसका गुणन है। 'सा' = प्रसिद्ध कुण्डलिनी (सर्वगा), इससे सामान्य व्याप्ति दिखाई गई है, और 'विश्वरूपिणी' शब्द से विषयव्याप्ति को दिखाया है। 'शिवसन्निधिमासाद्य' में स्थिता पद का अध्याहार किया जाता है। इससे यह सूचित होता है कि वह कुण्डलिनी शिव की सन्निधि प्राप्त कर स्थित है। इससे यह भी सूचित होता है कि उक्त कुण्डलिनी का ही आगम-

शास्त्र में शक्ति शब्द से बोध होता है। इसीलिए, सन्निधि शब्द भी यहाँ लाक्षणिक माना जाता है। कारण यह है कि उनके मत में शक्ति और शक्तिमान् (शिव) में अभेद माना जाता है, अर्थात् शिव-शक्ति एक ही स्वरूप हैं, इनमें भेद नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी स्पष्ट लिखा है—

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न गच्छति।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव॥

अर्थात्, शक्ति और शक्तिमान् (शिव) में कुछ भेद नहीं है। इन दोनों में उसी प्रकार तादात्म्य है, जिस प्रकार अग्नि और दाहकत्व शक्ति में। इससे यह सूचित होता है कि प्रकृत 'सन्निधिमासाद्य' में सन्निधि शब्द का स्वरूप ही अर्थ होता है। शिवस्वरूप को प्राप्त कर, यही अर्थ इसका युक्त प्रतीत होता है। शास्त्रों में भी उल्लेख है—'शक्तिर्भवेत् कुण्डलिनी शिवात्मा' = शिवस्वरूपा कुण्डलिनी शक्ति जगत् का उपादानभूत पिण्ड है।

'नित्यानन्दगुणोदया' का अर्थ है, गुणानां = सत्त्वादीनाम् उदयो यस्यां सा गुणोदया, अर्थात् सत्त्वादि गुणों का जिसमें उदय होता हो, वह गुणोदया है। नित्यानन्दा चासौ गुणोदया = नित्यानन्दगुणोदया, इस प्रकार कर्मधारय समास करने से दोनों शक्ति के विशेषण प्रतीत होते हैं। यहाँ नित्यानन्द शब्द से कुण्डलिनी का स्वरूप दिखलाया गया है। और, गुणोदया कहने से सांख्यमत में त्रिगुणात्मिका जो मूल प्रकृति है, उसका अर्थ यही कुण्डलिनी शक्ति है, यह अर्थ सूचित होता है। आचार्यों ने भी कहा है—'प्रधानमिति यामाहुः सा शक्तिरिति कथ्यते', अर्थात् जिसको प्रधान कहते हैं, वही शक्ति है। यह ब्रह्म की शक्ति होने से दिक्, काल आदि से अनवच्छिन्न (अर्थात् असम्पृक्त) है, अर्थात् स्वयं सिद्ध है। 'सर्वदेहानुगा' इस विशेषण से देहव्याप्ति सूचित होती है। शास्त्रान्तर में दो प्रकार की शक्ति सुनी जाती है—एक परा, दूसरी अपरा। यही कुण्डलिनी शक्ति परा शक्ति है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार यह मेरी आठ प्रकार की प्रकृति भिन्न ही है, यह अपरा प्रकृति या अपर शक्ति नाम से विख्यात है। इससे भिन्न जो मेरी प्रकृति है, वह परा प्रकृति या परा शक्ति है,

यही चराचर जगत् का जीव (प्राण या आत्म) भूत है और वही जगत् का आधार है।

उपर्युक्त अपरा शक्ति तमोगुणप्रधान होने के कारण जङ्गमाजङ्गम अर्थसृष्टि (रूपसृष्टि) का उपादान है, और सत्त्वप्रधान परा शक्ति वाङ्मय जगत् का उपादानकारण है, यही इसका रहस्य है।

परापरविभागेन परशक्तिरियं स्मृता—यहाँतक कारिकाओं का अर्थ स्फुट हो गया, इसके बाद 'योगिनां हृदयाम्भोजे' इत्यादि के अर्थ का विश्लेषण किया जाता है—

'अञ्जसा' = तत्त्वतः (यथार्थ में) योगियों के हृदय-कमल में नित्य नृत्य करती हुई (यह परा शक्ति का विशेषण है), यह कहने से सूचित होता है कि सद्गुरु के उपदेश से योगी जन ही इसका साक्षात्कार कर सकते हैं। 'आधारे' इत्यादि का अर्थ है—जिस प्रकार ईश्वर का स्थान हृदय है, उसी प्रकार इस परा शक्ति का भी स्थान मूलाधार है। यह स्थान का निर्देश हुआ। 'विद्युदाकृति' विशेषण से इसका ध्यान बताया गया है, जिस प्रकार ईश्वर का ध्यान 'हृदये दीपवत् प्रभुः' इत्यादि से बताया गया है। 'शङ्खावर्त्तक्रमात्' = शंख के मध्य में जो आवर्त्त है, वह जिस प्रकार समस्त शंख को आवृत कर स्थित है, उसी प्रकार यह पराशक्ति भी समस्त जगत् को आवृत कर व्यापक रूप में स्थित है। 'कुण्डलिनी-भूतसर्पाणाम्' इत्यादि का अर्थ है—कुण्डलीभूत सर्पों के अङ्ग की शोभा को धारण करनेवाली। आधारचक्र में कुण्डलीभूत सर्प के समान एक नाडी है, उसी स्थान में रहने के कारण यह कुण्डली या कुण्डलिनी कही जाती है।

'सर्वदेवमयी' से देवव्याप्ति दिखाई गई है। 'दीव्यति इति देवी', इस व्युत्पत्ति से देवी का अर्थ प्रकाशमय तेजोरूप होता है। इससे तेजोव्याप्ति प्रतीत होती है। 'सर्वमन्त्रमयी' से मन्त्रव्याप्ति और 'साक्षात् तत्त्वमयी' से तत्त्वव्याप्ति दिखाई गई प्रतीत होती है। 'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः'—सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, अर्थात् दुर्ज्ञान (ज्ञान के अविषय) अथवा परमाणु से भी सूक्ष्म। इससे परमाणु की व्याप्ति दिखाई है। 'विभुः' = जिसकी इयत्ता का ज्ञान नहीं हो सकता। 'त्रिधाम' इत्यादि से स्थानव्याप्ति बताई गई है और 'सर्वमन्त्रमयी' से मन्त्रव्याप्ति। इसका तात्पर्य है—'अ इ उण्' इत्यादि ४२ अक्षरों का वर्णसमाम्नाय-रूप मन्त्र है तन्मयी अथवा अकार से क्षकार-पर्यन्त ५० वर्णों की मातृका प्रसिद्ध है—तन्मयी। इस प्रकार की जो परा शक्ति भगवती कुण्डलिनी-ब्रह्मशक्ति है, वह 'सूते मन्त्रमयञ्जगत्', उक्त मन्त्रमय (वाङ्मय) जगत् को 'सूते' = उत्पन्न करती है। इस प्रकार, वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दृश्यमान रूपात्मक जगत् के

अतिरिक्त ही मन्त्रमय या वाङ्मय-जगत् की सत्ता है। 'द्विचत्वारिंशता' इत्यादि—'मूले' मूलाधार में ४२ वर्णसामाम्नाय-रूप मन्त्रों से गुणन करने पर वह विश्वनायिका परा कुण्डलिनी शक्ति अकारादिक्षकारान्त ४२ वर्णमालिका को इस क्रम से सृष्टि करती है—'क्रमेणानेन सृजति' यहाँ इसका अन्वय है। उसी क्रम को आगे दिखाने के लिए कहते हैं—'द्विचत्वारिंशता भूयः' इत्यादि से। पहले नामरूपात्मक उभय प्रकार की सृष्टि का क्रम सामान्यतः दिखाया गया है। इसके बाद केवल नाम-सृष्टि (शब्दसृष्टि) का ही क्रम आगे दिखाया जाता है। यही क्रम सब शब्दों के आविर्भाव में रहता है।

सत्त्वप्रविष्ट परमाकाशावस्था में जो चित्शक्ति है, वह शब्द-पद का वाच्य अर्थ होता है। वही सत्त्वप्रविष्ट चित् शक्ति जब रजोगुण से अनुविद्ध होती है, तब नाद शब्द का वाच्य होकर अव्यक्तावस्था में रहती है। वही जब तमोगुण का प्राचुर्य होता है, तब निरोधिका शब्द का और जब सत्त्वगुण का प्राचुर्य होता है, तब अर्द्धेन्दु शब्द का वाच्य होती है। जब सत्त्व और तम दोनों का संयोग होता है, तब बिन्दु शब्द का वाच्य होती है। यही समस्त शब्दों की जननी है, और यही व्यक्तावस्था है।

यही बात प्रकारान्तर से तन्त्रों में इस प्रकार है—

> इच्छाशक्तिबलोत्कृष्टो ज्ञानशक्तिप्रदीपकः।
> पुंरूपिणी च सा शक्तिः क्रियाख्यां सृजति प्रभुः॥

पुंरूपिणी, अर्थात् बिन्दु-शब्दवाच्य यही पूर्वोक्त शक्ति ज्ञानशक्ति-विशिष्ट विवक्षायुक्त होकर अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा समस्त शब्दात्मक जगत् का आविर्भाव करती है। यही बिन्दु जब तत् तत् स्थान पर अभिव्यक्त होता है, तब परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नाम से विख्यात होता है। यहाँ शब्दों के संज्ञान, इच्छा और क्रियात्मकता का निर्देश किया है, परा पश्यन्ती तो ज्ञानात्मिका है। ज्ञान के निर्विकल्पक और सविकल्पक दो भेद होने से ज्ञानात्मिका वाक् का दो प्रकार होना स्वाभाविक है। मध्यमा इच्छात्मिका और वैखरी क्रियात्मिका है।

इस सन्दर्भ से सिद्ध होता है कि—समस्त वाक् (शब्द) कुण्डलिनी-स्वरूप ही है। इसी प्रकार वर्णात्मक शब्दों की सृष्टि के अनन्तर उन्हीं वर्णों से उनसे अभिन्न निरोधिका, अर्द्धेन्दु और बिन्दु-रूप तीन कलाओं और उनके अधिष्ठाता (अभिमानी) रुद्र, ब्रह्म और विष्णु रूप तीन देवताओं का आविर्भाव होता है।

वर्णों के अग्नीषोमात्मकत्व और सोमसूर्यात्मकत्व का व्यवस्थापन

'निरोधिका भवेत्' इत्यादि से उपर्युक्त तत्त्व की व्यवस्था की गई है। निरोधिका के अग्निस्वरूप होने से शिवरूप, अर्द्धेन्दु के सोमरूप होने से शक्तिरूप और बिन्दु के उभयरूप होने से अर्क (विष्णु) रूप होना सिद्ध होता है। इस स्थिति में जिन कारणों से शिवशक्तिमय रवि से समस्त वर्णों की उत्पत्ति सिद्ध होती है, उन्हीं कारणों से वर्णों का सोम, सूर्य और अग्निस्वरूप होना भी सिद्ध होता है। यही इसका निष्कर्ष है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि दृश्यमान चराचरात्मक जगत् से विलक्षण ही वाङ्मय जगत् की सत्ता है। एक बात और है कि 'इदं तर्हि अव्याकृतमासीत् ततो नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत असौ नामायमिदं रूप इति'—इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है कि रूपसृष्टि से नाम (शब्द) सृष्टि अतिरिक्त ही है। इसका रहस्य है—

'असौ नामायमिदं रूपः' इस श्रुति से नाम और रूप में कुछ विशेषता प्रतीत होती है। कारण यह है कि एक में अदस् शब्द का और दूसरे में इदम् शब्द का प्रयोग है। उसमें भी एक जगह 'इदंरूपः में 'इदं रूपं' यस्य' यह बहुव्रीहि समास है, दूसरे में केवल 'असौ नाम' यह असमस्त ही पद है। नाम और रूप दोनों के एक होने पर 'अयमिदं नाम' ऐसा ही पाठ युक्त होता। इससे यह अनुमान किया जाता है कि जिस प्रकार 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' इत्यादि श्रुति में परोक्ष के लिए अदस् शब्द और प्रत्यक्ष के लिए इदम् शब्द का प्रयोग किया गया है, उसी प्रकार समस्त श्रुतिवाक्यों में परोक्ष के लिए अदस् शब्द और प्रत्यक्ष के लिए इदम् शब्द का प्रयोग ही युक्त प्रतीत होता है। इसीलिए, यहाँ भी उपर्युक्त श्रुति से नाम परोक्ष और रूप प्रत्यक्ष है, यही निश्चित किया जाता है। एक बात और है—'इदंरूपः' में 'इदं रूपं यस्य' = यह है रूप जिसका, इस प्रकार बहुव्रीहि करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जिसका यह रूप है, उसका अभिमानी उसके अतिरिक्त कोई अवश्य है। और, नाम के व्याकरण में 'असौ नाम' यह देखने से यह नामस्वरूप है, ऐसी प्रतीति होती है। उसमें भी 'असौ' इस विशेषण से वह परोक्ष ही है, यह भी प्रतीत होता है। इससे यह निश्चित किया जाता है कि सृष्टि के पहले नामरूप के स्पष्टीकरण न होने से अव्याकृत शब्द का वाच्य जो मायोपाधिक ब्रह्म है, उसी से 'नामरूपे व्याकरवाणि' इस प्रकार की इच्छा से नामरूप के स्पष्टीकरण-लक्षण जो सृष्टि है, उसकी उत्पत्ति हुई है। अर्थात्, ब्रह्म ही नाम (वाङ्मय) जगत् के उपादानभूत नामात्मक और रूप-जगत् के उपादानभूत रूपात्मक स्वरूप को ग्रहण करता है। श्रुति भी कहती है—'द्वे एव ब्रह्मणो रूपे नाम रूपञ्च.' अर्थात् ब्रह्म के दो ही रूप हैं—नाम और रूप।

इसीलिए, इस समय भी स्थूल कार्यों में नाम और रूप की ही स्पष्टता उपलब्ध होती है। श्रुति भी यही बात कहती है—'तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते असौ नामायमिदं रूप इति'। इस स्थिति में—जब उपादानभूत ब्रह्म ने ही नामात्मक एवं रूपात्मक इन दो रूपों को धारण किया है, तब उसका कार्यभूत जीवात्मा के भी एक प्रत्यक्ष, अर्थात् रूपात्मक और दूसरा परोक्ष, अर्थात् नामात्मक ये दो रूप स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। इनमें वह ब्रह्म भौतिक शरीर (रूप) से भूतादि कार्य करता है और रूप-रहित नामात्मक शरीर से अरूप-शब्दसाध्य कार्य करता है।

आत्मा तथा परमात्मा के तीन स्वरूप

अथमात्मा वाङ्मयः मनोमयः प्राणमयश्च—यह श्रुतिवाक्य चिन्मय आत्मा के तीन स्वरूप बताता है। प्राणमय रूप स्थूल, मनोमय सूक्ष्म और, वाङ्मय सूक्ष्मतर है। प्राणमय स्थूल शरीर की रक्षा करता है, मनोमय सूक्ष्म शरीर की और वाङ्मय कारणशरीर की रक्षा करता है। यही स्वरूप सर्वदा निश्चयात्मक बुद्धि से संयुक्त रहता है, अर्थात् उसी स्वरूप से कुछ निश्चित कर प्रकाशित करता है और दूसरे के प्रकाशित को निश्चित करता है। एक बात और है कि प्राणमय रूप अचिरविनाशी, मनोमय, प्रलय-पर्यन्त स्थायी और वाङ्मय-स्वरूप तो महाप्रलय-पर्यन्त स्थायी है। केवल आत्मा के ही तीन शरीर नहीं होते, परमात्मा के भी तीन शरीर होते हैं। परमात्मा का जो प्राणमय शरीर है, वह महाप्रलय-पर्यन्त रहता है, मनोमय स्वरूप प्रलय-पर्यन्त और ब्रह्म का जो वाङ्मय-स्वरूप है, वही नित्य, अविनाशी है।

इससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म का अंशभूत जो आत्मा है, उसके मनोमय रूप का ही नाम जीव है। जो वाङ्मय-स्वरूप है, वही स्फोट शब्द से बोधित होता है। यही उक्त जीवात्मा का जो वाङ्मय स्वरूप है, जो स्फोट शब्द का वाच्य है, वही लौकिक शब्दों के रूप में परिणत या भासित होता है। इसी प्रकार, परमात्मा का जो वाङ्मय स्वरूप है। वही वैदिक शब्दों के रूप में परिणत होता है, और वही वेद शब्द का वाच्य है। इसी कारण वेदों के परिवर्त्तन में मनुष्यों का अधिकार नहीं है। यही वाङ्मय ब्रह्म का शरीर स्फोट शब्द का वाच्य होता है। यही वाङ्मय स्वरूप मूलाधार आदि तत्-तत् स्थानों में अभिव्यक्त होकर परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामों से व्यवहृत होता है। वास्तव में, स्फोटात्मा तो एक ही प्रकार का है, केवल उपाधि के भेद से भिन्न-सा प्रतीत होता है। उक्त रीति से शब्दब्रह्मात्मक जो रव है, वही सच्चिदानन्द-स्वरूप है,

और समस्त शब्दमय जगत् का उपादान होकर प्राणियों के मूलाधार में अभि-व्यक्त होता है। शास्त्रकारों ने भी कहा है—

> स तु सर्वत्र संस्यूतो जाते भूताङ्कुरे पुनः।
> आविर्भवति देहेषु प्राणिनामर्थविस्तृते॥

पाञ्चभौतिक शरीर के उत्पन्न होने पर उसमें सर्वत्र अनुस्यूत (व्याप्त) जो रव है, वह संस्कृत वायु के वश में होकर मूलाधार में अभिव्यक्त होता है। मूलाधार में वायु की उत्पत्ति शास्त्रकारों ने बताई है—

> देहेऽपि मूलाधारेऽस्मिन् समुद्यति समीरण इत्यादि।

कहने की इच्छा करनेवाले पुरुषों की इच्छा से उत्पन्न जो प्रयत्न है, उसी से मूलाधारस्थ पवन संस्कृत होता है। उसी संस्कृत वायु से सर्वत्र व्यापक रूप से अवस्थित रव-रूप जो शब्दब्रह्म है, वह मूलाधार में ही अभिव्यक्त होता है।

जब वही शब्दब्रह्म (परा वाक्) नाभि-पर्यन्त आई हुई संस्कृत वायु से नाभिदेश में अभिव्यक्त होता है, तब प्रकाशात्मक, सामान्य स्पन्द-रूप शब्दब्रह्म मन का विषय होकर पश्यन्ती शब्द का वाच्य होता है, अर्थात् वही पश्यन्ती वाक् है। जब हृदय-पर्यन्त आई हुई उसी संस्कृत वायु से हृदय-देश में अभिव्यक्त होता है, तब हिरण्यगर्भ शब्द का वाच्य होता है और निश्चयात्मक बुद्धि से गृह्यमाण होकर मध्यमावाक् कहलाता है। वही मुख, कण्ठ आदि स्थानों में अभिव्यज्यमान होकर वैखरी शब्द का वाच्य होता है, अर्थात् उसे वैखरी वाक् कहते हैं। आचार्यों ने लिखा है—

> मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः
> पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ् मध्यमाख्यः।
> वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिवोरस्य जन्तोः सुषुम्णा
> बद्धस्तस्माद् भवति पवनप्रेरितो वर्णसंज्ञः॥
> परवाङ् मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
> हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥ (वा० प०)

इन श्लोकों का भाव ऊपर स्पष्ट हो चुका है।

शब्दब्रह्म या स्फोट का भेद औपाधिक

उपर्युक्त प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार ब्रह्म के चार स्वरूप कल्पित किये गये हैं—१. निष्कल, २. ईश्वर नाम का सकल,

हिरण्यगर्भ और ४. विराट्स्वरूप, उसी प्रकार शब्दब्रह्म (स्फोट) के भी
: स्वरूप शास्त्रों में बताये गये हैं—जैसे, १. निर्विकल्पक ज्ञानरूप परा,
सविकल्पक ज्ञानरूप पश्यन्ती, ३. स्फोटरूप मध्यमा और ४. कार्यरूप वैखरी।
एक बात और भी जान लेनी चाहिए कि स्फोट नामक शब्दब्रह्म के चार
प होने पर भी परा और पश्यन्ती का प्रत्यक्ष योगियों को ही समाधि में निर्विकल्पक
सविकल्पक रूप में होता है। वह साधारण मनुष्यों की बुद्धि का विषय नहीं है।
कारण मध्यमा नाद से अभिव्यक्त होकर ही वह साधारण जनों की बुद्धि
विषय होता है, और 'स्फुटति अर्थः यस्मात्'=जिससे अर्थ स्फुटित होता है
र्थात् प्रतीत होता है) इस व्युत्पत्ति से भी उसी को आधुनिक वैयाकरण
ट मानते हैं। जिस प्रकार, 'आत्मा आत्मना आत्मानं जानाति' यहाँ एक ही
मा उपाधि के भेद से कर्त्ता, कर्म और करण भी होता है, और उपाधि के भेद
भिन्न होता हुआ भी एक ही आत्मशब्द से व्यवहृत होता है, उसी प्रकार
टात्मा वस्तुतः एक ही होकर भी मूलाधार आदि स्थानरूप उपाधि के भेद से
न होता हुआ भी स्फोट-तत्त्व एक ही प्रकार का है, और वही शब्दब्रह्म और
य है।

> वैखर्या हि कृतो नादः परश्रवणगोचरः।
> मध्यमया कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते॥ (वा० प०)

इसमें मध्यमा नाद से अभिव्यक्त शब्द को ही जो स्फोट का अभिव्यंजक
या गया है, वह मध्यमा वाक्-रूप स्फोट के केवल स्फुटत्व का प्रतिपादन करने
लिए ही, न कि परा पश्यन्ती के स्फोटत्व के निराकरण के लिए। वस्तुतः,
नाद एक ही स्फोट तत्त्व के अभिव्यञ्जक होते हैं।

ब्दब्रह्म के तीन स्वरूप

इस सन्दर्भ से यही सिद्ध होता है कि वैखरी-रूप जो शब्द है, वह स्थूल है,
यमा-रूप सूक्ष्म, और (पश्यन्ती-रूप सूक्ष्मतर है। शब्दब्रह्म के तीन शरीर
रूप) स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर क्रमशः अधम, मध्यम और उत्तम अधिकारियों
विषयभूत हैं। जिस प्रकार आत्मा का पाञ्चभौतिक शरीर स्थूल, लिङ्ग-
ीर, सूक्ष्म और अविद्याविशिष्ट कारण शरीर 'सूक्ष्मतर माना गया है और क्रमशः
ल शरीर के अधिकारी साधारण पामर; सूक्ष्म शरीर के अधिकारी विद्वान्
ण्डित और सूक्ष्मतर शरीर के अधिकारी योगीजन माने गये हैं, उसी प्रकार स्फोट-
रूप भगवान् शब्दब्रह्म के विषय में भी समझना चाहिए।

इसीलिए, वैखर्यात्मक समस्त वैदिक या लौकिक मन्त्र स्थूल मतिवाले पामर अधिकारियों की पूजा के उपकरण माने गये हैं, मध्यमा-रूप मध्यमाधिकारियों के लिए और पश्यन्ती परा-रूप उत्तमाधिकारी योगियों के लिए हैं। इसी रहस्य को भगवान् श्रीकृष्ण ने परम भक्त उद्धव के प्रति प्रकारान्तर से कहा है—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥

इसका तात्पर्य है, वही अपरोक्ष जीव (ईश्वर) विवर में, अर्थात् आधारादि चक्रों में प्रसूति (अभिव्यक्ति) के सदृश है। वही परा नाम के नादवान् वायु के साथ गुहा में (आधारादि चक्रों में) प्रविष्ट होकर क्रमशः स्वाधिष्ठान, मणिपूरक चक्रों में जाता है, तब मनोमय और सूक्ष्म रूप को प्राप्त कर पश्यन्ती और मध्यमा शब्द का वाच्य होता है। बाद में वक्त्र (कण्ठदेश) में पहुँचकर मात्रा = ह्रस्व आदि, स्वर = उदात्तादि और वर्ण = अकार आदि स्वरूप में परिणत होकर अत्यन्त स्थूल रूप में वैखरी नाम से प्रसिद्ध होता है। श्रुति भी कहती है—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ (य० वे०)

वाक् (वाणी) के अभिव्यक्त होने के चार स्थान कल्पित किये गये हैं: आधार, नाभि, हृदय और कण्ठ। इन चार स्थानों में क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणियों की अभिव्यक्ति होती है। उनको अध्यात्मकुशल मनीषी विद्वान् ब्राह्मण ही जान सकते हैं। उनमें प्रथम तीन तो गुहा = आधार, नाभि और हृदय में ही निहित रहने के कारण बाह्य दृष्टि के विषय नहीं होती; और तुरीय (चतुर्थ) वैखरी नाम की वाणी को मनुष्य बोलते हैं। अर्थात्, वही वैखरी वाक् साधारण मनुष्यों के लिए अर्थ की बोधिका होती है। चक्र और उनके स्थानों का विवेचन योगशिखोपनिषद् आदि अनेक उपनिषदों में किया गया है। इनके अतिरिक्त योगचिन्तामणि, योगकर्णिका आदि अनेक आधुनिक ग्रन्थों में भी इसका पूर्ण विवेचन किया गया है। जिज्ञासुओं के उपकार के लिए प्रकृत में उपयोगी होने से यहाँ भी संक्षेप में उसका निर्देश कर देना उचित प्रतीत होता है।

र्णों की अभिव्यक्ति का स्थान : षट्चक्र

मनुष्य-शरीर में छह चक्रों की कल्पना आचार्यों ने की है। वे हैं
ाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। कहा भी है:—

मूलाधारः स्वाधिष्ठानं मणिपूरकमेव च।
अनाहतं विशुद्धाख्यमाज्ञाषट्चक्रमुच्यते॥
मूलाधारे लिङ्गमूले नाभौ च हृदिकण्ठके।
भ्रुवोर्मध्ये ब्रह्मरन्ध्रे चक्राणि चिन्तयेत् क्रमात्॥

मूलाधार आदि जो छह चक्र बताये गये हैं, उनका ध्यान इन्हीं स्थानों में
रने का विधान आचार्यों ने बताया है। इसी को प्रकारान्तर से अभियुक्तों ने
हा है—

या सा मित्रावरुणसदना दुश्चरन्ती त्रिषष्टि—
वर्णानन्तःप्रकटकरणैः प्राणसङ्गात् प्रसूते।
तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थाम्
वाचं चक्रे करणविशदां वैखरीञ्च प्रपद्ये॥

यहाँ 'मित्रावरुणसदना' पद से मूलाधारस्थ परा नाम के वाक् का ही बोध
ता है, यही द्वितीयपादान्त 'प्रसूते' क्रिया का कर्त्तृपद है। तात्पर्य यह है कि
लाधार में रहनेवाली जो परा नाम की वाक्शक्ति है, वही प्राणवायु की सहायता
उसके साथ ही उठती हुई त्रिषष्टि (६३) वर्णों को उत्पन्न करती है।
नमें प्रथम उत्पन्न, अर्थात् नाभिदेश में अभिव्यक्त होने पर पश्यन्ती और हृदय-
श में अभिव्यक्त होने पर मध्यमा पद का वाच्य होती है। वही जब मुख में
ाकर दूसरों के श्रवण का विषय होती है, तब वैखरी कही जाती है।

र्णों की संख्या का विवेचन

अब ६३ वर्ण किस प्रकार और कौन-कौन हैं, इसका विवेचन पाणिनि के
नुसार आगे दिखाया जाता है—

स्वराः विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ⌣क⌣पौ चापि पराश्रयौ।
दुःस्पृष्टश्चापि विज्ञेयो ऌकारः प्लुत एव च॥

स्वर्यते = शब्द्यते व्यञ्जनम् अनेन इति स्वरः, इस व्युत्पत्ति से स्व धातु से करण में अच् प्रत्यय करने पर 'स्वर' शब्द बनता है। इसका तात्पर्य है, जिसकी सहायता से व्यञ्जनों का स्पष्ट उच्चारण हो, वही स्वर है। अथवा 'स्वेन राजते' इस व्युत्पत्ति से स्वयम्, अर्थात् किसी की सहायता के विना ही जो स्पष्ट उच्चरित हो, उसको स्वर कहते हैं। वे स्वर २१ प्रकार के हैं—अ, इ, उ और ऋ ये चार वर्ण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से १२ प्रकार के होते हैं। ऌकार का दीर्घ नहीं होता। इस मत में ह्रस्व ही ऌकार है। ए, ऐ, ओ और औ इन चार वर्णों के ह्रस्व नहीं होते, इसलिए वे दीर्घ प्लुत के भेद से ८ प्रकार के होते हैं। ये सब मिलकर २१ प्रकार के हुए। इसी अभिप्राय से आचार्य ने कहा—'स्वराः विंशतिरेकश्च' इति।

'स्पर्शानां पञ्चविंशतिः'=स्पर्श २५ प्रकार के होते हैं— क. ख. ग. घ. के क. से प. फ. ब. भ. म. के मकार तक २५ वर्ण स्पर्श कहे जाते हैं। ये पचीसों वर्ण कण्ठ, जिह्वामूल, तालु, मूर्द्धा, दन्त और ओष्ठ इनके स्पर्श से ही अभिव्यक्त होते हैं, इसीलिए ये स्पर्श-वर्ण कहे जाते हैं। इस प्रकार, पूर्व के २१ के साथ जोड़ने से २५ + २१ = ४६ होते हैं। य. र. ल. व. ये अन्तःस्थ कहे जाते हैं। स्पर्श और ऊष्मा के अन्तर (मध्य में) रहने से इनका नाम अन्तःस्थ है। श. ष. स. ह. को ऊष्मा कहते हैं। ये दोनों ८ हैं। पूर्व के ४६ के साथ जोड़ने पर ५४ होते हैं। इनके अतिरिक्त चार यम हैं। 'अनन्त्यान्तसंयोगे मध्ये यमः पूर्वगुणः', अर्थात् क् ख् ग् घ् इन अनन्त्य वर्णों से परे यदि ञ. म. ङ. ण. न. हों, तो मध्य में पूर्ववर्ण के सदृश ही एक वर्ण आ जाता है, उसी को यम कहते हैं। यह औदव्रजि का मत है। इनके अतिरिक्त नारद ने भी कहा है—

> अनन्त्यश्च भवेत् पूर्वो ह्यन्तश्च परतो यदि।
> तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत् सवर्णः पूर्ववर्णयोः॥
> वर्गान्त्यान् शषसैः सार्द्धमन्तःस्थैर्वाऽपि संयुतान्।
> दृष्ट्वा यमा निवर्त्तन्ते आदेशिकमिवाध्वगाः॥

इसका तात्पर्य यह है—अनन्त्य क. ख. आदि वर्ण पूर्व में हों और ङ. ञ. आदि अन्त्य वर्ण पर में हों, तो मध्य में पूर्ववर्ण के सदृश ही यम नाम का एक वर्ण आ जाता है। श. ष. स. के साथ यदि वर्ग के अन्त्य वर्ण हों अथवा य. र. ल. व. के साथ हों, तो उनको देखकर यम उसी प्रकार लौट जाते हैं, जैसे आदेशिक को देखकर पान्थ। इन दोनों आचार्यों के मत से यम को आगम भी माना

परन्तु, पाणिनि इनको वर्ण के अतिरिक्त ही मानते हैं। इस प्रकार, इन
ाकर ५८ वर्ण होते हैं।

के अतिरिक्त—'स्वरमनुसरति अनुसरति इति अनुस्वारः, इस
। अनुस्वार का यह अर्थ होता है कि जो स्वर का ही अनुसरण
र् स्वर के बिना न रहे। 'दन्त्यमूलः स्वरानुगः' यह अनुस्वार के लक्षण
है। विसर्ग—'विविधं सृज्यते क्षिप्यते इति विसर्गः' इस व्युत्पत्ति से
अर्थ होता है कि जिसमें अनेक प्रकार के हस्त का प्रक्षेप किया
खा जाता है कि वैदिक मन्त्रों के उच्चारण में, विसर्ग के उच्चारण
ाकार से हस्त का प्रक्षेप किया जाता है। '⌣क⌣पौ चापि पराश्रयौ'—
प्रकार-पकार आश्रय है जिसका, इस व्युत्पत्ति से ⌣क⌣प शब्द से
और उपध्मानीय का ग्रहण होता है।

शब्द से अनुस्वार और विसर्ग का ग्रहण होता है। इस प्रकार, पूर्व के
में ४ मिलाने से ६२ वर्ण होते हैं। जो वर्णों को ६३ मानते हैं, वे वर्णों
कार मिला देते हैं—'लृकारः प्लुत एव च'। कोई ६४ वर्ण भी मानते हैं,
में 'अनुस्वारौ विसर्गश्च' ऐसा पाठ माना जाता है, अर्थात्
के साथ ह्रस्व और दीर्घ स्वर के साथ दीर्घ अनुस्वार दो माने जाते हैं। इस
वर्ण होते हैं। इससे 'त्रिषष्टिः चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः' यह
सिद्ध होता है। ये समस्त वर्ण उसी शब्दब्रह्मस्वरूप स्फोट के (जिसको
, परा वाक् आदि शब्दों से भी कहते हैं) परिवारभूत हैं। दूसरे शब्दों
त वर्ण उसी स्फोट के विवर्त या परिणाम माने जाते हैं। योगशिखो-
इसी का विवेचन प्रकारान्तर से इस प्रकार किया गया है:
ा वाक् से वाङ्मय जगत् की सृष्टि—

यन्त्रमस्यं चिदाख्यातं यत् सिद्धीनाञ्च कारणम्।
येन विज्ञातमात्रेण जन्मबन्धात् प्रमुच्यते॥

अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।
मूलाधारगता शक्तिः स्वाधारा बिन्दुरूपिणी॥

तस्यामुत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजादिवाङ्कुरः।
तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः॥

हृदये व्यज्यते घोषो गर्जत्पर्जन्यसन्निभः।
तत्र स्थिता सुरेशान मध्यमेत्यभिधीयते॥

प्राणेन च स्वराख्येन प्रथिता वैखरी पुनः।
शाखापल्लवरूपेण ताल्वादिस्थानघट्टनात् ॥
अकारादिक्षकारान्तान्यक्षराणि समीरयेत् ।
अक्षरेभ्यः पदानि स्युः पदेभ्यो वाक्यसम्भवः ॥
सर्वे वाक्यात्मका मन्त्रा वेदशास्त्राणि कृत्स्नशः ।
पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि ॥
सप्तस्वराश्च गाथाश्च सर्वे नादसमुद्भवाः ।
एषा सरस्वती देवी सर्वभूतगुहाशया ॥
वायुना वह्नियुक्तेन प्रेर्यमाणा शनैः शनैः ।
तद् विवर्त्तपदैर्वाक्यैरित्येवं वर्त्तते सदा ॥
(यो० शि० उप

तात्पर्य यह है कि जो सब सिद्धियों का कारण, नमस्कार करने यो चित् नाम की पराशक्ति है (जो स्फोट शब्द का वाच्य है), जिसके विज्ञान-म से मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाता है, वही अक्षर (अविनाशी परम नाद शब्द का वाच्य शब्दब्रह्म कहा जाता है, वही परमार्थ में स्फोट है वही मूलाधार में रहनेवाली बिन्दुरूपिणी अनन्याश्रित (जो अन्य के आश्रित न हो शक्ति है। उसी में ईक्षणात्मक वायु के वश से जब क्षोभ पैदा होता है, मणिपूर में सूक्ष्म बीज से अङ्कुर के समान नादध्वनि उत्पन्न होती है। उ को पश्यन्ती कहते हैं, जिसके द्वारा योगीजन विश्व को देखते हैं। हृदय में स्थि अनाहत चक्र में जब मेघध्वनि के समान घोष अभिव्यक्त होता है, तब वह मध्य वाक् कहा जाता है, यहीं पर अर्थ का बोध होता है। जब कण्ठदेश (विशुद्धा चक्र) में स्वरनामक प्राणवायु के आघात से अभिव्यक्त होता है, तब क्र तालु, मूर्द्धा, दन्त और ओष्ठ स्थानों में अभिव्यक्त होकर शाखापल्लव के रूप अकार से क्षकार-पर्यन्त अक्षरों को उत्पन्न करता है। अक्षरों से पद और पद वाक्य बनाता है। इस प्रकार समस्त मन्त्र वाक्यात्मक ही हैं। तात्पर्य कि सम वेद, शास्त्र, पुराण, काव्य, नाटक, इतिहास, सात स्वर, समस्त गाथा—ये स वाङ्मय जगत् उक्त स्फोटात्मक नाद से ही उत्पन्न होते हैं, समस्त प्राणियं गुहा (मूलाधार) में रहनेवाली वही परा नाम की सरस्वती (वाणी) अग्निसंयुक्त वायु से प्रेरित होकर तद्विवर्त्त-पदों और वाक्यों के रूप में परि

होती है। इसी प्रकार वर्ण,पद और वाक्यों के द्वारा सकल वाङ्मय सर्ग का प्रादुर्भाव होता है। यही इसका रहस्य है।

इन्हीं सबका विवेचन भगवान् वेदव्यास ने भी भागवत के द्वादश स्कन्ध में बड़े सुन्दर ढङ्ग से किया है। जैसे —

समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
हृदाकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते॥
यदुपासनया ब्रह्मन् योगिनो मलमात्मनः।
द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम्॥
ततोऽभूत्त्रिवृदोङ्कारो योऽव्यक्तः प्रभवः स्वराट्।
यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः॥
शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्।
येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः॥
स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः।
स सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदबीजं सनातनम्॥
तस्य ह्यासँस्त्रयो वर्णा अकाराद्याकुरुद्वह।
धार्यन्ते यैस्त्रयो भावाः गुणानामर्थवृत्तयः॥
तेनाक्षरसमाम्नायमसृजद् भगवानजः।
अन्तःस्थोष्मस्वरस्पर्शह्रस्वदीर्घादिलक्षणम्॥
तेनासौ चतुरो वेदान् चतुर्भिर्वदनैर्विभुः।
सव्याहृतिकान् सोङ्कारान् चतुर्होत्रविवक्षया॥

इन श्लोकों का तात्पर्य श्रीधराचार्य आदि के अनुसार इस प्रकार है—

सर्जन-शक्ति-विशिष्ट आदिपुरुष भगवान् प्रजापति के समाहितचित्त होने पर उनके हृदयाकाश से एक नाद उत्पन्न हुआ। वही नाद सकल वाङ्मय जगत् (शब्दमय जगत्) का उपादान होकर वृत्ति के रोध करने पर विभावित होता है, अर्थात् कान को बन्द करने पर विदित होता है। उस नाद की उपासना से योगी अपने अन्तःकरण के द्रव्यक्रियाकारक नामवाले मलों को धोकर अपुनर्भव,

र्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं। नाद की उपासना करने पर योगियों के हृदय में हंस ाह्मण का ज्ञान उत्पन्न होता है। उस ज्ञान से मनुष्य अपने द्रव्य (आधिभौतिक), ‍िया (आध्यात्मिक) और कारक (आधिदैविक) इन तीनों प्रकार के मलों का ाश करता है। नाद की उत्पत्ति और उपासना का प्रकार यहाँ शास्त्रोक्त विधि ‍ जिज्ञासुओं के लाभ के लिए दे देना उचित प्रतीत होता है। योगशास्त्रों में ‍लखा है :

ाडियों का विवेचन और कुण्डली का स्थान

गुदध्वजान्तरे कन्दम् उत्सेधाद् द्वयङ्गुलं विदुः।
तस्माद् द्विगुणविस्तारवृत्तरूपेण शोभितम्॥
नाड्यस्तत्र समुद्भूताः मुख्यास्तिस्रः समर्थिताः।
इडा वामस्थिता नाडी पिङ्गला दक्षिणे मता॥
तयोर्मध्यगता नाडी सुषुम्णा वंशमध्यगा।
पादाङ्गुष्ठद्वयं जाता शिकाभ्यां शिरसा पुनः॥
ब्रह्मस्थानं समापन्ना सूर्यसोमाग्निरूपिणी।
तस्या मध्यगता नाडी चित्राख्या योगिवल्लभा॥
ब्रह्मरन्ध्रं विदुस्तस्यां पद्मसूत्रनिभं परम्।
आधारांश्च विदुस्तत्र मतभेदादनेकधा॥
दिव्यमार्गमिदं प्राहुरमृतानन्दकारणम्।
आधारकन्दमध्यस्थं त्रिकोणमतिसुन्दरम्॥
तत्र विद्युल्लताकाशकुण्डली परदेवता।
सुप्ताहिभोगसदृशी कृतिजीवसमाश्रिता॥
हंसः प्राणाश्रयो नित्यं प्राणो नाडीसमाश्रयः।
आधारादुद्गतो वायुः यथावत् सर्वदेहिनाम्॥
देहं संव्याप्य नाडीभिः प्रयाणं कुरुते बहिः।
अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां विलोचने॥
नासारन्ध्रे मध्यमाभ्यामन्याभिर्वदनं दृढम्।
बद्ध्वात्मप्राणमनसामेकत्वं समनुस्मरन्॥

धारयेन्मरुतं सम्यग् योगोऽयं योगिवल्लभः।
नादः सञ्जायते तस्य क्रमादभ्यसतः शनैः॥
मत्तभृङ्गाङ्गनागीतसदृशः प्रथमो ध्वनिः।
वंशिकास्थाऽनिलापूर्णः वंशध्वनिसमोऽपरः॥
एवमभ्यसतां पुंसां संसारध्वान्तनाशनम्।
ज्ञानमुत्पद्यते तत्र हंसलक्षणमुत्तमम्॥ (यो० क०)

इन रहस्यमय श्लोकों का भावार्थ संक्षेप में यह है—गुद और लिङ्ग के बीच में दो अङ्गुलि परिमाण की एक नाडी है। उसके द्विगुण विस्तार एक गोलाकार वृत्तरूप से सुशोभित कन्द है, जिसे आधारचक्र भी कह सकते हैं। वही कन्द समस्त नाडियों का केन्द्र है, अर्थात् वहीं से सब नाडियाँ निकली हुई हैं। उनमें तीन नाडियाँ मुख्य हैं—इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा। इडा वामभाग में, पिङ्गला दक्षिणभाग में और सुषुम्णा उन दोनों के मध्य में पृष्ठदेशस्थ वंशाख्य नाडी में स्थित है। वह दोनों पैरों के अँगूठे से मस्तक के जटा-पर्यन्त व्याप्त है। सूर्य, चन्द्र और अग्निरूपिणी वही नाडी (सुषुम्णा) ब्रह्मस्थान (सहस्रार) पर्यन्त फैली हुई है। उसी सुषुम्णा के मध्य में एक चित्रा नाम की नाड़ी है, जो योगियों की परमवल्लभा, अर्थात् परमप्रिया है। उसी चित्रा नाडी के मध्य में पद्मसूत्र के सदृश अत्यन्त सूक्ष्म एक ब्रह्मरन्ध्र (छिद्र) है। उसी में अनेक मतभेदों से आधारचक्रों की कल्पना की जाती है। यही अमृतानन्द के कारण दिव्यमार्ग कहा गया है। आधारचक्र के (कन्द के) मध्य में एक अत्यन्त सुन्दर त्रिकोण है, उसी में विद्युत् की लता के समान परादेवता कुण्डली, अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का वास है। वह कुण्डलीभूत सोए हुए सर्प के फण के समान जीवाश्रित है। वही प्राण के रूप में समस्त नाडियों को व्याप्त कर हंस-रूप में प्रकट होती है। हंस नित्य प्राणाश्रय है और प्राणनाडियों के समाश्रित है। जब सब प्राणियों के आधार (मूलाधार) से प्राण वायु उद्गत होता है; अर्थात् ऊपर की ओर उठता है, तब नाडियों के द्वारा देह को नाड़ियों को व्याप्तकर बाहर प्रयाण करता है। अर्थात्, हंसरूप में भीतर आता-जाता है। हकार से बाहर जाता है और सकार से भीतर प्रवेश करता है। अन्यत्र भी लिखा है—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंस इत्यक्षरद्वन्द्वं जीवो जपति सर्वदा॥

अर्थात्, हकार से बाहर प्राणवायु का गमन होता है और सकार से भीतर। इस प्रकार, 'हंस' इस दो अक्षरवाले मन्त्र का जीव सदा जप करता है।

इसके बाद हंसलक्षण ज्ञान होने का साधन बताते हैं—'अङ्गुष्ठाभ्यामित्यादि' से—दोनों अँगूठों से दोनों श्रोत्र को, दोनों तर्जनियों से दोनों आँखों को, दोनों मध्यमाओं से नाक के दोनों रन्ध्रों को, दोनों अनामिकाओं और दोनों कनिष्ठाओं से मुख को दृढ बाँधकर आत्मा, प्राण और मन के एकत्व का अनुस्मरण करता हुआ एवं वायु को धारण करता हुआ जो शनैः-शनैः अभ्यास करता है, उसके नाद उत्पन्न होता है। पहला नाद भ्रमरियों के गीत के समान प्रतीत होता है, बाद में वंशीध्वनि के समान, उसके बाद बाँस के छिद्र में परिपूर्ण होती हुई वायु की ध्वनि के समान नाद होता है। यह योगियों का परम वल्लभ योग है। इसके अभ्यास करनेवाले को सांसारिक अज्ञान का नाशक हंसलक्षण ज्ञान उत्पन्न होता है।

योग के इन श्लोकों को ध्यान से देखने पर यही मालूम होता है कि जिस प्रकार ईश्वर ही प्रकृति और पुरुष इन दो रूपों को धारण करता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त नाद ही हंस इन दो वर्णों के रूप में परिणत होता है। इसमें भी सः 'प्रकृति' रूप है और 'हं' पुरुष। लिखा भी है—'हं पुमान् प्रकृतिस्तु सः', हं पुरुष और सः प्रकृति-रूप है। प्रकृति सदा पुरुष के आश्रय में रहती है। जब प्रकृति पुरुषभाव को प्राप्त करती है, तभी 'सोऽहं' भाव को प्राप्त होती है। एक बात और भी है कि सोऽहम् में सकार और हकार दोनों उपाधि हैं। इनका लोप होने पर 'ओ अम्' रहता है, यहाँ ओ में अ का पूर्वरूप करने पर ओम् बचता है। इसी को अन्यत्र भी इस प्रकार कहा गया है—

पुरुषं स्वाश्रयं मत्वा प्रकृतिर्नित्यशास्थिता।
यदा तद्भावमाप्नोति तदा सोऽहमियं भवेत्॥
सकारार्णं हकारार्णं लोपयित्वा ततः परम्।
सन्धिं कुर्यात् पूर्वरूपं ततोऽसौ प्रणवो भवेत्॥

अर्थात्, प्रकृति पुरुष को आश्रित कर नित्य ठहरी हुई है, जब प्रकृति तद्भाव (पुरुषभाव) को प्राप्त करती है, तब सोऽहम् हो जाती है। देखा भी जाता है कि 'हंसो' 'हंसो' के बार-बार उच्चारण से सोऽहम् की प्रतीति होने लगती है। 'सोऽहम्' में सकार-हकार दोनों उपाधियों को हटा देने पर ओ + अम् बचता है। यहाँ ओ + अम् में पूर्वरूप सन्धि करने पर ओम् यह प्रणव हो जाता है। इस

कथन से यही प्रतीत होता है कि मोक्षार्थियों के लिए ईश्वर के ज्ञान के समान ही प्रणव की भावना भी उपयोगी होती है। कहा भी है—'आत्मभेदस्थितो योगी भावयेत् प्रणवं सदा।'

'ततोऽभूत् त्रिवृदोङ्कारः' के त्रिवृत् का अर्थ होता है त्रिमात्र=तीन मात्रा का। अ, उ, म्, यही तीन मात्राएँ हैं। कण्ठ, ओष्ठ आदि से उच्चार्यमाण जो ओङ्कार है, उसका वर्णसमाम्नाय (अ इ उ ण् इत्यादि) में अन्तर्भाव नहीं है, इसलिए सूक्ष्म रूप से उसका विशेषण देते हैं—'अव्यक्तप्रभवः स्वराट्'। अव्यक्तः प्रभवः=उत्पत्तिर्यस्य, अर्थात् जिसकी उत्पत्ति अव्यक्त (प्रकट नहीं) है, इस अभिप्राय से कहते हैं—'स्वराट्', अर्थात् स्वतः हृदय में प्रकाशमान (प्रकाशित होनेवाला) है। कार्य से दिखाते हैं—'यत्तल्लिँङ्ग भगवतो' इत्यादि। जो स्फोट नाम का प्रणव भगवान् परमात्मा का लिङ्ग, अर्थात् साक्षात् गमक है। 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति भी इसमें प्रमाण है। जिसका बोधक स्फोट है, वह परमात्मा कौन है? इस आशङ्का का उत्तर दिया गया है—'शृणोति य इमं स्फोटम्'—अर्थात् जो इस स्फोट को सुनता है। इसका तात्पर्य है कि सकल-रूप जगत् के कारणीभूत जो परमात्मा है, उसी की शक्ति की इस प्रकार सम्भावना हो सकती है कि अखिल वाङ्मय जगत् (शब्दमय जगत्) के उपादानभूत स्फोट सुन सके। यहाँ एक बात और भी ज्ञातव्य है कि मनुष्य जिस प्रकार पिता आदि से संकेतित अपना नाम सुनता है और सुनकर उसकी प्रशंसा से प्रसन्न होता है, उसी प्रकार परमात्मा भी अनादिसिद्ध अपने नामभूत स्फोटात्मक ओङ्कार को सुनता है और प्रसन्न होता है। यदि कहें कि जीव ही इस स्फोट को सुनता है, तब इस आपत्ति का उत्तर देते हैं—'सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्'। अर्थात्, कान मूँदने से श्रोत्र के अवृत्तिक होने पर भी जो सुनता है। जीव के सुनना, देखना आदि जो व्यापार हैं, वे तो इन्द्रियों के अधीन हैं। सो जाने पर इन्द्रियों की वृत्ति के अभाव में वह सुन नहीं सकता, इसी अभिप्राय से परमात्मा का विशेषण कहते हैं 'शून्यदृक्'=शून्ये अवृत्तिकेऽपि इन्द्रियवर्गे दृक् ज्ञानं यस्य सः, अर्थात् इन्द्रिय वर्गों के शून्य (अवृत्तिक) होने पर भी दृक् (ज्ञान) है जिसका। इसका यह तात्पर्य है कि परमात्मा इन्द्रियों की सहायता के विना ही सब ज्ञान रखता है। जीव ऐसा नहीं है; क्योंकि उसका ज्ञान इन्द्रियों के ही अधीन है। श्रुति भी कहती है—'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः'। वह परमात्मा विना आँख के देखता है और विना कान के सुनता है। इसी श्रुति के आधार पर महात्मा तुलसीदास ने भी कहा है—'बिनु पग चलै सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करै विधि नाना।' सोता हुआ मनुष्य पुकारने पर जो जग जाता है,

वहाँ भी वह मनुष्य नहीं सुनता है; क्योंकि उसकी इन्द्रियों का व्यापार उस समय नहीं रहता है। इसलिए, यही कल्पना की जाती है कि उसके हृदयस्थ जो ईश्वर हैं, वही उसको सुनकर जगा देते हैं।

स्फोटात्मक ओङ्कार से ही वाङ्मय-सृष्टि

अब यह स्फोट कौन है, इस जिज्ञासा का उत्तर दिया गया है—'येन वाक् व्यज्यते, अर्थात् जिस ओङ्कार नामक स्फोट से वाक् (बृहती) प्रकट होती है, जिस स्फोट की अभिव्यक्ति परमात्मा के हृदयाकाश से होती है, जो स्फोट अपना आश्रय परब्रह्म परमात्मा का साक्षात् वाचक है और परमात्मा के अंशभूत समस्त देवताओं का भी वाचक है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'सर्वमन्त्रोपनिषद्' आदि। समस्त मन्त्रों का उपनिषद्, अर्थात् रहस्य और वेदों का बीज है, अर्थात् आदिकारण है। इसी अभिप्राय से महाकवि कालिदास ने कहा है—'प्रणवश्छन्दसामिव', अर्थात् जिस प्रकार प्रणव वेद का आदि कारण है। वह बीज होने पर भी अविकारी है। इसी अभिप्राय से कहते हैं—'सनातनम्'=सदा एक रूप रहनेवाला। ब्रह्मरूप होने के कारण स्फोट का भी यह सब विशेषण सम्यक् उपपन्न हो जाता है।

अब उसी स्फोट से समस्त व्यावहारिक प्रपञ्च की उत्पत्ति कहते हैं—'तस्य ह्यासन्' इत्यादि। उस स्फोटात्मक ओङ्कार के अ उ म् ये तीन वर्ण हैं, जो तीन संख्यावाले पदार्थों को धारण किये हुए हैं। उन तीन संख्यावाले पदार्थों के वही कारण और प्रकाशक हैं। 'गुणानामर्थवृत्तयः' से उन्हीं पदार्थों का कथन किया गया है। गुण=सत्त्व, रज और तम; नाम=ऋग्, यजु, साम; अर्थ=भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक; वृत्ति=जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। ये ही तीन संख्यावाले पदार्थ हैं। इसका विवेचन उपनिषदों में किया गया है। नृसिंहतापिनी में इस प्रकार कहा है—ऋग्वेद, जाग्रदवस्था भूर्लोक, ब्रह्मा, विश्व, विराट् और सृष्टि अकार का अर्थ है। यजुर्वेद, स्वप्नावस्था, विष्णु, तैजस, हिरण्यगर्भ और स्थिति ये उकार के अर्थ हैं। सामवेद, सुषुप्त्यवस्था, स्वर्लोक, महेश्वर, प्राज्ञ, अव्याकृत और प्रलय ये मकार के अर्थ हैं। शिवमहिम्नस्तोत्र में आचार्य पुष्पदन्त ने भी इसी अभिप्राय से कहा है—

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरान्
अकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरविदधत्तीर्णविकृति इत्यादि।

उपर्युक्त श्लोक से भी उपर्युक्त ही अर्थ सिद्ध होता है। इन्हीं तीन (अ, उ और म्) वर्णों से अक्षरसमाम्नाय की सृष्टि सनातन भगवान् करते हैं 'तेनाक्षरसमाम्नायमित्यादि' से। इसी का विवेचन आगे किया गया है—'अन्तःस्थोष्मस्वरस्पर्शह्रस्वदीर्घादिलक्षणम्' इत्यादि। अन्तःस्थ = य. र. ल. व.; ऊष्मा = श. ष. स. ह.; स्वर = अ. आ आदि; स्पर्श = क. ख. ग. घ के क से प. फ. ब. भ. के म. तक; ह्रस्व-दीर्घ = अ. आ. इ. ई; आदि शब्द से ≍क ≍प और क्ष का ग्रहण किया जाता है।

आगमशास्त्र में भी लिखा है—

> स्वराः षोडश विज्ञेयाः स्पर्शास्तु पञ्चविंशतिः।
> अन्तःस्थाश्चापि चत्वारः ऊष्माणश्चापि तन्मिताः॥
> जिह्वामूलीयकश्चैक इत्येवं वर्णसंहतिः।
> एवं वर्णा द्विपञ्चाशन्मातृकायामुदाहृताः॥
> क्षकारन्त्वागमाचार्याः बीजार्थमधिकं विदुः।
> तच्चोरलक्षणं ज्ञेयं छलज्ञानामपि ध्रुवम्॥ इति।

अर्थ स्पष्ट है। इन्ही अक्षरसमाम्नायों से व्याहृति और ओङ्कार के साथ समस्त वेदों का आविर्भाव होता है। इस भागवत सन्दर्भ से मुनि का यह अभिप्राय सूचित होता है कि जिस प्रकार भगवान् पहले पाँच भूतों की सृष्टि करते हैं, बाद में उन्हीं भूतों से अपने अंश चैतन्यविशिष्ट कारणशरीर और सूक्ष्मशरीर के साथ ही पाञ्चभौतिक जङ्गमाजङ्गमात्मक स्थूल देह की रचना करते हैं, उसी प्रकार स्फोट नामवाले भगवान् प्रणव भी अकार से क्षकार-पर्यन्त मातृका-रूप में परिणत होते हैं, और उन्हीं मातृकाओं से कारण-रूप प्रणव के साथ ही महाव्याहृत्यात्मक सूक्ष्मशरीर से मिलकर तत्-तत् मन्त्ररूपात्मक स्थूलशरीर को धारण करते हैं। यह रहस्य आगमशास्त्रों के परिशीलन करने से विद्वानों को भली भाँति विदित हो जाता है।

यही विषय भगवान् श्रीकृष्ण ने भी उद्धव से स्पष्ट कहा है—

> शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम्।
> अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यसमुद्रवत्॥
>
> मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना।
> भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते॥

यथोर्णनाभिः हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात् ।
आकाशाद् घोषवान् प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ॥
छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः ।
ओङ्काराद् व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तःस्थभूषिताम् ॥
विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः ।
अनन्तपारां बृहतीं सृजन्त्याक्षिपते स्वयम् ॥

(भाग०, स्कं० ११

इसका भाव यह है कि हे उद्धव ! प्रणव नाम का शब्दब्रह्म (स्फोट) स्थूल-सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का है । उनमें लौकिक स्थूल रूप का ही व्याख्यान किया गया है । सूक्ष्म रूप तो स्वरूप और अर्थ से भी दुर्विज्ञेय ही है। उनमें स्वरूपतः दुर्विज्ञेयत्व दिखाने के लिए कहते हैं—'प्राणेन्द्रियमनोमयम्' । प्राणमय, इन्द्रियमय और मनोमय ये तीनों सूक्ष्म ही हैं। इनमें भी प्राणमय परा-रूप है, मनोमयपश्यन्ती-रूप और इन्द्रियमय मध्यमा रूप है । कारण यह है कि मध्यमा-रूप ही वाक्, अर्थात् शब्द का अभिव्यञ्जक होता है। इसलिए, उसमें वाक् इन्द्रिय ही प्रधान है । एक बात और है कि समष्टि प्राणमय और मनोमय तो निर्विशेष (विशेषशून्य) होने के कारण देश और काल के परिच्छेद से रहित है । इसी अभिप्राय से कहते हैं—'अनन्तपारम्' (जिसका पारावार नहीं है) ।

अर्थतः दुर्विज्ञेयत्व दिखाने के लिए कहते हैं—'गम्भीरम्', जिसका अर्थ है निगूढ, अर्थात् छिपा हुआ, जिसमें मति प्रवेश न करे । इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए कहते हैं—'समुद्रवत्' = समुद्र के समान दुर्विगाह्य । इस सूक्ष्म स्वरूप को मनीषी ही समझ सकते हैं। इस अभिप्राय से कहते हैं—'मयोपबृंहितं भूम्ना'—मुझ अन्तर्यामी से उपबृंहित, अर्थात् अधिष्ठित है। यद्यपि अन्तर्यामी होने से अन्तःस्थ (भीतर रहनेवाला) है, तथापि परिच्छेद-रहित है । इस तात्पर्य से कहते हैं—'भूम्ना' = व्यापकेन अर्थात् व्यापक होने से । अधिष्ठाता होने पर भी अविकारी है, इस अभिप्राय को 'ब्रह्मणा' पद व्यक्त करता है अर्थात् सब प्रकार के विकारों से शून्य । आविष्कृत होने पर भी 'नियन्ता' है, इस अभिप्राय से विशेषण देते हैं—'अनन्तशक्तिना' = जिसकी शक्ति का अन्त नहीं है । 'भूतेषु घोषरूपेण' = सब प्राणियों में घोष (नाद) रूप से मनीषियों को लक्षित होता है । अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी दर्शन का विषय है, इसमें दृष्टान्त

देते हैं—'विसेघूर्णतन्तुरिव' इति। जिस प्रकार विस—कमलनाल में सूक्ष्म रूप से ऊर्णतन्तु रहता है, और बहुत सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाता है, उसी प्रकार स्फोट—तत्त्व भी प्राणियों के हृदय-प्रदेश में अत्यन्त सूक्ष्म रूप से रहता है, और सूक्ष्म दृष्टि से ही मनीषियों की दृष्टि (दर्शन) का विषय होता है। इस प्रकार, स्फोट-तत्त्व के सूक्ष्म स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है।

बृहती (वैखरी) वाणी का विस्तार

आगे बृहती वाक् (वैखरी) का उत्पत्ति-प्रकार दृष्टान्त के साथ कहा जाता है। जैसे—'यथोर्णनाभिः हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात्, जिस प्रकार ऊर्णनाभि (कीटविशेष) अपने मुख से ऊर्णा का वमन करता है, उसी प्रकार वैखरी की उत्पत्ति होती है। भाव यह कि वह मकड़ी जिस प्रकार अपने हृदय-प्रदेश से ऊर्णा (सूत) को मुख द्वारा बाहर प्रकट करती है, उसी प्रकार 'प्रभु' परा नामवाले भगवान् 'प्राण' = प्राणोपाधिक शब्दब्रह्म (स्फोट) स्वयम् अमृतमय होने पर भी स्पर्शरूपी मन के साथ छन्दोमय = वेदमूर्त्ति के रूप में अभिव्यक्त होता है। यहाँ स्पर्शग्रहण उपलक्षण है। 'स्पर्शादीन् = वर्णान् रूपयति = संकल्पयति इति स्पर्शरूपी, तेन', 'अर्थात् स्पर्श, अन्तःस्थ, ऊष्म, स्वर आदि वर्णों को पश्यन्ती-रूप से जो संकलित करता है। घोषवान् = नादोपादानवान्—अर्थात् जिसका उपादान नाद है। वह वाचक रूप भगवान् स्फोटब्रह्म हृदयाकाश से मुख के द्वारा ही बृहती वाक् को 'सृजति'—अभिव्यक्त करता है। इसी बृहती की अभिव्यक्ति के लिए विशेषण दिया गया है 'सहस्रपदवीम्' = अनेक मार्गवाली। 'ओङ्काराद् व्यञ्जित-स्पर्श' इत्यादि कथन इसी बात के स्पष्टीकरण के लिए है। 'ओङ्कार = मध्यमानाद से अभिव्यक्त होनेवाले स्फोट से उरस्, कण्ठ, तालु, ओष्ठ आदि के संयोग से अभिव्यञ्जित और स्पर्श, स्वर, ऊष्म, अन्तःस्थ आदि से भूषित (यह बृहती का ही विशेषण है)। यहाँ ओङ्कार शब्द से हृदय में रहनेवाला सूक्ष्म स्फोट ही अभिप्रेत है, अकारादि रूप नहीं। क्योंकि, वे तो कण्ठादि के संयोग से उत्पन्न ध्वनि के अभिव्यङ्ग्य हैं। 'विचित्रभावविततााम्', अर्थात् विचित्र प्रकार के लौकिक-वैदिक भाषाओं से वितत, अर्थात् विस्तृत, 'छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः'—उत्तरोत्तर चार-चार अक्षर जिनमें अधिक हैं, इस प्रकार के छन्दों से उपलक्षित। वैदिक छन्द इसी प्रकार के होते हैं। इस प्रकार 'अनन्तपार'—जिसका पारावार नहीं है, ऐसी बृहती (वाणी) को पूर्वोक्त स्फोट ब्रह्म ही उत्पन्न करता है और पुनः अन्तकाल आने पर अपने में ही स्वयम् उपसंहार कर लेता है।

उपर्युक्त सन्दर्भ का सारांश यह है कि प्राणियों के धर्म-अधर्म को निमित्त मानकर भगवदिच्छाशक्ति के बल से जीवों के भोग के लिए सत्त्व की न्यूनता में तमोगुणप्रधान प्रकृति से समस्त जगत् के उपादानभूत आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ये पाँच भूत उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार, भगवदिच्छा से ही लोकों के उद्धार और आत्मसात् करने के लिए वाचकरूप प्रणव ब्रह्म 'स्फोट' से ही जीवों के ज्ञान के लिए सत्त्वगुणप्रधान प्रकृति से समस्त वाङ्मय जगत् के उपादानभूत अक्षरसमाम्नाय-रूप अकारादि मातृका वर्णों का प्रादुर्भाव होता है। पुनः प्राणियों के लिए ही स्थूल शरीर आदि की आवश्यकता होती है, तो इसकी सिद्धि के लिए जिस प्रकार भगवान् उन आकाशादि पञ्चभूतों का पञ्चीकरण करते हैं, उन्हीं पञ्चीकृत भूतों से, जो समस्त जगत् के उपादानभूत हैं, समस्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है, जिस ब्रह्माण्ड में चौदह भुवन, प्राणियों के भोग के लिए अन्न आदि, और उन लोकों के उचित शरीर भी उन्हीं कृत भूतों से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार सम्मिलित मातृकावर्णों से महेश्वर की आज्ञा से प्राणियों के ज्ञान-प्रकाश के लिए ही महान् वेदराशिरूप वाङ्मय ब्रह्माण्ड का आविर्भाव होता है। जिस शब्दमय ब्रह्माण्ड में ओङ्कार और मातृका के साथ सकल कार्यों के साधक और विशुद्ध आत्मप्रकाशक मन्त्रों का और साथ ही तत्-तत् धर्मों के प्रतिपादक रूप विधि और अर्थवाद आदि का भी प्रादुर्भाव होता है।

इससे यह भी निश्चित होता है कि रूप जगत् का भौतिक जगत्, ब्रह्माण्ड, और नाम जगत् का वाङ्मय (शब्दमय) ब्रह्माण्ड आश्रय है। उसमें भी जिस प्रकार परमात्मा ही अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों से आवृत होकर जब अविद्या के वश में आ जाता है, उस समय वही चेतन सुख-दुःख का अनुभव करता हुआ लोक में जीव शब्द से व्यवहृत होता है, उसी प्रकार जीवों के उद्धार के लिए तथा पञ्चकोशों से उन्मुक्त कर आत्मसात् करने के लिए स्वयं परमात्मा ही अन्नमय स्थूल शरीरात्मक कोश में विशुद्ध स्वरूप से आधारचक्र में प्रतिष्ठित होकर अपनी अचिन्त्य शक्ति कुण्डलिनी के द्वारा हृदयस्थ स्वात्मा को प्रकाशित करता हुआ सकल शब्दों के परमार्थभूत जो आत्मस्वरूप ब्रह्म है, उसका वाचक होने से स्फोट शब्द से उसका व्यवहार शब्दब्रह्मोपासक करते हैं। इस स्थिति में वाच्यरूप आत्मा के अतिरिक्त वाचकरूप स्फोट प्रतीत होता है। दोनों में पारमार्थिक अभेद का व्यवहार कारण-दृष्टि से ही किया जाता है। जैसे, जिस विशुद्ध ब्रह्म से वाच्य आत्मा का प्रादुर्भाव होता है, उसी ब्रह्म से वाचक स्फोट का भी आविर्भाव हुआ है, इसी कारण दोनों में अभेद का भी व्यवहार किया जाता है।

आत्मा और स्फोट में वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध का व्यवस्थापन

आत्मा और स्फोट में वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध होता है। यह क्यों होता है? और कौन वाच्य तथा कौन वाचक है, इसका समाधान दिया जाता है। सर्वव्यापक परमात्मा का इस स्थूल शरीर में भी एक निश्चित स्थान महर्षियों ने कल्पित किया है। जैसे —

> ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
> भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

हे अर्जुन! ईश्वर सब भूतों को अपनी माया से यन्त्रारूढ के समान घुमाता हुआ समस्त प्राणियों के हृदय-प्रदेश में रहता है। इसका रहस्य यही प्रतीत होता है कि विज्ञानमय कोश ईश्वर का उपादान होने से अत्यन्त स्वच्छ है। इसलिए विज्ञानमय कोश के आकार में ईश्वर का परिणाम या भान (अध्यास) होना सम्भव है और विज्ञानमय कोश हृदय-प्रदेश में ही रहता है। इसी कारण भगवान् का हृदय-प्रदेश में रहना शास्त्रसम्मत है। इसी अभिप्राय से महर्षि याज्ञवल्क्य ने आत्मस्वरूप की उपासना के लिए कहा है —

> द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृता।
> हिताहिता नाम नाड्यः तासां मध्ये शशिप्रभम्॥
> मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः।
> स ज्ञेयः तं विदित्वेह पुनराजायते न तु॥

तात्पर्य यह कि, कदम्ब के केसर के समान हितकर होने से हिता, और अहितकर होने से अहिता नाम की ७२ हजार नाडियाँ हृदय से निकलकर सर्वत्र व्याप्त हैं। उनमें सुषुम्णा नाडी के मध्य हृदय-प्रदेश में आत्मा का आश्रयभूत एक कमल की कल्पना योगियों ने की है। उसी कमल में निश्चल दीप के समान आत्मा की स्थिति बताई गई है, जिसको जानकर मनुष्य आवागमन से रहित हो जाता है। वह हृदयस्थ कामल अधोमुख (जिसका मुख नीचे की ओर हो) बताया गया है। विष्णुस्मृति में लिखा है—'अवाङ्मुखस्य हृत्पद्मस्य मध्ये दीपवत् पुरुषं ध्यायेत्' अर्थात् नीचे की ओर मुखवाले कमल के मध्य में निश्चल प्रदीप के समान प्रकाशमान आत्मा का ध्यान करे। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि हृदयस्थ कमल के अधोमुख होने के कारण वहाँ रहनेवाली आत्मा की रश्मि सदा नीचे की ओर ही जाती है, इसीलिए आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के लिए

शास्त्रकारों ने इन्द्रियों की अन्तःप्रवणता की अपेक्षा बताई है। यही कारण है कि आत्मा का अंशभूत यह जीव भी नाभि के अधोमार्ग से ही माता के हृदय में प्रविष्ट होकर पुनः उसी प्रकार भौतिक शरीर धारण कर अधोमार्ग से ही बाहर आता है। यही सकल प्राणियों की आत्मा का साधारण स्वरूप है।

परन्तु शब्दब्रह्मरूप स्फोट का दूसरा ही स्थान शास्त्रकारों ने निश्चित किया है। उक्त सुषुम्णा नाडी के मध्य में पद्मसूत्र के समान एक आधारचक्र है (जो अमृतानन्द का कारण है)। उस अत्यन्त सुन्दर त्रिकोण, आधारचक्र में विद्युत्-लता के समान कुण्डलिनी शक्ति-सम्पन्न स्वात्मा का प्रकाशक होने से सर्वार्थवाचक परमेश्वर ही जीव के समान स्फोट शब्द का वाच्य होता है। आधार-चक्र में रहनेवाला जो चतुर्दल कमल है, वह सदा ऊर्ध्वमुख ही रहता है। इसी कारण उसमें विद्यमान स्फोट भी सदा ऊर्ध्वमुख ही रहता है, यह सिद्ध होता है। इसलिए, सब अक्षरों का प्रादुर्भाव भी मुख के ही द्वारा होता है, और उपरितः श्रवण-इन्द्रिय के द्वारा ही शरीराभ्यन्तर हृदय-प्रदेश में प्रवेश भी देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ऊर्ध्वमुख आधारचक्र (पद्म) में स्थित जो स्फोट है, और ऊपर हृदय प्रदेश में स्थित अधोमुख द्वादश दलवाले कमल में स्थित जो आत्मा है, उन दोनों में प्रकाश्य-प्रकाशकभाव सम्बन्ध ही हो सकता है।

इससे एक बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि एक ही चैतन्य 'ब्रह्म' केवल स्थान के भेद होने से ही अर्थ और शब्द रूप में वाच्य और वाचक दोनों हो जाता है। परन्तु, एक सन्देह यहाँ और रह जाता है कि आधारचक्र में रहने-वाला ही चैतन्य वाचक होता है और हृदयस्थित कमल में रहनेवाला चैतन्य वाच्य, इसका क्या कारण है? इसका समाधान यह है कि हृदयस्थित आत्मा का तैजस होना प्रायः सब शास्त्रों का सम्मत और विद्वानों को मान्य है। उपनिषदों में भी लिखा है—

> निस्सरन्ति यथा लोहपिण्डात्तप्तात् स्फुलिङ्गकाः।
> सकाशादात्मनस्तद्वत् आत्मानः सम्भवन्ति हि॥

अर्थात्, जिस प्रकार तपाये हुए लौहपिण्ड से स्फुलिङ्ग निकलते हैं, उसी प्रकार हृदयस्थ आत्मा से भी आत्मा निकलते रहते हैं, इसी अभिप्राय से सूक्ष्म शरीराभिमानी आत्मचैतन्य की तैजस संज्ञा समस्त वेदान्तशास्त्रों में वर्णित है और ऊर्ध्वमुख आधारचक्र में स्थित चैतन्य का वायवीय होना समस्त आचार्य

और योगियों ने माना है। लिखा भी है—'हंसः प्राणाश्रयो नित्यम्' इत्यादि। अर्थात्, आधार पद्मस्थित हंस (चैतन्य) सदा प्राणवायु के आश्रित रहता है, इसीलिए वैदिक वैयाकरणों ने प्रातिशाख्य में कहा है—'वायुः खात् शब्दस्तत्'—आकाश से वायु उत्पन्न होता है, वही शब्द है। श्रुति भी कहती है—'वायोरेवायं महिमात्रयीलक्षणः।' अर्थात्, वायु की ही यह महिमा है, जो त्रयीलक्षण (वेद-राशि) है; इसीलिए स्फोट से उत्पन्न शब्दों को वायु का व्यङ्ग्य होना आचार्यों ने बताया है। वायवीय चैतन्य और तैजस चैतन्य में वायवीय चैतन्य (स्फोट) को ही प्रकाशक और तैजस चैतन्य आत्मा का प्रकाश्य होना निश्चित होता है। लोक में भी देखा जाता है कि मुख के फूत्कार-वायु से ही अग्नि को प्रकाशित किया जाता है। इससे यह निश्चित होता है कि—

स्थान के भेद, औपाधिक स्वरूप के भेद और ऊर्ध्व और अधोगति के भेद के कारण वाच्य-वाचक जो आत्मा और स्फोट हैं, उनमें वस्तुतः व्यवहार-दशा में भेद ही रहता है। इसी अभिप्राय से प्रणवरूपी स्फोट का जप और उसके अर्थ (ब्रह्म) की भावना (ध्यान) ही पतञ्जलि ने योगशास्त्र में बताई है—'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्' अर्थात् उस प्रणव का जप और उसके अर्थ (ब्रह्म) का ध्यान करना चाहिए। यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि स्फोट का ही नाम प्रणव है, स्फोट और प्रणव में कुछ भी भेद नहीं है। यहाँ यह अभिसन्धि है।

चेतन-अचेतन का विचार

चेतन और अचेतनात्मक इन दोनों प्रकार की सृष्टि चिदात्मा (ब्रह्म) से ही होती है, तो भी जडात्मक प्रकृति के उपाधि-प्रधान होने से अचेतनत्व-व्यवहार और चित्-प्रधान होने से चेतनत्व-व्यवहार, ये दो प्रकार के व्यवहार उत्पन्न होते हैं। इस अवस्था में 'अतो बुद्धौ चिदाभासः विस्पष्टं प्रतिभासते'—इसी कारण बुद्धि में चित् (चैतन्य) का प्रतिभास (आभास) विस्पष्ट भासित होता है। इस रीति से विज्ञानमय कोश-विशिष्ट में ही यह चेतन है, इस प्रकार का व्यवहार लोक में होता है। जहाँ विज्ञानमय (बुद्धिमय) कोश नहीं है, वहाँ अचेतन (जड) का व्यवहार होता है, जैसे घट, पट आदि, और उसके उपादान पृथिवी आदि में 'यह अचेतन है', इस प्रकार का व्यवहार होता है। इसी कारण चेतन शक्ति ईश्वरीय मानी जाती है। जडवर्ग दो प्रकार के होते हैं—पृथिवी, जल आदि जो उपादान हैं, वे ईश्वरीय माने जाते हैं और पृथिवी आदि उपादान से होनेवाले जो घट आदि कार्य हैं, वे मनुष्यादि जीवकृत माने जाते हैं और वे अनित्य हैं।

इसी प्रकार, परमात्मा के वाचक चैतन्य से अर्थवान् और अनर्थक दोनों प्रका के शब्दों की सृष्टि सम्भव नहीं है। कारण यह है कि वास्तविक अर्थवान् शब्द वही हो सकता है, जो वास्तविक परमार्थ का बोधक हो और जिसका शब्दस्वरू नियत, अर्थात् अपरिवर्त्तनीय हो। और, जो अनियत शब्दस्वरूप है, वह अपारमार्थिक अर्थ घट-पट आदि का बोधक होने से वास्तविक पारमार्थिक अर्थ का बोधक नहीं माना जाता है और इसीलिए अनर्थक भी कहा जाता है। इसमें विशेषत यही है कि पारमार्थिक ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए जो अर्थवान शब्दों के समुदाय हैं, उनका उपादान भी अर्थवान् और अन्य प्रकार की विलक्षण रचना से अलङ्कृत है और सकल साधारण शब्दों के उपादानभूत जो वर्ण हैं वे अन्य प्रकार की रचना से विशिष्ट हैं, यह विलक्षण बात है। ये दोनों प्रका के उपादान प्राकृत या ईश्वरीय हैं, यह मानना ही होगा।

मातृका-स्वरूप का वर्णन

अब उनमें उत्पन्न और सकल शब्दों के कारणभूत जो मातृका-रूप वर्ण (जो साधारण दृष्टि से अनर्थक प्रतीत होने पर भी पृथिवी, जल आदि पञ्चभूत के समान सकल शब्दों का कारण होने से वस्तुतः सार्थक ही हैं) उनके प्रादुर्भा के क्रम का शास्त्रानुसार पहले वर्णन किया जाता है, बाद में परमार्थवाचक शब्द के रचना-क्रम का वर्णन किया जायगा। समझना यह है—

स्फोट तो यथार्थतः प्रणवरूप ही है और प्रणव का प्रादुर्भाव ब्रह्म से ह होता है, अर्थात् जिस ब्रह्म से ईश्वर को द्वार मानकर (ईश्वर के द्वारा) आकाश वायु, तेज, जल, पृथिवी आदि सकल रूपमय सृष्टि के उपादानभूत पञ्चभूत का आविर्भाव होता है, उसी प्रकार उसी ब्रह्म से प्रणव को द्वार मानकर (प्रण के द्वारा) अकार से क्षकार-पर्यन्त पचास वर्णों का प्रादुर्भाव हुआ है।

अभियुक्तों ने लिखा है —

आदिक्षान्ता इमे वर्णाः सम्भूताः परमात्मनः।
द्वारीकृत्य प्रणवकं सर्वशब्दस्य कारणम्॥
अकारात् स्वरसम्भूतिः स्पर्शसृष्टिरुकारतः।
अन्तःस्थोष्मक्षकाराणां मकारात्सम्भवो मतः॥
स्वराः षोडश विज्ञेयाः स्पर्शास्तु पञ्चविंशतिः।
अन्तःस्थाश्च तथोष्माणः वेदवेदमिताः स्मृताः॥

क्षकारो वर्णसंयोगस्योपलक्षणमीरितः ।
ह्रस्वदीर्घावुभौ भेदावनाद्यौ हि प्रकीर्तितौ ॥
प्लुत उत्पत्तिकालीनोऽतः पाश्चात्यो विधीयते ।

इनका तात्पर्य यह है कि अकार से क्षकार-पर्यन्त जो पचास वर्ण हैं, समस्त शब्दमय जगत् के कारण हैं, उनका प्रादुर्भाव उसी पूर्वोक्त ब्रह्म प्रणव के द्वारा हुआ है। 'ओम्' इस प्रणव में अ, उ, म् ये तीन वर्ण हैं। अकार से स्वर (अ, आ, इ, ई इत्यादि), उकार से स्पर्श (क से म तक) मकार से अन्तःस्थ, ऊष्म तथा क्षकार का प्रादुर्भाव हुआ है। स्वर सोलह, पचीस, अन्तःस्थ चार, ऊष्म चार और क्षकार एक—ये सब मिलाकर ५० होते हैं। समस्त संयुक्त वर्णों का उपलक्षण क्षकार है। स्वर में जो ह्रस्व, आदि भेद हैं, वे अनादि हैं। प्लुत उत्पत्तिकालीन होने से पाश्चात्य (पीछे माना गया है। ये ही पचास वर्ण समस्त वाङ्मय जगत् के उपादानकारण गये हैं।

पक वर्णों का स्थूलशरीर में आविर्भाव-प्रकार

स्थुलशरीर में व्यापक वर्णों का जिस प्रकार आविर्भाव होता है, उसका संक्षेप में शास्त्रानुसार इस प्रकार है—

पहले बताया जा चुका है कि मूलाधारचक्र में भगवान् स्फोटब्रह्म का स है, जिनकी रश्मियाँ ऊपर की ओर जाती हैं। उस ऊर्ध्वरश्मिवाले ान् स्फोट के महिमा-प्रदर्शन के लिए तथा सकललोकव्यवहारार्थ इस स्थूल- : में मूलाधार से ललाटस्थ आज्ञाचक्र तक पूर्वोक्त जो चक्र बताये गये हैं, चक्रों में वर्णों के आविर्भाव के लिए योगियों ने उन वर्णों के आश्रयीभूत ों की कल्पना की है। स्फोट की जो वायवीय रश्मियाँ हैं, वे मूलाधार से त होकर (ऊपर उठकर) उन्हीं पद्मपत्रों में वर्णभाव को प्राप्त करती हैं, त् वर्णरूपों में परिणत हो जाती हैं। बाद में कण्ठ, तालु आदि स्थानों के घातों से विभिन्न रूपों में मुख के द्वारा प्रादुर्भूत होती हैं। पुनः श्रोताओं श्रोत्रेन्द्रियों के द्वारा भीतर प्रविष्ट होकर उन पद्मपत्रों में स्थित वर्णों के ही अपने मूलकारण स्फोट में लीन हो जाती हैं। यही वर्णों के आविर्भाव तिरोभाव का क्रम है।

वर्णों के आश्रयीभूत पद्मपत्रों का निर्देश

चक्रों में जो पद्म बताये हैं, उनका निर्देश करना जिज्ञासुओं के उपकार के लिए आवश्यक है। इसलिए संक्षेप में दिखाया जाता है। वैदिक लोग प्रतिमा में जो प्राण-प्रतिष्ठा कराते हैं, उसमें अन्तर्मातृका का न्यास होता है। उसी में समस्त शब्दों के उपादानभूत पारमार्थिक स्फोट-तत्त्व का प्रकाशक मातृका नाम का जो शब्द-तत्त्व है, उसका ध्यान करने के लिए तान्त्रिक लोग एक श्लोक पढ़ते हैं—

आधारे लिङ्गनाभौ हृदयसरसिजे कण्ठदेशे ललाटे
द्वे पत्रे षोडशारे द्विदशदशदले द्वादशार्धे चतुष्के।
वासान्ते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वराणाम्
हं क्षं तत्त्वार्थयुक्तं सकलदलगतं वर्णरूपं नमामि॥

(योगसूत्रभाष्य)

अभिप्राय यह है कि आधार = मूलाधार, लिङ्गमूल, नाभि, हृदय, कण्ठदेश और ललाट—इन स्थानों में छह चक्रों की कल्पना योगियों ने की है। उनके प्रत्येक चक्र में एक-एक कमल की भी कल्पना की गई है। उनमें आधार-चक्र में चतुर्दल कमल है, लिङ्गमूल में षड्दल, नाभि में दशदल, हृदय में द्वादशदल, कण्ठ में षोडशदल और ललाट में द्विदल कमल है। उन कमलों के एक-एक (पत्र) पर एक-एक वर्ण के आविर्भाव होने का स्थान है। जैसे, आधारचक्र में वर्तमान चार दलवाले कमल में व से स तक—व, श, ष और स ये चार वर्ण प्रत्येक दल में एक-एक हैं। लिङ्गमूलस्थ षड्दलवाले कमल में ब से ल तक अर्थात् ब, भ, म, य, र, और ल तक ये छह वर्ण हैं। नाभिस्थ दशदल-वाले कमलदलों में ड से फ तक ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प और फ ये दस वर्ण प्रत्येक दल में एक-एक हैं। हृदयस्थ द्वादशदलवाले कमल में क से ठ तक बारह वर्ण, अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट और ठ ये ही बारह वर्ण प्रत्येक दल पर एक-एक हैं। कण्ठदेशस्थ सोलह दलवाले कमल में स्वर, अर्थात् अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ औ, अं अः ये सोलह वर्ण प्रत्येक दल में रहते हैं तथा दो दलवाले ललाटस्थ कमल में हं, क्षं ये दो वर्ण रहते हैं।

इस प्रकार, मूलाधार से ललाट-पर्यन्त छह स्थानों में छह कमलों और उनके पचास दलों की जो कल्पना की गई है (जिनमें उक्त पचास वर्णों की अभिव्यक्ति होती है) वह निरर्थक कपोल-कल्पित या निराधार नहीं है। उसमें एक गूढ रहस्य है। जब वक्ता किसी अर्थ के वाचक शब्द का प्रयोग करना चाहता है, तब उसकी आत्मा उस अर्थ को बुद्धि से लेकर कहने की इच्छा से मन के साथ संयोग करती है, मन कायाग्नि (जो नाभिस्थ स्वाधिष्ठानचक्र में स्थित है, को विवक्षात्मिका शक्ति से प्रेरित करता है, वह कायाग्नि भी मूलाधारस्थ वायु को प्रेरित करता है। वह वायु अपने स्थान से उद्गत होकर ऊपर की ओर चलता है, तो उसी विवक्षा (कहने की इच्छा) शक्ति से उस अभीष्ट वर्ण के स्थान का स्पर्श करता है, जिस स्थान को योगियों ने उपयुक्त वर्णों के आधारभूत कमलदलों के रूप में देखा है। ये ही वर्णों के आभ्यन्तर प्रयत्न हैं। कण्ठ, तालु, ओष्ठ आदि जो वर्णों के स्थान बताये गये हैं, वे तो ब्रह्मस्थान हैं। बिना आभ्यन्तर स्थानों के स्पर्श किये इन वर्णों की अभिव्यक्ति कदापि नहीं हो सकती। जिस प्रकार ओष्ठों को सटाये बिना प, फ आदि वर्णों का उच्चारण नहीं कर सकते और कण्ठस्पर्श के क ख आदि वर्णों का उच्चारण नहीं हो सकता, उसी प्रकार आभ्यन्तर स्थानों के स्पर्श किये बिना किसी अभीष्ट वर्ण का उच्चारण असम्भव है। तत्-तत् आभ्यन्तर स्थानों के स्पर्श होने पर ही उन स्थानों में वर्णों का आविर्भाव होना युक्तियुक्त प्रतीत होता है। कण्ठ, ओष्ठ आदि बाह्य स्थानों के स्पर्श का अनुभव तो प्रायः सबको प्रत्यक्ष है, परन्तु वर्णों के मूल आधारस्थान का साक्षात्कार केवल योगियों को ही होता है।

स्फोट आदि अतीन्द्रिय पदार्थों के साक्षात्कार के लिए दिव्यदृष्टि की आवश्यकता

जब प्राणायाम-प्रत्याहार के द्वारा बहिर्मुखी चित्तवृत्ति को रोककर धारणा-समाधि के द्वारा योगशास्त्र में बताये गये षट्चक्र-भेदन प्रक्रिया के अनुसार निरन्तर अभ्यास किया जाता है, तभी पश्यन्ती का साक्षात्कार होने से उन आभ्यन्तर वर्णों के स्थानों का अनुभव प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। उसी अवस्था में प्रकाश का आविर्भाव होता है। उस प्रकाश का साक्षात्कार जिसको हो जाता है, वही सफल वैयाकरण है। उसीका आधिपत्य वाङ्मय जगत् के ऊपर होता है और वही निर्विकल्प समाधि में परा शक्ति का साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो जाता है। उसी को लक्ष्य कर महाभाष्यकर पतञ्जलि ने 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस सूत्र

के भाष्य में 'के पुनः शिष्टाः' इस प्रश्न के उत्तर में कहा है—'वैयाकरणाः', अर्थात् वैयाकरण शिष्ट हैं। क्योंकि, इन्हीं को उक्त योगयुक्ति से प्रकाश का आविर्भाव हुआ है। कैयट ने उक्त भाष्य के व्याख्यान में लिखा है—

आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावं वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥

शिष्ट की परिभाषा देते हुए भाष्यकार ने कहा है—'एतस्मिन्नार्यावर्त्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्याः अलोलुपाः अगृह्यमाणकारणाः किंचिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारङ्गताः तत्रभवन्तः शिष्टाः।' तात्पर्य यह कि जिनका निवास आर्यावर्त्त में हो, जिनके पास कुम्भीमात्र ही धान्य हो, कुछ लोभ न हो, दृष्ट कारण के विना ही सदाचार के निरन्तर अनुष्ठान के अभ्यास से अन्तःकरण की शुद्धि होने से अविद्यानिवृत्तिपूर्वक दिव्यज्ञान जिनको प्राप्त हो गया हो, और विना गुरु के उपदेश अथवा अभ्यास के ही सब विद्याओं में पारङ्गत हों, वे ही वास्तविक शिष्ट और शब्दों के साधुत्वज्ञान में प्रमाणभूत वैयाकरण हैं। इसी अभिप्राय से कैयट ने उपर्युक्त दो श्लोकों का उद्धरण दिया है। उनका तात्पर्य यह है कि सदाचारादि के अनुष्ठान से जिसकी अविद्या की निवृत्ति हो गई, योगाभ्यास के निरन्तर अनुष्ठान से जिसको सर्ववस्तु-विषयक ज्ञान का आविर्भाव हो गया है और विहित कर्मों के अनुष्ठान से जिसका अन्तःकरण विशुद्ध हो गया है, उसका अतीत (भूत) और अनागत (भविष्य) का जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष से कुछ विशेष नहीं होता, अर्थात् विद्यमान वस्तुविषयक जो हम लोगों का प्रत्यक्ष है, उससे विशिष्ट नहीं होता। अर्थात्, विद्यमान वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान जिस प्रकार हम लोगों को होता है, उसी प्रकार भूत-भविष्यद् वस्तु का भी ज्ञान उन लोगों को हो जाता है।

'अतीन्द्रियान्' इत्यादि का अर्थ यह होता है कि जो वस्तु वाक् इन्द्रिय के प्रत्यक्ष का विषय नहीं है और अन्य पुरुष मन से भी जिसका ज्ञान नहीं कर सकते, उस अतीन्द्रिय और असंवेद्य वस्तु का भी प्रत्यक्ष ज्ञान जो उस आर्षचक्षु, अर्थात् योगाभ्यासजनित दिव्यचक्षु से कर लेते हैं, उनका वचन अनुमान से बाधित नहीं होता। इसका निष्कर्ष है कि शिष्टों के वचन के विरुद्ध अनुमान

नहीं होता और अतीन्द्रिय पदार्थों के साक्षात्कार के लिए आर्षचक्षु (दिव्यदृष्टि) की आवश्यकता है। इसीलिए, भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने अलौकिक स्वरूप को दिखाने के लिए इस भौतिक चक्षु को अनुपयोगी बता कर दिव्य चक्षु प्रदान किया है—'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' इत्यादि।

स्फोटत्व का व्यवहार संस्कृत-शब्दों में ही क्यों होता है ?

जो उपर्युक्त पचास वर्ण बताये गये हैं और उनके आधारभूत पद्मों की जो कल्पना की गई है, वह ईश्वर कृत या प्राकृत ही मानी गई है। जिस प्रकार कुलाल मिट्टी आदि को उपादान बनाकर अपने अभीष्ट घट आदि का निर्माण करता है, उसी प्रकार इन्हीं पचास उपयुक्त वर्णों को उपादान बनाकर यथेष्ट शब्दों का लोक में व्यवहार किया जाता है। जिस प्रकार लोक-निर्मित घट-पट आदि पदार्थ जड माने जाते हैं, उसी प्रकार जीवों से उच्चार्यमाण अपभ्रंश-शब्द भी वस्तुतः अनर्थक ही माने जाते हैं। इसी कारण उसकी प्रातिपदिक संज्ञा भी नहीं होती। इसी प्रकार, वृद्धों का व्यवहार अनादि काल से प्रचलित है।

यद्यपि बहुत-से विद्वानों ने अपभ्रंश में भी व्यवहार से शक्ति की कल्पना कर अर्थवत्त्व का होना स्वीकार किया है, और उसकी प्रातिपदिक संज्ञा के न होने में कारण यह बताया है कि व्याकरणसूत्रों की प्रवृत्ति साधु शब्द के बनाने के लिए ही होती है, वे असाधु शब्द में प्रवृत्त नहीं होते। परन्तु, इस प्रकार गौरवग्रस्त कल्पना करने की अपेक्षा वास्तविक अर्थवत्त्व के न होने से प्रातिपदिक संज्ञा की प्राप्ति ही नहीं मानना युक्त प्रतीत होता है। लोक में भी जलाहरण आदि क्रिया का कर्त्ता घट होता है, तो भी उसमें पुरुषों के समान चेतनता का व्यवहार नहीं होता कि यह चेतन है। कारण यह है कि उस घट पट आदि में तामस प्रकृति के अधिक उद्भूत होने से लेशमात्र भी चैतन्य का उद्गम नहीं होता। इसी प्रकार, अपभ्रंश-शब्दों में भी वास्तविक अर्थ के प्रकाशक स्फोट-अंश का लेशमात्र भी उद्भूत न होने से पुरुषनिर्मित अपभ्रंश-शब्दों के लौकिक अर्थ के बोधक होने पर भी वस्तुतः उनको अर्थवत् नहीं माना जाता। इसी कारण अपभ्रंशों में स्फोटत्व का व्यवहार नहीं होता, यह वृद्धों का व्यवहार है। यहाँ यह शङ्का होती है कि वर्णात्मक तो समस्त शब्द हैं—चाहे संस्कृत के हों या लोक-प्रसिद्ध भाषा के, परन्तु स्फोटत्व का व्यवहार संस्कृत-शब्दों में ही क्यों होता है, और भाषा-शब्दों में क्यों नहीं ? इसमें क्या विलक्षणता है ? इसका उत्तर है कि चैतन्यप्रधान जो पूर्वोक्त बिन्दु है, वह चेतनात्मक रूपसृष्टि करने के लिए

पञ्चकोशविशिष्ट शरीर में स्वयमेव आविर्भूत होगा है; क्योंकि उस प्रकार चेतनात्मक सृष्टि मनुष्य नहीं कर सकता। तत्-तत् वस्तुओं के संयोग आदि से उसकी प्रतिकृति बना देने पर भी उसमें चैतन्य देकर चेतन व्यवहार के योग्य बनाने में कोई भी विज्ञानवेत्ता आजतक सफल नहीं हुआ है। इसी कारण चेतनात्मक जगत् ईश्वरीय ही माना जाता है।

इसी प्रकार, स्वात्मचैतन्य का प्रकाशक विशुद्ध चैतन्य-रूप जो प्रणवात्मक भगवान् स्फोट हैं, वे यदि स्वयमेव ईश्वरेच्छा से स्वात्मप्रकाशक शब्दों के रूप में परिणत या आविर्भूत हों, तभी उन शब्दों[1] में स्फोटत्व का व्यवहार युक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस स्थिति में स्वात्मतत्त्व के प्रकाशन के लिए वाचक-रूप जो प्रणवात्मक भगवान् स्फोट हैं, वे ही क, ख, ग आदि मातृका-वर्णों से विलक्षण रचना विशिष्ट 'अ, इ, उण्' इत्यादि वर्णसमाम्नाय के रूप में स्वयम् आविर्भूत हुए हैं, ऐसा शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है।

असंख्याः मूर्त्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः।
उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः॥

इस मनु के वचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस प्रकार वाच्यस्वरूप परमात्मा के शरीर से लिङ्गशरीर-युक्त असंख्य क्षेत्रज्ञ (जिसको तैजस भी कहते हैं) अग्नि से स्फुलिङ्ग के समान निकलते रहते हैं, बाद में वे ही पञ्चकोशविशिष्ट शरीर से युक्त होकर धर्माधर्म-फल का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार वाचक-रूप प्रणव नाम का जो स्फोट है, उससे भी अनेक प्रकार के वाक्यस्फोट (जिसका दूसरा नाम मन्त्र भी है) निकलते रहते हैं जो अपने स्वरूप को स्फोटित (प्रकाशित) करते हुए प्राणियों के धर्म और मोक्ष के साधक होते हैं।

स्फोट का उदाहरण और पदस्फोट का मुख्यत्व-व्यवस्थापन

उपर्युक्त कथन का गूढ रहस्य यह है कि जिस प्रकार आत्मा धर्माधर्म का फल भोगने के लिए जडात्मक पृथिवी आदि की अपेक्षा विलक्षण ही पञ्चकोश-विशिष्ट शरीर को उन्हीं पञ्चभूतों को लेकर ग्रहण करता है, उसी प्रकार रूपप्रणवात्मक स्फोट भी धर्म और ब्रह्म के स्वरूप-प्रकाशन के लिए वर्ण, पद और वाक्यस्फोटविशिष्ट व्याहृति और ओङ्कार के साथ मन्त्रब्राह्मण नामक अलौकिक वेदस्वरूप को ग्रहण करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार पञ्चकोश-विशिष्ट शरीर में ही चेतनत्व या आत्मत्व का व्यवहार होता है, उसी प्रकार

प्रणवविशिष्ट वैदिक वाक्यों में ही स्फोट का व्यवहार होना युक्त प्रतीत होता है। इसी कारण वैदिक वाक्य को ही वाक्यस्फोट का मुख्य उदाहरण समझना चाहिए। जिस प्रकार ईश्वर सकल समष्टि के नियमन करने के लिए ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि देवताओं के रूप में आविर्भूत होकर समस्त चेतन-सृष्टि का कारण होता हुआ सब प्राणियों का नियमन करता है, उसी प्रकार प्रण वात्मक स्फोट भी परमार्थ का वाचक होने के कारण वास्तविक अर्थवान् जो मन्त्रब्राह्मणात्मक वाक्यस्फोट हैं, उनके आविर्भाव के लिए और स्फोट-तत्त्व के प्रकाशन के लिए भी उन्हीं मातृका-वर्णों को लेकर मातृकावर्णों से विलक्षण एक विशिष्ट रचना को धारण कर अक्षरसमाम्नाय नाम से 'अ, इ, उण्' इत्यादि अर्थवत् (सार्थक) वर्णों के रूप में वर्णस्फोट नाम से प्रकाशित (आविर्भूत) हुआ, इसीलिए इसको अक्षर-समाम्नाय या अक्षर वेद कहते हैं।

वर्णस्फोट-रूप में यही अक्षरसमाम्नाय (अ इ उण् आदि) समस्त वेद-प्रतिपाद्य अर्थों को सूक्ष्मतया प्रकाशित करता है। इस स्थिति में वर्णस्फोट के इसी 'अ इ उण्' आदि वर्णसमाम्नाय को वर्णस्फोट का मुख्य उदाहरण समझना चाहिए। इसका रहस्य यह है कि आत्मा वाच्य है, और प्रणवात्मक स्फोट वाचक, इस अवस्था में समस्त रूपमय (रूपात्मक) जगत् वाच्यभूत आत्मा का ही परिणाम या विवर्त्त माना जाता है। इसी प्रकार शब्दमय जगत् वाचकभूत प्रणव नाम के स्फोट का परिणाम अथवा विवर्त्त है। कारण यह है कि ब्रह्म (आत्मा) के साक्षात् वाचक प्रणव से आविर्भूत जो वर्णसमाम्नाय 'अ, इ, उण्' इत्यादि वर्ण हैं (जो समस्त मन्त्रों के उपादानभूत हैं) उनको अनर्थक किसी प्रकार भी नहीं मान सकते। कारण यह है कि अनर्थक मानने पर इसका अक्षरवेद या अक्षरसमाम्नाय शब्द से जो व्यवहार शास्त्र या लोक में प्रसिद्ध है, वह कदापि नहीं हो सकता।

'अ इ उण्' आदि सूत्रों के वर्णसमाम्नायत्व का व्यवस्थापन

इसके बाद 'अइउण्' इत्यादि सूत्रों के अक्षरवेदत्व-व्यवस्थापन के लिए महर्षियों द्वारा प्रदर्शित अलौकिक अर्थ का प्रदर्शन जिज्ञासुओं के लिए करना आवश्यक प्रतीत होता है। यह अलौकिक अर्थ नन्दिकेश्वर मुनि ने मुनियों से कहा है। यह इतिहास किसी विद्वान् को अविदित नहीं है कि स्वयं भगवान् शङ्कर ने सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन और नन्दिकेश्वर आदि मुनियों की तपस्या से सन्तुष्ट होकर उनके उद्धार की

कामना से प्रेरित होकर ढक्कानिनाद के व्याज से चतुर्दशसूत्रात्मक तत्त्वों का उपदेश किया। उसके बाद समस्त मुनियों ने परस्पर विचार किया कि बहुत काल तक तपस्या करने से प्रसन्न होकर हमलोगों के उद्धार के लिए ही भगवान् शङ्कर ने ढक्कानाद के व्याज से तत्त्व का उपदेश किया है, परन्तु हमलोगों की समझ में नहीं आता है। इन सूत्रों का यथार्थ अर्थ परम दयालु भगवान् शङ्कर के परम अनुग्रह के पात्र नन्दिकेश्वर ही जान सकते हैं इसलिए उन्हीं से पूछना चाहिए। ऐसा विचार कर सब मुनियों ने उनके पास जाकर प्रणतिपूर्वक सूत्रों का तत्त्वार्थ पूछा। महामुनीश्वर नन्दिकेश्वर ने निम्नविवृत २७ कारिकाओं में उन लोगों को तत्त्वोपदेश करने के उपक्रम में यह कहा—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्।
उद्धर्त्तु कामः सनकादिसिद्धान् एतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्॥

नटराजराज भगवान् शङ्कर अपने आत्मतत्त्व को प्रकाशित करने के लिए ढक्कानिनाद के व्याज से सनकादि मुनियों के उद्धार के लिए अपने अन्तःस्थित आत्मतत्त्व को प्रकाशित करते हुए नृत्त के अन्त में चौदह बार ढक्का (डमरू) को बजाया। उससे जो भी वर्ण निकले, वह मातृका निकले। वे यद्यपि क, ख, आदि मातृका-रूप में सनातन हैं, तथापि परमार्थ का प्रकाशक मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद में प्रवृत्ति के लिए अखण्ड पदस्फोट-रूप जो प्रणव है, उसी से उद्भूत वर्ण-स्फोटात्मक मातृका-वर्ण क, ख, ग, आदि से विलक्षण अ इ उण् आदि के रूप में शिव ने प्रकट किया। श्लोक में 'शिवसूत्रजालम्' का तात्पर्य है—शिव के प्रोक्त अतिरहस्य-रूप सूत्रजाल। अथवा शिव कल्याण को भी कहते हैं, इससे यह अर्थ हुआ कि सकल वेद-मन्त्रों के उपादान होने से कल्याण-रूप सूत्रसमूह। 'विमर्शे' का तात्पर्य है, 'विचार्य स्फोटीकरोमि'—विचारकर प्रकाशित करता हूँ। 'विमर्शे' यह प्रयोग क्रिया के रूप में छान्दस है।

अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यं वर्णचतुर्दशम्।
धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये॥

इन सब सूत्रों के अन्त्यवाले चौदह वर्णों का उपदेश भगवान् महेश्वर ने पाणिनि आदि महर्षियों की इष्टसिद्धि के लिए किया है, जो धात्वर्थ हैं, अर्थात् धातुमूलक शब्दशास्त्रप्रवृत्त्यर्थ हैं। इससे यह सूचित होता है कि अनुबन्धों को महेश्वर ने ही लगाया है और, वे भी आदि अन्त-रहित और वेद के भी मूल हैं। 'धात्वर्थ' से यह सूचित होता है कि उन्हीं अनुबन्धों से धातुओं की कल्पना की

अर्थात् अन्त्य वर्णों से ही धातु उत्पन्न हुए हैं।

अकारो ब्रह्मरूपः स्यात् निर्गुणः सर्ववस्तुषु।
चित्कलामिं समाश्रित्य जगद्रूपमुदीरितः॥

प्रथम सूत्र से सब वर्णों तथा समस्त भुवनों का समुद्भव (उत्पत्ति) रूप स्वात्मतत्त्व का उपदेश किया गया है, ऐसी प्रतीति होती है। उसी बात को दिखाने के लिए कहते हैं—'अकारः' इत्यादि। अकारः = 'अइउण्' का अकार निर्गुण परमात्मा 'इ' चित्कला = माया का आश्रयण कर 'उण्' अर्थात् सगुण सर्वव्यापक रूप में आविर्भूत हुआ, अथवा निर्गुण परमात्मा चित्कला माया का आश्रयण कर सगुण व्यापक रूप में भासित होता है। पहलेस्वर सृष्टि-क्रम में अ. इ. उ. ऋ. ऌ. इन्ही पाँच स्वरों का आविर्भाव हुआ। इन्हीं पाँच स्वरों से पञ्चभूत और पञ्चवर्गों का आविर्भाव होता है। पञ्चभूतों के द्वारा समस्त रूपात्मक जगत् और वर्णों के द्वारा सकल शब्दमय जगत् की सृष्टि हुई। इन सन्दर्भों से यही प्रतीत होता है कि वर्णों की उत्पत्ति के क्रम में पहले अ का ही प्रादुर्भाव हुआ है। 'ओम्' में भी पहला अक्षर अकार ही है। इसी अभिप्राय से भगवान् के उपदेशामृत—भगवद्गीता में स्वयं भगवान् ने ही कहा—'अक्षराणामकारोऽस्मि', मैं अक्षरों में अकार हूँ।

इसके अनन्तर इसी सूत्र की विशद व्याख्या छह कारिकाओं में है—

अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमेश्वरः।
आद्यमन्त्येन संयोगात् अहमित्येव जायते॥

इस कारिका से 'आदिरन्त्येन सहेता' यह सूत्र भी सूचित होता है। आदि, अर्थात् 'अ इ उण्' का अकार, अन्त्य = 'हल्' सूत्र का हकार ये दोनों मिलकर अहम् प्रत्याहार बनता है। इस अहम् के भीतर जितने वर्ण हैं, वे सब ईश्वर का वाचक जो प्रणवात्मक स्फोट वस्तु है, उसी से ही आविर्भूत होते हैं। यही बात विशद रूप में आगे कही गई है—

सर्वं परात्मकं पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिदं जगत्।
ज्ञप्तेर्बभूव पश्यन्ती मध्यमा वाक् ततः परम्॥

वक्त्रे विशुद्धिचक्राख्ये वैखरी सा मता ततः ।
सृष्ट्याविर्भावमाध्यात्मं मध्यमावाक्समायुतम् ॥

इसका अभिप्राय यह है कि आधारचक्र-स्थित पराशक्त्यात्मक स्फोट-तत्त्व ही, जिसको शब्दब्रह्म भी कहते हैं, परमात्मा का प्रकाशक है। वही अनादि जीवोपाधि के आश्रित होकर कर्मप्रेरित प्राणवायु के व्यापार के बाद नाभिचक्र में जाकर पश्यन्ती के रूप में परिणत होता है। बाद में वही उसी प्राणवायु की सहायता से हृदयस्थ अनाहतचक्र में मध्यमा शब्द का वाच्य होता है। इसके बाद में उसी वायु की जो सहायता है, उसके द्वारा कण्ठस्थ विशुद्धिचक्र में जाकर वैखरी नाम से विभूषित हो, सकल वेद, शास्त्र, पुराणादि समस्त वाङ्मय जगत् के आकार में परिणत होती है या इन्हीं के आकार में भासित होती है। इस वास्तविकता को श्रुति भी पुष्ट करती है—'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे' अर्थात् परा नाम की वाक्शक्ति ही समस्त विश्व शब्दों के आकार में भासित होती है। इसी का उपसंहार दो श्लोकों से किया गया है—

अकारं संनिधिं कृत्य जगतां कारणत्वतः ।
इकारः सर्ववर्णानां शक्तित्वात् कारणं मतम् ॥

जगत् स्रष्टुमभूद् वाञ्छा यदाद्यस्य सदाभवन् ।
कामबीजमिति प्राहुः मुनयो वेदपारगाः ॥

इसी की पुष्टि करने के अभिप्राय से आगे कहते हैं—

अकारो ज्ञप्तिमात्रः स्याद् इकारश्च कला मता ।
उकारो विष्णुरित्याहुः व्यापकत्वान्महेश्वरः ॥

इसका भावार्थ यह है कि 'अ' शब्द कार्यकारण से रहित परमात्मा का वाचक है, इकार इसकी शक्ति है। वही सकल वाक् का कारण है। सकल जगत् के कारण होने से 'इकार' ही आकाररूपी चेतन परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त कर समस्त वर्णों का कारण होता है। सृष्टि करने के लिए परमात्मा की जो वाञ्छा (इच्छा) होती है। उसी को वेदपारग मुनि कामबीज कहते हैं। इसी को दृढ करने के लिए आगे कहते हैं—'अकारो ज्ञप्तिमात्रः स्यात्' इत्यादि। अकार ज्ञप्ति (ज्ञान) मात्र है, इकार कला है और उकार व्यापक होने से विष्णुरूप है और वही महेश्वर है।

यहाँ एक शङ्का उत्पन्न होती है कि समस्त वेदान्तदर्शन में परमात्मा को अद्वैत माना गया है और यहाँ कहा गया है—चित्कला माया (जो द्वितीय है) का आश्रयण कर जगत्-रूप हो गया; इस प्रकार कहने से अद्वैत-सिद्धान्त ही नहीं बन पाता। इस विरोध को देखकर आगे कहते हैं—

ऋलृक् सर्वेश्वरो मायां मनोवृत्तिमदर्शयत्।
तामेव वृत्तिमाश्रित्य जगद्रूपमजीजनत्॥

भावार्थ है 'ऋ' परमेश्वर ने 'लृ' माया नाम की अपनी इच्छात्मिका मनोवृत्ति को ही दिखाया है, अर्थात् ईश्वर इच्छात्मिका मनोवृत्ति का ही आश्रयण कर जगत् को उत्पन्न करता है। तन्त्रों में भी लिखा है—'मम चाभूत्मनो रूपं लृकारः परमेश्वरी' इत्यादि। अर्थात्, मेरा मनरूपी लृकार ही परमेश्वरी माया कही जाती है। इसीलिए ऋ और लृ को परस्पर तादात्म्यापन्न बताया गया है, अर्थात् दोनों का तादात्म्य (अभेद) है। इसी अभिप्राय से आगे कहते हैं—

वृत्तिवृत्तिमतोरत्र भेदलेशो न विद्यते।
चन्द्रचन्द्रिकयोर्यद्वत् यथा वागर्थयोरिव॥

यहाँ इव शब्द पादपूर्त्ति के लिए ही समझना चाहिए; क्योंकि वह यथा शब्द से ही गतार्थ हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि वृत्ति और वृत्तिमान्, अर्थात् शक्ति और शक्तिमान् में भेद का लेश भी नहीं है, जिस प्रकार चन्द्र और चन्द्रिका, शब्द और अर्थ में भेद नहीं होता। इसी अभिप्राय से वाक् और अर्थ में कोई-कोई लेशतः भेद स्वीकार करते हैं।

स्वेच्छया स्वस्य चिच्छक्तौ विश्वमुन्मीलयत्यसौ।
वर्णानां मध्यमं क्लीबमृलृग् वर्णद्वयं विदुः॥

असौ = वह परमात्मा अपनी इच्छाशक्ति से ही चिदाभास ग्रहण करने योग्य अपनी चिच्छक्ति (जिसको जगत् के कारणभूत माया भी कहते हैं) में विश्व को उत्पन्न करता है। शास्त्रकारों ने लिखा है—'मम योनिरभूद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्'। यहाँ 'क्लीब' शब्द से ब्रह्मस्वरूप का बोधन होता है। परन्तु, यह मान लेने पर भी यह शङ्का होती है कि जन्यजनकभाव मानने पर भी अद्वैत की हानि होती है। इसके उत्तर में कहा गया है—'तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्।' इसी सिद्धान्त से आगे कहते हैं—

एऒङ् मायेश्वरात्मैक्यविज्ञानं सर्ववस्तुषु ।
साक्षित्वात् सर्वभूतानां स एक इति निश्चितम् ॥

यहाँ जन्यजनक शब्द से तत्-तद् रूप से निवर्त्तन (भासित होना) समझना चाहिए, इसीलिए अद्वैत की हानि नहीं होती है। इसका आशय यह है कि अकार, उकार और मकार से निष्पन्न ओङ्कार से सगुण और निर्गुण दोनों के ऐक्य-बोधन होने पर भी उसी दृष्टान्त से सर्वत्र ऐक्यबुद्धि होने पर द्वैत का नाश ही ध्वनित होता है। समष्टि और व्यष्टि के भेद से पूर्ववर्ण से युक्त द्वितीय का और उससे युक्त तृतीय का समन्वय-बोधन के लिए यह सूत्र है।

ए, ऐ, ओ और औ ये सन्ध्यक्षर वर्ण कहे जाते हैं। अकारात्मक, अर्थात् अ (ब्रह्म) इ (माया) से युक्त होकर जो एकार हुआ, वह अनुज्ञान रूप में 'उ' से युक्त होकर ओकार हो जाता है। 'प्रज्ञानं ब्रह्म', इस सिद्धान्त से विज्ञान या प्रज्ञान-रूप से समस्त वस्तु वास्तव में एक ही होता है। इस अवस्था में नानात्व के अभाव होने से अद्वैत (द्वैताभाव) सिद्धान्त सूपपन्न हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वटबीजन्याय से अ, इ, उ, ऋ और लृ ये ही पाँच वर्ण समस्त वर्णों के योनि (कारण) होते हैं।

अब यह प्रश्न होता है कि स्वात्मभूत परमेश्वर जगत् का कारण किस प्रकार होता है? इस आशङ्का का उत्तर देते हैं—

'ऐऔच्' ब्रह्मस्वरूपः सन् जगत् स्वान्तर्गतं ततः ।
इच्छया विस्तरं कर्त्तुमाविरासीन्महामुनिः ॥

आ + ई = ऐ, आ + ऊ = औ, अर्थात्, शक्तिविशिष्ट जो कारण पहले कह चुके हैं वही कुछ सूक्ष्मरूप को धारण कर सूक्ष्मरूप से अपने कारणस्वरूप में स्थित जो जगत् है, उसे विस्तार करने के लिए प्रादुर्भूत होता है। इस प्रकार, कारणस्वरूप का प्रतिपादन कर कार्यभूत ब्रह्म का प्रतिपादन करने के लिए उपक्रम करते हैं—

भूतपञ्चकमेतस्माद् हयवर महेश्वरात् ।
व्योमवाय्वम्बुवह्न्याख्यभूतान्यासीत् स एव हि ॥

ह, य, व, र-स्वरूप जो महेश्वर है, उसी से पाँच भूतों की उत्पत्ति है। व्योम (आकाश), वायु (पवन), अम्बु (जल) और वह्नि (अग्नि) इन भूतों के रूप में वह महेश्वर थे।

हकाराद् व्योमसंज्ञश्च यकाराद् वायुरुच्यते ।
रकाराद् वह्निस्तोयन्तु वकारादिति शैववाक् ॥

हकार से आकाश, यकार से वायु, रकार से अग्नि और वकार से जल उत्पन्न हुआ, यह शिववाक्य है। अब यहाँ शङ्का होती है कि पूर्व में पाँच भूतों की उत्पत्ति की प्रतिज्ञा कर यहाँ चार की ही उत्पत्ति क्यों दिखाई ? इसके समाधान के लिए आगे कहते हैं—

आधारभूतं भूतानामन्नादीनाञ्च कारणम् ।
अन्नाद्रेतस्ततो जीवः कारणत्वाल्लणीरितम् ॥

उद्भिज, स्वेदज, जरायुज और अण्डज इन चार प्रकार के भूतों के और अन्नादि के प्रधान कारण होने से आधारभूत पृथिवी 'लण्' सूत्र स्थल से उत्पन्न होती है। इसी अभिप्राय से आकाश का बीज 'हं', वायु का 'यं', अग्नि का 'रं', जल का 'वं' और पृथिवी का 'लं' तन्त्रशास्त्रों में बताया गया है। इसके बाद तन्मात्राओं की उत्पत्ति का क्रम बताया जाता है—

शब्दस्पर्शौ रूपरसगन्धाश्च ञमङणनम् ।
व्योमादीनां गुणा ह्येते जानीयात् सर्ववस्तुषु ॥

क, ख ग आदि पाँच वर्गों के अन्त्य वर्णों से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। ये पाँचों तन्मात्र भौतिक पदार्थमात्र में रहते हैं।

कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति का प्रकार—

वाक्पाणीच झभञासीत् विराड्रूप चिदात्मनः ।
सर्वजन्तुषु विज्ञेयं स्थावरादौ न विद्यते ॥
वर्गाणां तुर्यवर्गा (र्णा) ये कर्मेन्द्रियगणा हि ते ।
घढधष् सर्वभूतानां पादपायुह्युपस्थकाः ॥

उपर्युक्त श्लोक में 'उपस्थका' यही पाठ प्राचीन पुस्तकों में उपलब्ध होता है। वहाँ सन्धि का अभाव आर्षत्वात् समझना चाहिए। इनका तात्पर्य यह है—वर्गों के चतुर्थ वर्ण जो झ भ, घ, ढ और ध के रूप में चिदात्मक का विराट् स्वरूप है, उसी से वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पाँच इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है, जो जङ्गम-मात्र में रहते हैं, स्थावरों में नहीं।

ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति का प्रकार

श्रोत्रत्वङ्नयनघ्राणजिह्वाधीन्द्रियपञ्चकम्।
सर्वेषामपि जन्तूनामीरितं जबगडदश॥

श्रोत्र, त्वक्, अक्षि (नेत्र) घ्राण, जिह्वा—इन ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति ज, ब, ग, ड और द इन पाँच वर्णों से क्रमशः होती है, जो समस्त जन्तुओं में विद्यमान हैं। मन्त्रशास्त्रों में भी लिखा है—'वर्गेषु मध्यमा वर्णाः ज्ञानेन्द्रियगणाः स्मृताः'। वर्गों में उक्त मध्यम वर्णों से ही ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।

प्राणादि पञ्चक और अन्तःकरण के उद्भव-प्रकार

प्राणादि पञ्चकञ्चैव मनोबुद्धिरहङ्कृतिः।
बभूव कारणत्वेन ख फ छ ठ थ च ट तत्॥
वर्गद्वितीयर्णोत्थाः प्राणादिपञ्च वायवः।
मध्यवर्गत्रयाज्जाता अन्तःकरणवृत्तयः॥

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—इन पाँच प्रकार की वायुओं की और मन, बुद्धि, अहङ्कार—इन अन्तःकरण की वृत्तियों की उत्पत्ति ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त इन आठ वर्णों से होती है। इनमें भी वर्गों के द्वितीय अक्षर ख, फ, छ, ठ, थ से प्राणादि पाँच वायुओं की और मध्य वर्गों के जो आद्य तीन अक्षर हैं, उनसे तीन अन्तःकरण की वृत्तियों की उत्पत्ति होती है। यही तात्पर्य है।

अब इसके बाद सबके कारणत्व में आदि 'कवर्ग' के एक वर्ण क और अन्त्य 'पवर्ग' के प लेने से काम होता है। इस क प से प्रकृति-पुरुष की विवक्षा है। इन दोनों से सम्पुटीभाव करने के लिए कहते हैं—

आद्यन्तद्वयसम्भूतौ पुरुषः प्रकृतिर्गुहा।
प्रकृतिः पुरुषश्चैव सर्वेषामेव कारणम्॥
तत्सम्भूतिस्तु विज्ञेया कपाभ्यामिति निश्चितम्॥

इसका तात्पर्य यह है कि आदि-अन्तवाले वर्गों के एक-एक वर्ण लेकर प्रकृति-पुरुष के रूप में क वर्ग से प वर्ग तक का बोधक 'कप' प्रत्याहार ही सकल

वाङ्मय जगत् का उपादान होता है। अब आगे तीन अवस्थाओं को कहते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणानां त्रितयं पुरा।
समाश्रित्य महादेवः श ष स क्रीडति प्रभुः ॥

सृष्टि के आदिकाल में श ष सर् वर्णों से सम्भूत सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों को लेकर भगवान् शङ्कर सर्वत्र क्रीडा करते हैं, अर्थात् सृष्टि, स्थिति (पालन) और संहार के कारण होते हैं।

शकाराद् राजसं रूपं षकारात्तामसोद्भवः।
सकारात् सत्त्वसम्भूतिरिति त्रिगुणसम्भवः ॥

'शकार' से राजस, 'ष' से तामस और 'स' से सत्त्वगुण की उत्पत्ति है।

तत्त्वातीतः परः साक्षी सर्वानुग्रहविग्रहः।
अहमात्मा परो हल् स्यादिति शम्भुः तिरोदधे ॥

जो समस्त लोकों का जनक है, वह तो समस्त तत्त्वों से परे है ही। वही सबके साक्षीरूप में स्थित परब्रह्म परमात्मा भगवान् शम्भु समस्त लोकों के कल्याण के लिए वेदमय शरीर को प्रकट कर हल् के रूप में सूचित होता है। शैवागम में भी प्रसिद्ध है–'हकारः शिववर्णः स्यादिति शैवागमाच्छ्रुतम्।' हकार शिव वर्ण है, यह शिवतन्त्र में प्रसिद्ध है। वही भगवान् शङ्कर ढक्कानिनाद के व्याज से मुनियों के लिए तत्त्वों का उपदेश देकर स्वयं तिरोहित हो गये (नन्दिकेश्वर-कृत कारिका)।

इन सबका निष्कर्ष यही होता है कि सकल शब्दों के कारणभूत मातृका ही (क, ख, ग, घ इत्यादि) है, वही परमार्थभूत स्वात्मतत्त्व के प्रकाशक जो वैदिक शब्दशास्त्र हैं, उनमें प्रवृत्ति के लिए सूक्ष्मार्थ-बोधक वर्णस्फोट के रूप में परिणत हो जाय, इस अभिप्राय से भगवान् शङ्कर ने मातृका-वर्णों का ही पौर्वापर्य क्रम को त्याग कर विलक्षण वर्णसमाम्नाय (अ इ उण् आदि) के सूत्रों के रूप में ढक्कानिनाद के व्याज से मुनियों को उपदेश किया है, और पाणिनि प्रभृति को प्रत्याहार-बोधन के लिए अनुबन्धों को भी लगा दिया है। तन्त्रशास्त्रों में कहा है—

महादेवो मुनीन्द्रेभ्यो मातृकामेव सञ्जगौ।
पौर्वापर्यं परित्यज्य प्रत्याहारप्रवृत्तये ॥

सर्वथा सापि नो त्यक्ता चोकुरित्यादिदर्शनात् ।
स्पर्शान्तःस्थोष्मसंज्ञादिक्रमत्यागेन सम्भवेत् ॥

महादेव ने मुनीन्द्रों के लिए प्रत्याहार-सिद्धि के द्वारा शास्त्रों में प्रवृत्त्यर्थ केवल पौर्वापर्य-क्रम-रहित मातृका-वर्णों का ही उपदेश किया है। क्योंकि, 'चोकुः', 'कुहोश्चुः' इत्यादि सूत्रों में चवर्ग, क ख ग आदि का व्यवहार देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि क्रम के सर्वथा त्याग से स्पर्श, अन्तःस्थ और ऊष्म आदि संज्ञा भी नहीं बन सकती, यही इसका तात्पर्य है।

इस स्थिति में पूर्वाचार्यों का यह सिद्धान्त भी सिद्ध होता है कि—

यावद्वाग्विषयं तावन्मातृकायां स्थितं पुरा ।
वटबीजाच्च वटवत् प्रादुर्भूतं ततः पुनः ॥
मातृका सर्वकल्पेषु एकैवाऽविकृता सदा ।
न किञ्चिद्वस्तुविकृतिमेति कल्पान्तरेष्वपि ॥

शब्दों के जितने भी विषय हैं, वे सब पूर्व से ही मातृका में स्थित हैं। सूक्ष्म वटबीज से महान् वटवृक्ष की तरह सूक्ष्म मातृकाओं से ही समस्त वाङ्मय जगत् का प्रादुर्भाव होता है। मातृका सभी कल्पों में सदा एक ही प्रकार के अविकृत रूप से रहती है। कोई भी वस्तु कल्पान्तरों में विकार को प्राप्त नहीं करती, अर्थात् अविकृत रहती है। समस्त वस्तुओं के इस प्रकार अविकृत होने में श्रुति ही प्रमाण है। जैसे—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
सर्ववस्तुतथात्वे हि श्रुतिरेवोपलक्षणम् ॥

विधाता ने सूर्य और चन्द्रमा को भी पूर्व के अनुसार ही आविर्भूत किया है। समस्त वस्तुओं की तथारूपता, अर्थात् पूर्वरूपता में श्रुति ही प्रमाणभूत है।

इस रीति से विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि सनातन, नित्य (अविनाशी) प्रणव नामक स्फोट के परिणामभूत जो स्फोटरूप वर्ण हैं, वे भी सनातन नित्य ही हैं। इसलिए, अक्षरसमाम्नायस्थ (अ इ उण् इत्यादि) जो वर्ण हैं, वे ही वर्णस्फोट के उदाहरण तथा शब्दब्रह्म के सूक्ष्मरूप या सूक्ष्मशरीर हैं। मन्त्रात्मक स्थूलरूप या स्थूलशरीर है। मन्त्र ही अखण्ड वाक्यस्फोट के मुख्य उदाहरण हैं।

वे वाक्यस्फोटात्मक मन्त्र दो प्रकार के होते हैं—वैदिक और तान्त्रिक। ामें भी वैदिक दो प्रकार के हैं—प्रगीत और अप्रगीत। प्रगीत साम को ्ते हैं और अप्रगीत दो प्रकार के होते हैं—छन्दोबद्ध और विलक्षण। दोबद्ध ऋक् है और दूसरा यजुष्। इसी प्रकार, तन्त्रों में जिनका वर्णन है, तान्त्रिक हैं। ये सब वाक्यस्फोट के उदाहरण हैं।

इसका रहस्य यह है कि जिस प्रकार आचार्यों ने उपाधि-भेद से नित्य ़खण्ड परमात्मा के तीन प्रकार के शरीर होने की कल्पना की है—कारण- ीर, सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर, उसी प्रकार वाचक शब्दब्रह्म के भी तीन ीरों की कल्पना युक्त ही है। 'ओम्' यह शब्दब्रह्म का कारणशरीर है, इ उण्' इत्यादि अक्षरसमाम्नाय सूक्ष्म और तत्-तत् मन्त्ररूप स्थूल- ीर हैं।

इस स्थिति में जिस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीन शरीरों से युक्त ्मा को जीव कहा जाता है, उसी प्रकार प्रणव, अक्षरसमाम्नाय और मन्त्र इन शरीरों से युक्त परमात्मा ही वाचकस्वरूप में स्वात्मप्रकाशक होने के कारण ट शब्द का वाच्य होता है, अर्थात् स्फोट कहा जाता है। यही वैयाकरणों स्फोटविषयक सिद्धान्त है।

ट शब्द का निर्वचन और उसका अर्थ

यहाँ एक रहस्य और भी है कि 'स्फुट्यते = प्रकाश्यते अर्थः अनेन इति टः', इस व्युत्पत्ति से यही सिद्ध होता है कि जिससे पारमार्थिक अर्थ स्फुटित, ात् प्रकाशित हो, वही स्फोट है। परन्तु, वह अर्थ क्या है? इस जिज्ञासा में यही चत होता है कि 'अर्थ्यते प्रार्थ्यते सर्वैरिति अर्थः' जो सबका प्रार्थनीय हो, अर्थात् ्को सब लोग चाहते हों, वही वास्तविक अर्थ है। इस स्थिति में परमानन्द ही ाविक अर्थ सिद्ध होता है। कारण यह है कि समस्त प्राणियों की स्वाभाविक ा यही होती है कि हमें सर्वोत्तम आनन्द प्राप्त हो, दुःख का लेश भी न हो। यही सिद्ध होता है कि स्वाभाविक इच्छा का विषय और परमानन्द-स्वरूप ात्मा ही अर्थ शब्द का मुख्य वाच्य है।

उसी परमानन्द-स्वरूप परमात्मा के विवर्त्तभूत जो लौकिक आनन्द है और ; साधनभूत जो धन-विभव आदि हैं, उनमें भी अर्थ शब्द का व्यवहार लोक में जाता है; पर वह भाक्त, अर्थात् गौण है, मुख्य नहीं। मुख्य अर्थ तो परमानन्द-

स्वरूप परमात्मा ही है। इस स्थिति में स्फुटित, अर्थात् प्रकाशित होता है परमार्थलक्षण परमानन्द जिससे, इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो परमानन्द स्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादक हो, उसी को स्फोट कह सकते हैं। इस प्रकार, योगरूढ स्फोट शब्द प्रणव का सूचक ठहरता है। क्योंकि, परमानन्द-रूप परमात्मा का प्रकाशक होने से प्रणव को ही ब्रह्म का वाचक आचार्यों ने स्वीकार किया है। नित्यानन्द-स्वरूप परमात्मा का वाचक प्रणव (ओङ्कार) ही है। इसी बात को भगवान् पतञ्जलि ने योगसूत्र में कहा है—'तस्य वाचकः प्रणवः, तज्जपस्तदर्थभावनम्', अर्थात् उस परमार्थलक्षण परमात्मा का वाचक प्रणव (ओङ्कार) है। उस प्रणव का जप और उसके अर्थ (परमात्मा) का ध्यान करना चाहिए।

स्फोट और ब्रह्म (आत्मा) में प्रकाश्य-प्रकाशकभाव

पूर्व में जो स्फोट और स्वात्म-स्वरूप ब्रह्म में प्रकाश्य-प्रकाशकभाव कहा गया है, उसे चन्द्रिका के समान समझना चाहिए। जिस प्रकार चन्द्रिका चन्द्र की प्रकाशिका है और रश्मि सूर्य की, उसी प्रकार शब्द भी परमार्थभूत स्वात्म (ब्रह्म) का प्रकाशक होता है। पतञ्जलि के उपर्युक्त सूत्र का भाष्य करते हुए व्यासदेव ने कहा है—'तस्य वाचकः प्रणवः इति, वाच्यः ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य सङ्केतकृतं वाच्यवाचकत्वमथवा प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति? स्थितोऽस्य वाचकेन सह सम्बन्धः, सङ्केतस्तु ईश्वरस्य स्थितमेवमर्थमभिनयति। तद्यथा पितापुत्रयोः स्थित एव सम्बन्धः सङ्केतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता अयमस्य पुत्र इति। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षः तथैव सङ्केतः क्रियते।'

इस भाष्य का तात्पर्य यह है कि उस परमात्मा का वाचक प्रणव है और प्रणव का वाच्य ईश्वर। शङ्का—क्या इसका वाच्य-वाचकत्व संकेतकृत है अथवा इस वाचक का वाच्य के साथ सम्बन्ध प्रदीप-प्रकाश के सदृश सकेतपूर्व से ही अवस्थित है? समाधान—इस वाचक का वाच्य के साथ जो सम्बन्ध है, वह स्थित, अर्थात् अनादि है, कृत्रिम नहीं। ईश्वर का संकेत तो स्थित अर्थ का ही अभिनय (प्रकाश) करता है। जैसे पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्थित ही है, केवल संकेत उसका द्योतक (प्रकाशक) मात्र होता है। जैसे—यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र। सर्गान्तर में भी वाच्यवाचक शक्ति की अपेक्षा से ही उसी प्रकार का संकेत किया जाता है। श्रुति भी कहती है—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' विधाता ने सूर्य, चन्द्र आदि नामों को पूर्व के अनुसार ही किया। भाष्य का यह तात्पर्य है।

उपर्युक्त कथन का रहस्य यह है कि प्रदीप का प्रकाश के साथ, चन्द्रमा का चन्द्रिका के साथ और सूर्य का रश्मि के साथ स्थित (अनादिसिद्ध) जो आश्रयाश्रयीभावलक्षण सम्बन्ध है, वह स्वाभाविक होने से अकृत्रिम है। इसी प्रकार, वाच्य ईश्वर का उसके वाचक स्फोट नामक प्रणव के साथ जो वाच्य-वाचकभावलक्षण सम्बन्ध है, वह भी अकृत्रिम होने से अनादि है। इस स्थिति में जिस प्रकार रश्मि के द्वारा सूर्य, चन्द्रिका के द्वारा चन्द्रमा और प्रकाश के द्वारा अग्नि का सबके दृष्टिगोचर होना लोक में देखा जाता है, उसी प्रकार प्रणव नामक स्फोट के द्वारा परमात्मा भी योगियों के हृदय में प्रकाशित होता है। इसीलिए, स्फोट शब्द का निर्वचन दो प्रकार से हो सकता है—'स्फुटीभवति अर्थः यस्मात्', अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित (प्रकाशित) हो, वह स्फोट है, अथवा 'स्फुट्यते यः सः स्फोटः', अर्थात् जो प्रकाशित हो, वह स्फोट है। रश्मि से सूर्य स्फुटित होता है अथवा सूर्य से रश्मि, यह निश्चित करना अशक्य है।

इस अवस्था में, प्रणव से ईश्वर प्रकाशित होता है या ईश्वर से प्रणव, यह निश्चित करना हमलोगों के लिए असम्भव-सा है। फिर भी, चन्द्रिका के द्वारा ही चन्द्रमा की उपलब्धि होती है, इसलिए चन्द्रमा को चन्द्रिका ही स्फुटित करती है, इस प्रकार का व्यवहार कर सकते हैं, या करते हैं। ऐसे ही प्रणव के द्वारा ही ईश्वर की उपलब्धि होती है, इसीलिए प्रणव से ही परमात्मा प्रकाशित होता है, इस प्रकार व्यवहारदृष्टि से प्रणव को ही स्फोट मानना समुचित प्रतीत होता है। इसीलिए, प्रणव ही वास्तविक स्फोट शब्द का मुख्य अर्थ है, यह सिद्ध होता है।

शब्द और अर्थ में तादात्म्य

भगवान् परमात्मा की जो अर्धाङ्गभूत शक्ति है, वही वास्तविक स्फोट शब्द का वाच्य है, अर्थात् वही स्फोट है। इसीलिए 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' इत्यादि महाकवि कालिदास की उक्ति भी सङ्गत होती है। इसमें बताया गया है कि पार्वती और परमेश्वर दोनों वाक् (शब्द) और अर्थ के समान सम्पृक्त, अर्थात् अभिन्न हैं। कालिदास के दृष्टान्त से यही सूचित होता है कि परमात्मा की अर्धाङ्गीभूत शक्ति ही वाक्, अर्थात् शब्द है और अर्धाङ्ग अर्थरूप महेश्वर है। इसी लिए शब्द और अर्थ में तादात्म्य या एकात्मता, जो मुनियों ने जहाँ-तहाँ बताई है, सङ्गत होती है। यही मानना समुचित भी प्रतीत होता है। कारण यह है कि कोई कितना भी प्रवीण क्यों न हो, प्रदीप और प्रकाश, चन्द्र और चन्द्रिका, सूर्य और रश्मि में भेद या सर्वथा अभेद का ही निश्चय करना असम्भव-सा

प्रतीत होता है। कारण यह है कि यदि भेद मानते हैं, तो चन्द्र से अतिरिक्त स्थान में भी चन्द्रिका की उपलब्धि होनी चाहिए और प्रदीप से अन्यत्र प्रकाश की, परन्तु ऐसा नहीं होता। यदि सर्वथा अभेद ही मान लें, तो जिस देश में चन्द्रमा है, उसी देश में चन्द्रिका की उपलब्धि होनी चाहिए, अन्यत्र नहीं। परन्तु ऐसा भी नहीं होता। लाखों कोस की दूरी से चन्द्रमा का प्रकाश (चन्द्रिका) यहाँ की वस्तुओं को प्रकाशित करता है। इस प्रकार, भेद अथवा अभेद, किसी का यदि निश्चय नहीं कर सकते, तो चन्द्र-चन्द्रिका, सूर्य-रश्मि, प्रदीप-प्रकाश, पार्वती-परमेश्वर, लक्ष्मी-नारायण और वाक्-अर्थ में भी तादात्म्य या एकात्मता होने में कोई विरोध नहीं है।

इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त रश्मियों का आश्रय होने से जिस प्रकार सूर्य ही प्रकाश्य और रश्मि प्रकाशक माने जाते हैं, उसी प्रकार सकल शब्दों का कारणभूत होने से ईश्वर ही वाच्य होता है और स्फोट वाचक, इस प्रकार प्रदीप-प्रकाश के समान ईश्वर और स्फोट का यदि अलौकिक सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है, तो सकल शब्दों का वाच्य ब्रह्मतत्त्व ही है, यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार, ब्रह्म में स्थित (रहनेवाला) ब्रह्म के विवर्त्तभूत सकल घट-पट आदि कार्यों में भी परम्परया उपचरितार्थ होता है। इस स्थिति में यह सिद्ध हो जाता है, कि जिन शब्दों का ईश्वर के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता है, वे ही शब्द ब्रह्म-तत्त्व के पारमार्थिक प्रतिपादन होने के कारण स्फोट शब्द के वाच्य हो सकते हैं। ऐसे शब्द अपौरुषेय वेदवाक्य ही हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त जो लौकिक संस्कृत-शब्द हैं, वे भी वैदिक शब्दों के ही प्रकृतिभूत हैं, इसलिए उनमें भी स्फोटत्व का व्यवहार उपचार से होता है। मनुष्यादि चेतन के शरीर में साक्षात् स्थित चैतन्य व्यवहार पत्र आदि में निवेशित प्रतिकृति में भी कल्पना से किया जाता है, अपभ्रंश-शब्दों में किसी प्रकार भी वैदिक शब्दों का सादृश्य न होने से किसी प्रकार भी स्फोटत्व-व्यवहार युक्त नहीं माना जाता। कारण यह है कि अचेतन प्रकृतिभूत घट-पट आदि में यह चेतन है, इस प्रकार का व्यवहार कहीं भी कोई नहीं करता। इससे सिद्ध होता है कि जितने वैदिक वाक्य हैं, वे ही ब्रह्म के साक्षात् वाचक होते हैं।

इसी अभिप्राय से वेदवाक्यों के रचना-क्रम को शास्त्रकारों ने अपरिवर्त्तनीय माना है। इसीलिए, जहाँ ब्रह्म का अवस्थान श्रूयमाण है, या उनके स्वरूप की साक्षात् उपलब्धि है, वहाँ-वहाँ मन्त्रों का भी अवस्थान श्रुति में प्रसिद्ध है। जैसे–सूर्यमण्डल

में साक्षात् ईश्वर की अवस्थिति श्रूयमाण है—'योऽसावादित्ये पुरुषः' इत्यादि। वहीं उसके किरणभूत मन्त्रों का भी अवस्थान सुना जाता है। जैसे—'त्रयीमयो यस्य रथः', 'सामानि यस्य किरणाः' इत्यादि। इसी प्रकार, हृदय में भी ईश्वर का अवस्थान श्रूयमाण है और वहाँ मन्त्रों की भी अवस्थिति श्रूयमाण है। मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय के प्रथम श्लोक के व्याख्यान में कुल्लूकभट्ट ने लिखा है—'हृदयेनाभ्यनुज्ञातः यो धर्मस्तं निबोधत।' 'हृदयभावनारूपेण वेदस्य सर्वथा अवस्थानात्' 'हृदयेन = वेदेन योऽभ्यनुज्ञातः स धर्म' इति। अर्थात्, भावनारूप से वेद के सर्वथा हृदय में रहने के कारण हृदय, अर्थात् वेद से जो अभ्यनुज्ञात (बोधित) हो, वही धर्म है। इस प्रकार, सर्वथा साथ-साथ रहनेवाले वेद और परमात्मा का वाच्य-वाचक (प्रकाश्य-प्रकाशक) होना सर्वथा उपपन्न होता है। सब शब्दों का अर्थ सत्ता-जाति ही है। इसी अभिप्राय से शब्दतत्त्व के जाननेवाले महात्मा कहते हैं—'परमार्थसंविल्लक्षणा सत्ता जातिरेव सर्वेषां शब्दानामर्थः।' अर्थात्, परमार्थ-संवित्रूप जो सत्ता जाति है, वही सब शब्दों का वाच्य अर्थ होता है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि यदि सब शब्दों का एक ही सत्ता अर्थ है, तब तो सब शब्द पर्यायवाची हो जाते हैं, इस अवस्था में एक काल में अनेक शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकते। कारण यह है कि एक ही किसी पर्याय से विवक्षित अर्थ के बोध हो जाने से इतर शब्द व्यर्थ हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने कहा है—

> पर्यायाणां प्रयोगो हि यौगपद्येन नेष्यते।
> पर्यायेणैव ते यस्माद् वदन्त्यर्थं न संहताः॥

इसका तात्पर्य यह है कि एक काल में अनेक पर्यायवाचक शब्दों का प्रयोग युक्त नहीं होता। कारण यह है कि वे एक पर्याय से ही अर्थ को कहते हैं, मिलकर नहीं। इस स्थिति में समानार्थक अनेक शब्दों का एक काल में प्रयोग असङ्गत हो जाता है। उपर्युक्त शङ्का का समाधान यह है कि स्वच्छ निर्मल जल या स्वच्छ स्फटिक मणि नील, रक्त, पीत आदि उपरञ्जक द्रव्यों के सन्निधान में नील, पीत आदि विभिन्न रूपों में जिस प्रकार भासित होता है, उसी प्रकार ब्रह्म-स्वरूप सत्ता भी गोत्व, अश्वत्व, वृक्षत्व, घटत्व आदि विभिन्न उपाधियों के भेद से विभिन्न रूपों में भासित होती है। इसी कारण उपाधि के भेद से विभिन्न वस्तु का प्रतिपादक होने से शब्दों की पर्यायतापत्ति नहीं होती। आप्तों ने कहा है—

स्फटिकं विमलं द्रव्यं यथा युक्तं पृथक् पृथक् ।
नीललोहितपीताद्यैस्तद्वर्णमुपलभ्यते ॥ (भूषण)

जिस प्रकार विमल (स्वच्छ) स्फटिक द्रव्य नील, लोहित (रक्त), पीत आदि उपरञ्जक द्रव्यों के साथ होने से उन्हीं वर्णों के रूप में भासित होता है, उसी प्रकार सत्ता जाति भी गोत्व आदि उपाधि लगने से विभिन्न रूप से प्रतीत होती है। इसी अभिप्राय से भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

उपाधिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दाः व्यवस्थिताः ॥
तां प्रातिपदिकार्थञ्च धात्वर्थञ्च प्रचक्षते ।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ॥

जिस प्रकार एक ही विमल द्रव्य उपरञ्जक उपाधि के भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, उसी प्रकार गो, अश्व आदि में वर्त्तमान जो ब्रह्मसत्ता है, वही आश्रयभूत सम्बन्धी रूप उपाधि से भिद्यमान होकर जाति कही जाती है, अर्थात् वही ब्रह्म सत्ता उपाधि के भेद से जाति शब्द का वाच्य होती है। इसलिए गोत्व, अश्वत्व भी परमार्थ में ब्रह्मसत्ता के अतिरिक्त नहीं है। वही ब्रह्मसत्ता गवादि उपाधि से गोत्व आदि के रूप में भासित होती है, और उपाधिभेद से कल्पित भेदवाली सत्ता जाति में ही सकल गवादि शब्द वाच्यरूप से व्यवस्थित है। इसे दूसरे शब्दों में कहा जायगा कि उसी ब्रह्म सत्ता के वाचक सब शब्द हैं। इसी अभिप्राय से प्राचीनों ने सत्ता को प्रातिपदिकार्थ माना हैः 'प्रातिपदिकार्थः सत्ता'। धातु का भी अर्थ सत्ता ही होता है; क्योंकि, जो 'भाववचनो धातुः', अर्थात् धातु का वाच्य भाव है, ऐसा मानते हैं। उनके मत में भाव से सत्ता ही अर्थ लिया जाता है और 'क्रियावचनो धातुः', क्रिया का वाचक धातु है, इस प्रकार धातु का अर्थ जो क्रिया मानते हैं, उनके मत में भी अनेक व्यक्ति में रहनेवाली जाति ही क्रिया है : 'जातिमेके क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्त्तिनीम्'। इस प्रकार, जाति पदार्थ को माननेवालों के मतानुसार भी क्रिया को जाति माना गया है, और जाति भी सत्ता-रूप ही है, इस प्रकार भी धातु का अर्थ सत्ता सिद्ध होता है।

'तस्य भावस्त्वतलौ' इस पाणिनि-सूत्र से भाव अर्थ में ही त्व और तल प्रत्यय का विधान किया गया है। इसलिए, सत्ता का अर्थ भी भाव ही युक्त

ा है। सत्ता शब्द में भी 'सतो भावः'=सत् का जो भाव, इस व्युत्पत्ति
त् शब्द से भाव अर्थ में ही तल् प्रत्यय का विधान है, इसलिए सत्ता का भाव
अर्थ समुचित प्रतीत होता है और वही भावरूपा सत्ता सब शब्दों का वाच्य
सिद्ध होती है। वह सत्ता उत्पत्ति-विनाश से रहित होने के कारण नित्य और
रक भी है। उसी ब्रह्मसत्ता का विवर्त्त यह सकल प्रपञ्च (जगत्) है। इसीलिए
, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित होने के कारण वह ब्रह्म महान् आत्मा
कहा जाता है। इसी अर्थ के वाचक त्व और तल् प्रत्यय हैं। यही उक्त
रिकाओं का अभिप्राय है।

इसमें रहस्य यह है कि वैदिक शब्दों का ब्रह्मतत्त्व के साथ तो साक्षात्
न्ध है, किन्तु उसकी शक्ति के साथ कल्पित सम्बन्ध है। लौकिक शब्दों का
प्रवृत्ति के बहिर्मुख होने के कारण कार्यद्रव्यों के साथ ही साक्षात् सम्बन्ध है,
उन द्रव्यों के भी ब्रह्म के विवर्त्त होने के कारण असत्यभूत भी उन्हीं
के द्वारा ब्रह्मतत्त्व ही उन शब्दों का भी विषय होता है। परन्तु, इन्द्रियों की
खता के कारण मनुष्य यह निश्चय नहीं कर सकता कि यह लौकिक गवादि
भी गो आदि व्यक्ति के द्वारा उसी ब्रह्मतत्त्व का बोधक होता है। इसी
प्राय से भगवान् भाष्यकार ने भी 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' इस वार्त्तिक के
यान में 'द्रव्यं हि नित्यम्' इत्यादि ग्रन्थ से असत्य उपाधि से अवच्छिन्न (युक्त)
द्रव्यवाचक शब्दों का वाच्य अर्थ होता है, यह निश्चित किया है।
पदीय में भी लिखा है—

> सत्यं वस्तु तदाकारैरसत्यैरवधार्य्यते।
> असत्योपाधिभिः शब्दैः सत्यमेवाभिधीयते॥

तदाकार असत्य वस्तु से भी सत्य वस्तु का निश्चय किया जाता है, और
उपाधिवाले शब्दों से भी सत्य का ही अभिधान (कथन) होता है। इसलिए,
पदार्थ या व्यक्ति पदार्थ दोनों ही परमार्थ दृष्टि से सत्य ही होते हैं। अतः,
शब्दों का वाच्य अर्थ ब्रह्मतत्त्व ही है।

यही बात वाक्यपदीय में कही गई है—

> तस्माच्छक्तिविभागेन सत्यः सर्वसदात्मकः।
> एकोऽर्थः सर्ववाच्यत्वे बहुरूपः प्रकाशते॥

इसका भाव आगे स्पष्ट होगा। इस प्रकार, पूर्वोक्त रीति से अभेदप्रयुक्त जो अद्वितीयत्व को स्वीकार किया है, उसके निर्वाह के लिए दोनों का अविभाग दिखाया है। जैसे—

वाच्या सा सर्वशब्दानां शब्दाच्च न पृथक् ततः।
अपृथक्त्वेपि सम्बन्धस्तयोर्नानात्मनोरिव ॥ (वा० प०)

तात्पर्य यह कि प्रदीप-प्रकाश के सदृश शब्द के वाच्य स्वात्मसंवित् भी परमार्थदशा में शब्द से भिन्न (पृथक्) नहीं हैं, किन्तु तत्-तत् उपाधि के भेद से जिस प्रकार आत्मा में अनेक प्रकार के भेद माने जाते हैं, उसी प्रकार उपाधि के भिन्न होने से शब्द और आत्मा में भी वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध माना जाता है। इस स्थिति में कुण्डलिनी-शक्तिविशिष्ट जो तत् तत् नाद है, उससे अभिव्यङ्ग्य (अभिव्यक्त होनेवाला) जो स्फोट नाम का शब्दब्रह्म है, वह वाचक होता है और माया-शक्तिविशिष्ट ब्रह्म तत्-तत् देवादि शरीर से अभिव्यक्त वाच्य होता है। इस स्थिति में वाच्यभूत ब्रह्म का विवर्त्त है जङ्गमाजङ्गम (चराचर) सकल प्रपञ्च (जगत्) और वाचकभूत स्फोट के चराचरात्मक जगत् का वाचकभूत शब्दमय (वाङ्मय) जगत् विवर्त्त है।

एक बात और भी यहाँ जान लेनी चाहिए कि समस्त शब्दों के स्फोट का विवर्त्त होने पर भी व्यवहारदशा में सर्वत्र स्फोट का व्यवहार युक्त नहीं होता। जैसे—समस्त चेतनाचेतनात्मक जगत् चिदात्मा का ही विवर्त्त है, तो भी पाषाण आदि में चेतनत्व का व्यवहार नहीं होता। इसी प्रकार, यद्यपि समस्त शब्दमय जगत् स्फोट का ही विवर्त्तभूत है, तो भी अपभ्रंशों में स्फोटत्व का व्यवहार व्यवहारदशा में युक्त नहीं होता।

इस महासन्दर्भ से यही स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मस्वरूप परमार्थ का साक्षात् वाचक होने के कारण प्रणव (ओङ्कार) ही स्फोट है और पूर्वोक्त रीति से वर्ण आदि भी इसी स्फोटात्मक प्रणव से आविर्भूत हुए हैं, इसलिए प्रणव-सम्बन्ध से वर्ण आदि में भी स्फोट का व्यवहार होना युक्त है। हरिवंशपुराण में भी लिखा है—'अक्षराणामकारस्त्वं स्फोटस्त्वं वर्णसंश्रयः', अर्थात् अक्षरों में तुम अकार हो, और वर्णों के आश्रयभूत तुम्हीं स्फोट हो। इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त वर्णों का आश्रयभूत शब्दब्रह्म ही प्रकाशक होता है, और 'शृणोति य इमं स्फोटम्' इत्यादि उक्त रीति से प्रणव ही वास्तविक स्फोट-तत्त्व है।

उपनिषदों की साक्षिता

जिस प्रकार आनन्दवल्ली-उपनिषद् में विशुद्ध ब्रह्म का बोध कराने के लिए अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कोशों में अपारमार्थिक ब्रह्म के ज्ञान का उपाय बताया गया है, अथवा जिस प्रकार सूक्ष्म अरुन्धती के ज्ञान के लिए पहले स्थूल नक्षत्रों में अपारमार्थिक अरुन्धती का ज्ञान कराना उपाय बताया गया है, उसी प्रकार अखण्ड पदस्फोट-रूप प्राण-तत्त्व का ज्ञान कराने के लिए अखण्ड वाक्यस्फोट, सखण्ड वाक्यस्फोट, अखण्ड और सखण्ड पदस्फोट और वर्णस्फोट की कल्पना केवल उपायमात्र है। आचार्यों ने लिखा है—

> उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
> असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥ (वा० प०)

जिस प्रकार अन्तर्दृष्टिसम्पन्न योगी लोकव्यवहार के लिए सूक्ष्म आनन्द-मय कोश के द्वारा ही स्थूल देह आदि में भी दृष्टि देते हैं, उसी प्रकार वर्णस्फोट के द्वारा ही वाक्यस्फोट को विषय करते हैं, और बहिर्दृष्टिसम्पन्न विद्वान् स्थूल अन्नमय कोश के द्वारा ही शनैः-शनैः आनन्दमय कोश के ज्ञान से परमात्मतत्त्व के ज्ञान के लिए प्रयत्न करते हैं। उसी प्रकार, स्थूल अखण्ड वाक्यस्फोट-रूप वैदिक मन्त्रों के ज्ञान द्वारा ही सूक्ष्म वर्णस्फोट के वर्णसमाम्नाय-रूप वर्णस्फोट-तत्त्व को प्राप्त करने के लिए यत्न करते हैं।

लोकायतिक (चार्वाक) तो स्थूल अन्नमय कोश-रूपी शरीर के पोषण से ही अपने को कृतकृत्य समझकर सूक्ष्म तत्त्वज्ञान से पराङ्मुख ही रहते हैं। इसी प्रकार, बाह्य दृष्टिवाले तार्किक लोग भी स्थूल शब्दज्ञान से ही सन्तुष्ट होकर शब्दों के सूक्ष्म तत्त्व प्रणव-रूप स्फोटतत्त्व के ज्ञान के लिए प्रयत्न नहीं करते हैं।

अपभ्रंश-शब्दों में स्फोटत्व का निराकरण

'आत्मा आत्मना आत्मानं जानाति'—आत्मा, अर्थात् शरीरावच्छिन्न (शरीर से युक्त) चेतन, 'आत्मना'—अन्तःकरण से 'आत्मानम्'—निरवच्छिन्न (उपाधि से रहित) आत्मा को जानता है। यहाँ शरीर, अन्तःकरण और उपाधि-रहित आत्मतत्त्व, इन तीनों में आत्म शब्द का व्यवहार देखा जाता है, परन्तु घड़ा, पाषाण आदि जड पदार्थों में आत्मत्व का व्यवहार नहीं देखा जाता, उसी प्रकार

अपभ्रंश में भी स्फोटत्व का व्यवहार युक्त नहीं होता। जैसे—पाषाण में आत्मत्व का व्यवहार नहीं हो सकता। यहाँ शङ्का यह होती है कि चिद्रूप आत्मा तो सर्वत्र पाषाण आदि में व्यापक होने से ओतप्रोत है, इसलिए इस अवस्था में भी पाषाण और घटादि में चेतनत्व का व्यवहार क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यही है कि पाषाण आदि में तमोगुणमय प्रकृति की प्रधानता होने से वहाँ चैतन्य-अंश का लेशतः भी उद्भव नहीं होता। इसलिए, आत्मत्व या चेतनत्व का व्यवहार नहीं होता। दूसरा कारण यह है कि चिदानन्दमय परमात्मा के ज्ञान में जो उपयोगी होता है, उसी में आत्मत्व या चेतनत्व का व्यवहार युक्त होता है। पाषाण आदि चिदानन्द परमात्मा के ज्ञान में कुछ भी उपयोगी नहीं हैं, इसलिए भी उसमें चेतनत्व या आत्मत्व का व्यवहार नहीं होता और शरीर में तो सत्त्वप्रधान प्रकृति की प्रधानता रहती है, इसलिए वहाँ चिदाभास का उद्भव रहता है और चिदानन्द ब्रह्म की प्राप्ति में उपयोगी भी है, इसलिए उसमें चेतनत्व या आत्मत्व का व्यवहार होना युक्त ही है। इसी प्रकार, ब्रह्मतत्त्व के साक्षात् प्रकाशक होने से प्रणव में, तथा उसके द्वारा सूक्ष्मतया परमात्मा की महिमा के प्रकाशक होने से वर्णसमाम्नाय (अ इ उण् आदि) में और परमात्मा के अंश-भूत देवताओं के स्वरूप का प्रतिपादन करने या प्रकाशक होने के कारण मन्त्र-समुदायों में ही स्फोटत्व का व्यवहार होना युक्त प्रतीत होता है; क्योंकि ये ही तीन परमार्थ के साक्षात् या परम्परया वाचक अर्थात् प्रकाशक होते हैं। परन्तु, अप-भ्रंशों में किसी प्रकार भी स्फोटत्व का व्यवहार युक्त नहीं होता; क्योंकि स्फोट के व्यापक होने से सकल शब्दों में ओतप्रोत होने पर भी साक्षात् या परम्परया आत्मज्ञान में किसी प्रकार भी अपभ्रंश का उपयोग नहीं होता।

लौकिक संस्कृत-शब्दों का स्फोटत्व-व्यवहार

लौकिक संस्कृत-शब्दों का स्फोटत्व-व्यवहार किसी प्रकार युक्त माना जाता है। जिसप्रकार पटादि में चित्रित या फोटो आदि में यह मनुष्य है, यह पक्षी है, यह देवदत्त है, यज्ञदत्त है इत्यादि व्यवहार लोक में प्रचलित है, उसी प्रकार वैदिक शब्दों के प्रतिकृतिभूत होने के कारण लौकिक संस्कृत-शब्दों का भी स्फोटत्व व्यवहार होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसी कारण धार्मिक कर्मकाण्डों में संस्कृत-शब्दों का ही प्रयोग करना वैदिक सम्प्रदायों में प्रसिद्ध है। इसीलिए, वैदिक कर्मकाण्डों में अपभ्रंश-शब्दों का प्रयोग किसी प्रान्त या देश में नहीं किया जाता है। इसी अभिप्राय से श्रुतिमूलक होने से स्मृतियों का भी प्रामाण्य महर्षियों ने माना है। इसमें विशेषता यही है कि जितने वैदिक मन्त्र हैं, वे सभी

सनातन होने से अकृत्रिम तथा चिदाभासविशिष्ट भी हैं और इसके स्वरूप की परिवृत्ति नहीं होने के कारण अविकारी भी हैं। इसलिए, वैदिक मन्त्र आत्मा के समान ही नित्यस्फोट-रूप माने जाते हैं।

परन्तु, इनके अतिरिक्त संस्कृत-शब्दों के परिवृत्तिसह होने के कारण और चिदाभास से रहित होने से भी उसमें जो स्फोटत्व का व्यवहार किया जाता है, वह फोटो आदि के समान कल्पित ही माना जाता है। यद्यपि लौकिक संस्कृत-शब्द भी वैदिक शब्दों के सदृश ही हैं, तथापि पुरुषकृत होने से अनित्य और परिवृत्तिसह होने से विकारी भी माने जाते हैं, इसीलिए इनमें कल्पित स्फोट का व्यवहार किया जाता है। इस अवस्था में मुख्य तीन ही स्फोट सिद्ध होते हैं। जैसे—

एक अखण्ड पदस्फोट (प्रणव), दूसरा अक्षरसमाम्नाय-रूप वर्णस्फोट और तीसरा तत्-तत् मन्त्ररूप। ये तीनों प्रकार के स्फोट जाति और व्यक्ति के भेद से छह प्रकार के हो सकते हैं। यहाँ जाति और व्यक्ति का भेद उसी प्रकार है, जिस प्रकार परमात्मा में समष्टि और व्यष्टि के भेद की कल्पना। अखण्ड पदस्फोट और अखण्ड वाक्यस्फोट केवल लौकिक संस्कृत-शब्दों में ही कल्पित होते हैं; क्योंकि संस्कृत-शब्दों का प्रयोग स्वच्छन्दतया कर सकते हैं।

वैदिक और तान्त्रिक शास्त्रों के इस प्रकार अनुसन्धान करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अखण्ड पदस्वरूप प्रणव ही मुख्य स्फोट पद का वाच्य हो सकता है; क्योंकि वास्तविक अर्थ जो परमात्मा है, उसका प्रकाशक वही प्रणव है। उसके बाद अक्षरसमाम्नाय-रूप वर्णस्फोट है; क्योंकि वह भी सूक्ष्म रीति से सूक्ष्म ब्रह्म के माहात्म्य का प्रतिपादन उक्त रीति से करता है। उसके बाद अखण्ड वाक्य-स्वरूप मन्त्रसमुदायों का वाक्यस्फोटत्व सिद्ध होता है; क्योंकि वे मन्त्र भी परमात्मा के अंशभूत सर्वाभिमानी देवताओं के स्वरूप-प्रतिपादन के द्वारा अलौकिक महिमाओं का प्रकाशन करते हैं। इन्हीं उक्त स्फोटों के मुख्य स्वरूप के प्रकाशन के लिए और बालकों की व्युत्पत्ति के लिए भी लौकिक संस्कृत-शब्दों में स्फोटत्व की कल्पना की जाती है। स्थूल मतिवाले मन्दों को बोध कराने के लिए व्यवहार-रूप से मन्त्रों में सिद्ध (स्थित) जो अखण्ड वाक्यस्फोटत्व है, उसी को लौकिक संस्कृत-वाक्यों में भी कल्पित कर अखण्ड वाक्यस्फोट की प्रधानता आचार्यों ने बताई है। असत्य मार्ग पर ठहरकर ही सत्य के मार्ग का अन्वेषण किया जाता है। 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते', यह न्याय इसी बात को पुष्ट करता है।

'वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षः सिद्‌ध्यतीति मतस्थितिः' इत्यादि कथन से लौकिक वाक्यों का ही मुख्य स्फोट होने का समर्थन कुछ आचार्यों ने किया है। उनका तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि लौकिक दृष्टि से जब अखण्ड वाक्यस्फोट का समर्थन हो जायगा, तभी अखण्ड वाक्यरूप वैदिक मन्त्रों में मनुष्यों की श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है, बाद में स्वाध्याय-सम्पत्ति से उनके हृदय में परमात्मा का प्रकाश अवश्य हो जायगा, यही हमारे श्रद्धेय आचार्यों का तात्पर्य प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह है कि शब्दब्रह्म के दो स्वरूप हैं, नित्य और अनित्य। उनमें अनित्य भी दो प्रकार का है, ईश्वरकृत और जीवकृत। जो ईश्वरकृत है, वह तो प्रवाहनित्यता से नित्य माना ही जाता है; क्योंकि उसका नित्यत्वेन व्यवहार लोकप्रसिद्ध है। जो जीवकृत है, वह क्षणिक होने से सर्वथा अनित्य ही है। यह व्यवहार भी सर्वथा लोकप्रसिद्ध है और जो नित्य व्यापक होने से सर्वत्र अनुस्यूत (ओतप्रोत) है, उसी का वर्णन '"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' इत्यादि वचनों से आचार्यों ने किया है। उसी प्रकार नित्य, व्यापक-वाचकरूप जो शब्द-ब्रह्म है, वही समस्त शब्दों में अनुस्यूत है, इसी कारण तत्-तत् वर्णनाद से अभिव्यङ्ग्य और वर्ण, पद, वाक्य के अतिरिक्त जो सच्चिदानन्द है, वही अखण्ड नित्य स्फोट है। जो वर्ण, पद, वाक्यात्मक अनित्य रूप है, वह दो प्रकार का है— ईश्वरकृत और जीवकृत। जो ईश्वरकृत है, वह तो नित्य सनातन है, और जो जीवकृत है, वह अनित्य है।

जीवकृत अनित्य स्फोट का विवेचन

ऊपर ईश्वरकृत स्फोट का विवेचन हो चुका है। अब जीवकृत अनित्य स्फोट का विवेचन किया जाता है। 'स्फुटति अर्थः यस्मात् इति स्फोटः' जिससे अर्थ स्फुटित (प्रकाशित) होता है, वह स्फोट है। इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न स्फोट शब्द पङ्कज आदि शब्दों के समान योगरूढ होता है। भूषण में 'स्फुटति अर्थः यस्मात् इति स्फोटः, वाचक इति यावत्', इस व्युत्पत्ति से कौण्डभट्ट ने स्फोट शब्द को केवल यौगिक ही माना है। परन्तु, वह युक्त नहीं प्रतीत होता, कारण कि साधु शब्दों के समान ही असाधु अपभ्रंश-शब्द भी वाचक होता है, इसलिए अपभ्रंश-शब्दों में भी स्फोटत्व-व्यवहार की आपत्ति होने लगेगी; क्योंकि अपभ्रंश भी वाचक (अर्थ का बोधक) है ही, यदि कहा जाय कि अपभ्रंशों में भी स्फोटत्व-व्यवहार इष्ट ही है, तो यह कहना भी युक्त नहीं, कारण कि परमार्थ के वाचक जो वैदिक शब्द हैं, उनका सादृश्य इन अपभ्रंश-शब्दों में नहीं है, इसलिए शब्दतत्त्व को जाननेवाले विद्वान् यह नहीं मानते।

वह स्फोट लौकिकाचार्यों के व्यवहार से आठ प्रकार का माना जाता है। जैसे—वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट के भेद से तीन प्रकार का हुआ। इनमें भी जातिवर्णस्फोट, जातिपदस्फोट जातिवाक्यस्फोट और व्यक्तिवर्ण-स्फोट, व्यक्तिपदस्फोट, व्यक्तिवाक्यस्फोट, ये जाति व्यक्ति के भेद से छह प्रकार के होते हैं। पद और वाक्यस्फोट भी सखण्ड, अखण्ड भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं, जैसे—सखण्ड पदस्फोट, सखण्ड वाक्यस्फोट और अखण्ड पदस्फोट, अखण्ड वाक्यस्फोट। ये सब मिलाकर आठ होते हैं।

इनमें व्यवहारदशा में वाक्यस्फोट ही मुख्य होता है; क्योंकि लोक में स्थूलशरीर के ही कार्यकारी होने से वह अर्थ का बोधक हो सकता है। 'गाम् आनय'—गाय लाओ, इस वाक्य को सुनकर कोई प्रयोज्यवृद्ध (युवा) गाय ले आता है। यह देखकर पास में बैठा हुआ बालक 'गाम् आनय' इस वाक्य का ही गवानयन (गाय का लाना) अर्थ समझता है। बाद में 'गां नय अश्वम् आनय', इस वाक्य से जब वह गाय ले जाता और अश्व ले आता है, तब वह बालक अन्वयव्यतिरेक से पद में शक्ति (संकेत) समझता है। एक बात और है कि उस तरह से विचार करने पर वाक्यार्थज्ञान के प्रति पदार्थज्ञान कारण होता है। अर्थात्, जबतक पद का अर्थज्ञान नहीं होता, तबतक वाक्य का अर्थज्ञान होना दुष्कर है। और, वाक्यों का निर्वचन लघु उपाय से होना अशक्य ही है, इसीलिए वाक्यों में कल्पना से पदों का विभाग करते हैं और पदों में भी प्रकृति-प्रत्ययों का विभाग कर कल्पित अन्वय-व्यतिरेक से शास्त्र मात्र में उन सकल पदों के अर्थ का विभाग आचार्यों ने किया है। वहाँ भी व्यवहारदशा में पदों में वर्ण कारण होते हैं, इसलिए पहले वर्णस्फोट का ही विचार करना समुचित है।

वर्णस्फोट-विचार

'सुप्तिङन्तं पदम्', 'एकतिङन्तार्थमुख्यविशेष्यकं वाक्यम्'—सुबन्त और तिङन्त को पद कहते हैं, और जिसमें एक तिङन्तार्थमुख्यविशेष्य हो, उसे वाक्य कहते हैं। जो वर्णसमूह अथवा केवल वर्ण ही न सुबन्त हो, न तिङन्त ही, न एक तिङन्तार्थमुख्यविशेष्यक वाक्य ही हो, केवल 'पच्', 'तिप्' आदि प्रकृति अथवा प्रत्यय-रूप ही हो (जिसका शक्तिग्रह व्याकरण से गृहीत हो), उनके वाचकत्व स्वीकार करने पर वर्णस्फोट सिद्ध होता है। वे प्रयोग में समवायी, 'अर्थात् नित्य रहनेवाले या विसर्ग ति आदि के रूप में रहते हैं। वे ही विसर्ग आदि वाचक (अर्थबोधक) होने से स्फोट शब्द के वाच्य होते हैं। विसर्ग के स्थानी जो सु

आदि हैं और तिप् के स्थानी जो ल आदि हैं, वे वाचक नहीं होते; क्योंकि वे स्थानी नियत रूप में नहीं रहते। प्रत्येक व्याकरणाचार्य ने स्थानी को भिन्न-भिन्न रूप में कल्पित किया है, अतः वे नियत नहीं हैं।

एक बात और है कि स्थानी को यदि वाचक मानते हैं, तो जिसको स्थानी का ज्ञान नहीं है, उस अवैयाकरण को आदेश-मात्र के श्रवण से बोध नहीं हो सकता। इसलिए, जो स्थानी को ही लाघव से वाचक मानते हैं, उस वार्त्तिककार का मत युक्त नहीं होता। इस प्रकार का स्फोटज्ञान प्रकृति-प्रत्यय, स्थानी और आदेश का ज्ञान रखनेवाले वैयाकरण को ही हो सकता है। साधारण जनों के के लिए तो जिन वर्णों का एकाक्षरकोश आदि से शक्तिज्ञान हो गया है, उन्हीं वर्णों का वर्णस्फोट सिद्ध हो सकता है, सब वर्णों का नहीं। 'अर्थवन्तो वर्णाः', इस भाष्य का यही तात्पर्य है।

इस प्रकार का स्फोट-तत्त्व स्वीकार करने पर यह शङ्का होती है कि धनम्, वनम् इत्यादि पदों में प्रत्येक वर्ण के वाचक होने से अर्थवत्त्वात् प्रातिपदिक संज्ञा होने लगेगी, इस अवस्था में स्वादि की उत्पत्ति और पदसंज्ञा होने से धनम्, वनम् में नकार का लोप क्यों नहीं होता? इसका समाधान यह है कि समुदाय शक्ति उस कार्य का प्रतिबन्धक है, जिस कार्य से समुदायशक्ति के आश्रयीभूत जो पद के आनुपूर्वी हैं, उसका भङ्ग होता है। प्रकृत धनम्-वनम् में समुदायशक्ति के आश्रयीभूत जो धन-वन आनुपूर्वी है, वहाँ पदसंज्ञा होने पर नकार का लोप अवश्य हो जाता है। इस अवस्था में धन-वन जो समुदायशक्ति का आश्रय है, उसके आनुपूर्वी नकार के लोप होने से उसका भङ्ग हो जाता है। अतः, प्रातिपदिक संज्ञा आदि कार्य वहाँ नहीं होता; क्योंकि समुदायशक्ति उस कार्य के प्रतिबन्धक रूप में वहाँ विद्यमान है। इसी को दूसरे शब्दों में आचार्यों ने कहा है—'अवयव-निष्ठशक्तिज्ञानाधीनबोधसामग्री प्रति समुदायनिष्ठशक्तिज्ञानधीना सामग्री प्रतिबन्धिका भवति।' इसका तात्पर्य यह है कि अवयव में रहनेवाली जो शक्ति है, उस शक्तिज्ञान के अधीन जो बोध-सामग्री है, उसका प्रतिबन्धक समुदाय में रहनेवाली जो शक्ति है, उस शक्तिज्ञान के अधीन जो बोध-सामग्री है, वह होती है। संक्षेप में, इसका तात्पर्य है कि जहाँ समुदायशक्ति रहती है, वहाँ अवयशक्ति मानकर कोई कार्य नहीं होता। जैसे—उक्त धनम्-वनम् नकारादि जो अवयव हैं, उनको अर्थवत् मानकर कोई कार्य नहीं होता; क्योंकि अवयवशक्ति की प्रतिबन्धिका समुदायशक्ति वहाँ विद्यमान है।

पदस्फोट का विवेचन

वर्णस्फोट के बाद पदस्फोट का विवेचन प्रसङ्गप्राप्त है, इसलिए उसका विवेचन किया जाता है। व्यवहारदशा में वाक्य के साक्षात् अवयव होने के कारण अन्तरङ्ग पद ही होते हैं। व्यावहारिक पदस्फोट भी दो प्रकार का होता है—सखण्ड और अखण्ड। तार्किक लोग 'वाचक' पद को यौगिक और 'पङ्कज' पद को योगरूढ मानते हैं। परन्तु, और लोग इसी को व्यवहारदशा में सखण्ड स्फोट का उदाहरण मानते हैं। इसमें कारण यह है कि खण्डशक्ति के अनुसन्धानपूर्वक ही कोश आदि से समुदायशक्ति का ज्ञान होता है। जो व्याकरण-ज्ञान से अनभिज्ञ है, उसे व्यवहार से ही शक्ति का ज्ञान होता है; इसलिए उसके मत में वही अखण्ड स्फोट का उदाहरण समझना चाहिए। मणि, नूपुर, रथन्तर आदि जो रूढ शब्द हैं, वे तो सबके मत में अखण्ड ही माने जाते हैं; क्योंकि वहाँ सबका अर्थबोध अवयवार्थ-ज्ञान से शून्य समुदायशक्ति के ही ज्ञान से होता है। इस अवस्था में विचार करने से यही प्रतीत होता है कि यौगिक और सखण्ड स्फोट तथा रूढ और अखण्ड स्फोट इन दोनों में व्यवहारदृष्टि से नाममात्र का ही भेद है।

व्यावहारिक वाक्यस्फोट का निरूपण

वाक्यार्थबोध के प्रति पदार्थबोध कारण होता है; इसलिए पहले पदस्फोट का निरूपण किया गया, इसके बाद वाक्यस्फोट का निरूपण किया जाता है। वाक्यस्फोट भी दो प्रकार का होता है—सखण्ड वाक्यस्फोट और अखण्ड वाक्यस्फोट। 'घटम् आनय', 'पटम् पश्य'—घड़ा लाओ, पट देखो इत्यादि लौकिक सखण्ड वाक्यस्फोट के उदाहरण हैं। जहाँ क्रिया-कारक का विभाग कर सकते हैं, वही सखण्ड है, जैसे—घटम् आनय, पटम् पश्य इत्यादि। 'हरेऽव', 'विष्णोऽव' आदि स्थलों में अकार के पूर्वरूप करने पर क्रिया और प्रातिपदिक अथवा कारक का विभाग करना अशक्य हो जाता है। इसलिए, ये लौकिक अखण्ड स्फोट के उदाहरण हैं, जैसा कि वैयाकरणभूषण, लघुमञ्जूषा आदि ग्रन्थों में आचार्यों ने कहा है। इस स्थिति में जिसे प्रकृति-प्रत्यय, क्रिया-कारक आदि का ज्ञान नहीं है, ऐसे अवैयाकरण के लिए तो सभी वाक्य अखण्ड स्फोट के ही उदाहरण कहे जा सकते हैं। वर्णस्फोट, पदस्फोट आदि का जो व्यवहार है, वह इसी प्रकार है, जैसा कि लोक में कहा जाता है—'यह छोटा कम्बल है, यह बड़ा। यह बहुत बड़ा है, यह छोटा कपड़ा है, यह 'बड़ा, यह बहुत बड़ा, इत्यादि। उसी प्रकार यह वर्णस्फोट है, वह पदस्फोट, यह वाक्यस्फोट है इत्यादि लोक में व्यवहार किया जाता है।

वास्तविक बात तो यह है कि जिस प्रकार दृश्यमान जगत् के अतिरिक्त, सर्वत्र अनुस्यूत, सर्वव्यापक, नित्य, अखण्ड किसी एक तत्त्व या पदार्थ को स्वीकार किया जाता है, जिसे ब्रह्म या परमात्मा कहते हैं, उसी प्रकार श्रूयमाण सकल वाङ्मय (शब्दमय) समष्टि के अतिरिक्त समस्त शब्दमय जगत् में अनुस्यूत परमार्थवाचक एक अखण्ड व्यापक पदार्थ (तत्त्व) अवश्य स्वीकरणीय होता है। वही वास्तविक स्फोटतत्त्व है। वही समस्त शब्दमय जगत् में व्यापक रूप से अनुस्यूत, एक, अखण्ड और परमार्थवाचक स्फोट शब्दब्रह्म शब्द से व्यवहृत होता है, यह शब्दतत्त्वज्ञ महात्माओं की घोषणा है। दूसरे शब्दों में—जिस प्रकार आत्मा और शरीर का शरीर-शरीरीभाव सम्बन्ध नित्य रहता है, उसी प्रकार ध्वनिरूप शब्द और स्फोट का शरीर-शरीरीभाव सम्बन्ध सिद्ध है। अर्थात्, जिस प्रकार मनुष्यादि शरीरों में आत्मा ही नित्य तत्त्व है, उसके विना शरीर का कुछ महत्त्व नहीं रहता, उसी प्रकार ध्वनिरूप शब्दों में नित्य अनुस्यूत स्फोटतत्त्व के विना ध्वनिरूप शब्द निष्फल और निरर्थक रहता है, जैसे आत्मा के विना शरीर।

पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार व्यावहारिक स्फोटतत्त्व का भी विवेचन यथाशक्ति किया गया है, अब इसमें युक्ति भी दी जाती है—

वाक्यों के अवयव जो अनेक वर्ण हैं, उनके अतिरिक्त, अनेक ध्वनियों से अभिव्यङ्ग्य (जो अर्थ के बोधक होने से वाचक-स्वरूप है) वाक्यात्मक अखण्ड-स्फोट शरीरातिरिक्त चैतन्य के समान एक ही निश्चित रूप से सिद्ध होता है। इस, प्रकार का स्फोट अवश्य मन्तव्य है। जैसे—'कामः, सङ्कल्पः, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, भीः, ह्रीः इत्येतत् सर्वं मन एव' इत्यादि श्रुतियों से काम, संकल्प और विचिकित्सा आदि मन के ही धर्म बताये गये हैं, तथापि नैयायिक इसे आत्मा का ही धर्म मानते हैं। व्यवहार में प्रायः सभी इसे स्वीकार भी करते हैं। परन्तु, यह सब भ्रममूलक ही है, पारमार्थिक नहीं। यह वेदान्तशास्त्र के परिशीलन करनेवाले विद्वानों को अविदित नहीं है। यहाँ यह शङ्का होती है कि अन्य का धर्म अन्य के धर्मरूप में भासित होता है, इसमें क्या बीज है? इसका शास्त्रसम्मत उत्तर यह है कि जिस प्रकार जपाकुसुम के सन्निधान (संसर्ग) से स्वभावतः उज्ज्वल स्वच्छ स्फटिक भी लाल प्रतीत होता है, उसी प्रकार काम, संकल्प आदि भी आत्मा के साथ मन का संसर्ग होने से मन के धर्म आत्मा के ही प्रतीत होते हैं। इसमें आत्मा और मन का संसर्ग ही बीज है। इसलिए, व्यवहारकाल में पूर्वोक्त 'कामः सङ्कल्पः' आदि श्रुति का आदर लोग प्रायः नहीं

करते। किन्तु, स्फोट के विषय में तो इस प्रकार के व्यवहार होने का कोई निमित्त ही नहीं है, जिससे शब्दब्रह्मात्मक स्फोट अनेक वर्णरूप या ध्वनिरूप में प्रतीत हो, अथवा अनेक वर्णरूप या ध्वनिरूप उसको कह सकें। बिना किसी अकाट्य युक्ति या निमित्त के शब्दतत्त्व (स्फोट) को अनेक वर्णरूप अथवा ध्वनिरूप नहीं कह सकते। कारण यह है कि स्वयं भगवती श्रुति ही शब्दतत्त्व को वर्ण और ध्वनि से अतिरिक्त व्यवस्थापित करती है। श्रुति कहती है—

> उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्
> उतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
> उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
> जायेव पत्ये उशती सुवासाः॥

वर्णों के अतिरिक्त स्फोट की सत्ता में यह श्रुति प्रमाणभूत है। इस श्रुति को भाष्यकार ने शब्दानुशासन के प्रयोजन-प्रसङ्ग में लिखा है और इसकी व्याख्या भी प्रयोजनपरक ही की है। परन्तु, अन्य आचार्यों ने इसकी व्याख्या पद्यमय कारिकाओं में की है, जिससे स्फोटतत्त्व के ऊपर बहुत प्रकाश मिलता है। वे कारिकाएँ हैं—

> अपि चो तत्व इत्यादेरागमादपि गम्यते।
> वर्णातिरिक्तमेवेदं शब्दतत्त्वमिति स्फुटम्॥१॥
>
> उतत्व इति मन्त्रस्य ह्ययमर्थः प्रतीयते।
> स्वविवर्त्तमहीशैलसमुद्राद्यात्मना स्थिताम्॥२॥
>
> पश्यन्नपि पुमान् वाचं नैव कश्चिद्ददर्श ताम्।
> इयं मही ह्ययं शैलः समुद्रोऽयमिति भ्रमन्॥३॥
>
> अहं पश्यामि वाक्तत्त्वमित्येवं नावगच्छति।
> किन्त्वन्यदेव पश्याभीत्येवमेवाभिधीयते॥४॥
>
> तेनात्र वाग्विवर्त्तत्वात् सर्वस्यैव हि वस्तुनः।
> तत् पश्यन् वाचमेवासौ स्वतः पश्यति यद्यपि॥५॥
>
> तथापि तत्तथाऽज्ञानात् फलतो न ददर्श ताम्।

यथा रज्जूं पुमान् कश्चित् सर्पाकारतया स्थिताम् ॥६॥
पश्यन्नप्यन्यथाख्यातिविप्रलब्धतया सदा ।
अयं सर्पः पुरो मेऽत्र वसतीति परिभ्रमन् ॥७॥
रज्जूं रज्जुतया जानन् फलतो नैव पश्यति ।
तद्वद्वाचमपीत्येवमाद्यस्यार्थः प्रदर्शितः ॥८॥
तथा कश्चित् पुमान् वाचं श्रुवाखमर्थमञ्जसा ।
पूर्वध्वनिकृताऽव्यक्तज्ञानसंस्कारसङ्गतैः ॥९॥
उत्तरध्वनिभिस्तैस्तैः क्रमेण स्फुटतामिताम् ।
पदमेकं वाक्यमेकं महावाक्यमिदं तथा ॥१०॥
इत्येवमादिरूपेण शृण्वन्नप्यन्यथा भ्रमन् ।
व्यञ्जकारोपितैर्भेदक्रमच्छेदैः प्रतारितः ॥११॥
व्यवहारोपयोगित्वात् वाचं वर्णादिरूपिणीम् ।
श्रुवाखस्योपवर्षस्याप्यजानन्नञ्जसा मतम् ॥१२॥
तामेनामवजानीते फलतो न शृणोति तत् ।
इति द्वितीयपादार्थस्तृतीयार्थोऽत्र वर्ण्यते ॥१३॥
ननु वर्णस्वरूपस्य देशे काले नरेषु वा ।
बाधाभावात् कचिच्चापि वाचं वर्णस्वरूपिणीम् ॥१४॥
शृण्वन्नैव शृणोतीति वदितुं शक्यते कथम् ।
इत्याशङ्क्य क्वचिद्बाधामाह तस्य नरान्तरे ॥१५॥
उतोत्वेत्यादिनास्याङ्घ्रेः तृतीयस्येति सङ्गतिः ।
अप्यन्यस्मै तथा वाणी पुरुषाय महात्मने ॥१६॥
शब्दशास्त्रपरिज्ञानजातसंस्कारशालिने ।
योगाभ्यासविशुद्धान्तःकरणायात्मवेदिने ॥१७॥
वर्णादिभ्रमसंछन्नां तद्भ्रमापनयेन ताम् ।
तात्त्विकीं तनुमात्मीयां स्फुटं विवृणुते स्वयम् ॥१८॥
इत्थं तृतीयपादार्थस्तुरीयार्थोऽथ कथ्यते ।
अर्थस्याऽभिहितस्याह जायेवेत्यादिनोपमाम् ॥१९॥

इति सङ्गतिरस्यार्थः कथ्यते तदनुस्फुटम् ।
यथा खल्वङ्गना काचिद् ऋतुस्नाता रजोहतम् ।।२०।।
अपास्य प्राक्तनं वासः परिधाय मनोहरम् ।
वासोऽन्यत्प्रमुयोत्कर्षक्रमादपगतत्रपा ।।२१।।
शनैः शनैः स्रंसमाने तस्मिन्नपि च वाससि ।
भृशं कामयमाना सा कन्दर्पशरपीडिता ।।२२।।
रिरंसुरखिलां स्वीयां तनुं विवृणुते स्फुटम् ।
पत्ये तद्वदियं वाणी शाब्दिकाय महात्मने ।।२३।।
शब्दशास्त्रमहातीर्थस्नानपूता शुभा सती ।
अपनीतापशब्दाख्यादुष्टाच्छादनबन्धुरा ।।२४।।
प्रयोगाद्दत्तसद्वर्णा शोभनाच्छादनान्विता ।
योगाभ्यासमयप्रेमलसदान्ध्यमपत्रपा ।।२५।।
वर्णाकारविपर्यासवासनेऽपि शनैः शनैः ।
स्रंसमाने वरामेकां तनुं विवृणुते निजाम् ।।२६।।
इत्येवं तुर्यपादार्थो मन्त्रस्यास्य निरूपितः ।
पश्यन्निति पदेनात्र चक्षुर्ग्राह्यत्वमीरितम् ।।२७।।
वाचस्तद्वाग्विवर्तत्वं विना नैवोपपद्यते ।
वस्तुनो दृश्यमानस्य तेन मन्यामहे वयम् ।।२८।।
प्रपञ्चो वाग्विवर्त्तोऽयं दृश्यमान इति स्फुटम् ।
शृण्वन्नैव शृणोतीति श्रवणाऽश्रवणे स्फुटे ।।२९।।
वाचस्ते सविपर्यासनिर्विपर्यासरूपताम् ।
विना नैवोपपद्येते कल्पयामस्ततो वयम् ।।३०।।
वर्णाकारविपर्यासरूषिता वागिति स्फुटम् ।
तनुं विवृणुतेत्यस्मादित्येतदपि यद् वचः ।।३१।।
तदप्यावेदयत्येव वाचं वर्णातिरेकिणीम् ।
वर्णरूपा तनुर्येषां वाचः सा विवृता स्फुटम् ।।३२।।
सर्वेभ्यः प्रतिवक्तृभ्य इति नैषा तनुर्मता ।

सन्वं विसस्त्र इत्यत्र वाचं तां निर्णयामहे ॥३३॥
वर्णातिरेकिणी वाणीत्यनवद्यं ततोऽखिलम् । इति

उपर्युक्त कारिकाओं का भावार्थ इस प्रकार है—'उतत्वः पश्यन्' आदि आगमों (श्रुतियों) से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रूयमाण वर्णों के अतिरिक्त ही शब्दतत्त्व (स्फोटतत्त्व) है। यहाँ 'स्फुटम्' पद से स्फोट ही लक्षित होता है। 'उतत्वः' इत्यादि मन्त्र का अर्थ होता है कि अपने (वाक् का) ही विवर्त्त भूत पृथिवी, पर्वत, समुद्र आदि रूपों में स्थित (भासित) वाक्तत्त्व है, उसको देखता हुआ भी कोई मनुष्य नहीं देखता है; क्योंकि यह पृथिवी है, यह पर्वत है, यह समुद्र है, इस प्रकार के भ्रमात्मक ज्ञान में ही वह भूला रहता है। सारा दृश्यमान संसार वाक्तत्त्व ही है, इस प्रकार का यथार्थ ज्ञान उसे नहीं है। चूँकि वह समुद्रादि के रूप में ही वाक्तत्त्व को देखता है, इसलिए वह नहीं देखने के बराबर है। इसी से श्रुति कहती है 'उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्', अर्थात् 'पश्यन्नपि न पश्यति,' देखता हुआ भी नहीं देखता है।

अतएव, यदि समस्त वस्तु शब्द का ही विवर्त्त है, तो स्वतः शब्द को ही वह देखता है, तो भी वह देखता हुआ भी (वास्तव में) नहीं देखता, कारण शब्दत्वेन उसको नहीं देखता, अर्थात् यह शब्द ही है, ऐसा ज्ञान उसको नहीं है, किन्तु वह समझता है कि यह पृथिवी है, यह पर्वत है, यह समुद्र है। यह सब शब्द ही है, ऐसा ज्ञान उसे नहीं होता। जैसे, कोई आदमी अपने आगे सर्प के आकार में रज्जु को देखता हुआ भी अन्यथाख्याति (भ्रम) से विमुग्ध होकर रज्जु को रज्जु नहीं समझकर, यह सर्प है, यही समझता है, इसी प्रकार पृथिवी, पर्वत, समुद्रादि के आकार में विवर्त्तमान (भासित) शब्द-तत्त्व को देखता हुआ भी 'यह शब्दतत्त्व वही है', ऐसा ज्ञान न होने से यथार्थ में वह नहीं देखता है।

इसी प्रकार कोई मनुष्य स्वभावतः अर्थ को कहता हुआ वाक् (वाणी) (पूर्व-पूर्व ध्वनिकृत जो अव्यक्त ज्ञान का संस्कार है, उसके सहित उन उत्तरोत्तर ध्वनियों से क्रमशः स्फुट होकर 'यह एक पद है, यह एक वाक्य है, यह महावाक्य है,' इत्यादि रूपों से जो श्रवणेन्द्रिय का विषय होता है) को सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। कारण यह है कि व्यंजक ध्वनि में आरोपित जो भेद है, उसके क्रमच्छेद से प्रतारित होकर व्यंजक ध्वनि के ही रूप में उसको सुनता है। व्यवहार के उपयोगी ध्वन्यात्मक वर्ण के रूप में 'यह वाक्तत्त्व ही है', इस उपवर्ष

मत को भी नहीं जानता हुआ वह उपेक्षादृष्टि से देखता है, अतएव वह वस्तुतः
ीं सुनने के बराबर है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पृथिवी और पर्वतादि के
। में विवर्त्तमान वाक्तत्त्व को देखता हुआ भी वाक्त्वेन ज्ञान नहीं होने से
ीं देखता है, उसी प्रकार अभिव्यञ्जक ध्वन्यात्मक वर्णों के रूप में सुनता हुआ
वाक्त्वेन ज्ञान नहीं होने से फलतः वह नहीं सुनता है।

तृतीय पाद की संगति मिलाने के लिए कारिका में शङ्का उपस्थित की
ई है 'ननु' इत्यादि से। शङ्का का तात्पर्य यह है कि वर्णस्वरूप वाक् को स्वीकार
रने पर वर्णस्वरूप का किसी देश, काल या मनुष्य में बाध नहीं होता, अर्थात्
नेक देश, काल या मनुष्य में एक ही रूप से वर्ण का श्रवण होता है, इस
प्रति में वर्णस्वरूप वाक् को वह सुनता हुआ भी नहीं सुनता, यह कैसे कहा जा
कता है ?

इस प्रकार की शङ्का में दूसरे किसी मनुष्यान्तर में बाधा दिखाने के लिए
तोत्वस्मै' इत्यादि तृतीय पाद का विवरण करते हैं, यही इसकी सङ्गति है।
स्मै' का अर्थ है 'अन्यस्मै'। इसका अभिप्राय यह है कि एक दूसरा ऐसा विद्वान्
ात्मा है, जिसको शब्दशास्त्र का परिज्ञान होने से सत्संस्कार उत्पन्न हो गया है
ौर जिसका अन्तःकरण योगाभ्यास से विशुद्ध हो गया है, उस आत्मवेत्ता के
ए अपनी यथार्थ तनु (शरीर) को, जो वर्णादि भ्रम से संछन्न है, उस भ्रम को
ाकर वास्तविक शरीर को वाक् स्वयं प्रकट करती है।

चतुर्थ पाद का अर्थ है—उक्त अर्थ की ही उपमा 'जायेव पत्ये' इत्यादि से
हते हैं। यही इसकी सङ्गति है। जिस प्रकार कोई अङ्गना ऋतुकालिक स्नान के
द रज से म्लान पूर्व के वस्त्र को छोड़कर दूसरे मनोहर वस्त्र को धारण करती है,
द में प्रणय के उत्कर्ष से लज्जारहित होकर अपने पति से मिलती है। शनैः-शनैः
स वस्त्र के भी स्रंसमान (ढीला) होने पर कामबाण से पीडित होकर रमण
रने की इच्छा से अपने समस्त शरीर को अपने पति के सामने स्पष्ट विवृत कर
ती है, उसी प्रकार यह वाणी भी शब्दशास्त्र-रूपी महातीर्थ में स्नान से पवित्र
कर अप-शब्दरूपी दुष्ट वस्त्रों से रहित हो पवित्र और शुद्ध शब्दों के प्रयोग से
ाहृत सद्वर्णरूपी सुन्दर वस्त्र को धारण कर योगाभ्यासमय प्रेम से मत्त, अतएव
ज्जा से रहित हो शब्दशास्त्र में निष्णात वैयाकरणों से मिलती है। बाद में
र्णाकार में विपर्यय-रूपी अशुद्ध वस्त्र के भी धीरे-धीरे स्रंसमान होने पर अपनी
न्दर वास्तविक स्फोटरूप देह को भी प्रकाशित कर देती है।

तत्त्व को चक्षु-इन्द्रिय का विषय बताया गया है। यह तभी सम्भव है, जब कि दृश्यमान सकल प्रपञ्च को शब्दतत्त्व का परिणाम या विवर्त्त मानें, अन्यथा नहीं। इसलिए, इन्द्रिय और तर्क के अविषय जो अदृष्ट जगत् का मूलकारण है, उसका निर्णायक श्रुति के आधार पर विचार करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दृश्यमान सकल प्रपञ्च उसी शब्दतत्त्वात्मक स्फोटतत्त्व का परिणाम या विवर्त्त है। यहाँ 'दृश्यमान इति स्फुटम्' में स्फुटम् से स्फोट का ही संकेत प्रतीत होता है। 'शृण्वन् न शृणोत्येनाम्' इस वाक्य से वाक् (शब्द) को श्रवणेन्द्रिय का विषय और अविषय दोनों होना बताया गया है, यह भी वाक् के सविपर्यास और निर्विपर्यास के बिना सङ्गत नहीं होता, अर्थात् जबतक शब्द का वर्ण के रूप में परिणाम या विवर्त्त (भान) न मानें, तबतक शब्द का श्रवण और अश्रवण दोनों नहीं बनते, इसलिए श्रुति के आधार पर यही कल्पना हो सकती है कि शब्दतत्त्व वर्णाकार के विपर्यास से रूषित है, अर्थात् शब्दतत्त्व (स्फोट) के ही वर्ण आकार में भासित है। यहाँ भी 'स्फुटम्' शब्द से स्फोट का ही निर्देश है।

'तनु' विवृणुतेत्यस्मै' यह वाक्य भी वर्णों के अतिरिक्त शब्दतत्त्व (स्फोट) को सूचित करता है। वर्ण-रूप तनु को विवृत करने से वर्ण के अतिरिक्त वाक्-तत्त्व (स्फोट) सिद्ध हो जाता हैं। 'तन्वं विसस्रे' = तनु को दिखाती है, इससे भी यही सूचित होता है कि वर्ण के अतिरिक्त शब्दतत्त्व है। जिस प्रकार भौतिक शरीर के अतिरिक्त, सब शरीरों में अनुस्यूत, सर्वव्यापक और नित्य आत्मतत्त्व रहता है, उसी प्रकार वर्ण, पद, वाक्यों के अतिरिक्त और उन वर्ण, पद, वाक्यों में अनुस्यूत सर्वव्यापक नित्य स्फोटतत्त्व (जिसको शब्दब्रह्म कहते हैं) की स्थिति मानी जाती है। यह वर्णों के अतिरिक्त श्रुति में उक्त जो वाक् (वाणी) है, वही वैयाकरणों का स्फोटब्रह्म या शब्दब्रह्म है। यद्यपि पूर्वोक्त श्रुति (उतत्वः पश्यन् आदि) और उसके ऊपर जो कारिकाएँ हैं, उनकी समालोचना से स्फोटतत्त्व का पूर्ण और स्पष्ट परिचय प्राप्त हो जाता है, तथापि श्रुति के अनुकूल तर्क भी अपेक्षित होता है, इसलिए स्फोट के साधक कुछ तर्क भी दिखाना आवश्यक प्रतीत होता है।

स्फोटसाधक युक्ति या तर्क

पूर्वोक्त विवेचन के बाद यहाँ यह विचार करना है कि अर्थ की प्रतीति पद या वाक्य से ही होती है, यह सर्वानुभवसिद्ध सिद्धान्त है। यहाँ यह विकल्प

होता है कि पद या वाक्य में रहनेवाला प्रत्येक वर्ण अर्थ का बोधक होता है, अथवा सब मिलकर वर्णों का समुदायबोधक होता है। प्रत्येक वर्ण को यदि अर्थ का बोधक माना जाय, तब तो एक ही प्रथम वर्ण के उच्चारण से अर्थ का बोध हो जाना चाहिए, वर्णान्तरों का उच्चारण व्यर्थ ही हो जायगा। यदि वर्णसमुदाय अर्थ का बोधक होता है, यह पक्ष माना जाय, तो यह भी युक्त नहीं होता। कारण यह है कि वर्णों के उच्चरितप्रध्वंसी होने के कारण उनका सम्मेलन (समुदाय) ही असम्भव हो जाता है। तात्पर्य कि वर्णों का यह स्वभाव है कि प्रथम वर्ण, द्वितीय वर्ण के उच्चारणकाल में नष्ट हो जाता है, इस स्थिति में अन्तिम वर्ण के उच्चारणकाल में पूर्व के समस्त वर्ण नष्ट हुए रहेंगे, पुनः उनका सम्मेलन होना असम्भव है। इसलिए, 'सम्मिलित वर्ण अर्थ के बोधक होते हैं', यह द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं होता। यदि यह कहें कि क्षणिक वर्णों के सम्मेलन असम्भव होने पर भी एक स्मृति के विषय होने के कारण वे अर्थ के बोधक हो सकते हैं, तो यह भी कहना युक्त नहीं होता। कारण यह है कि, नदी, दीन, सर और रस इनके भी एक स्मृति के विषय होने से कुछ विशेषता नहीं होने के कारण ये सब एकार्थबोधक हो जाते हैं, यह एक महान् दोष है। इसका तात्पर्य यह है कि नदी में जो वर्ण हैं, वे सब दीन में भी हैं, इसी प्रकार सर में जो वर्ण हैं, वे ही रस में भी है, केवल आनुपूर्वी का भेद है। जिस आनुपूर्वी से अनुभव होता है, उसी आनुपूर्वी से स्मृति भी हो, इस प्रकार का कोई नियम भी नहीं है। बल्कि, आनुपूर्वी के अनुभव के विपरीत भी स्मृति का होना सर्वानुभवसिद्ध भी है। इस स्थिति में नदी, दीन आदि में एक स्मृति के विषय होने से एकार्थ होने का जो दोष पूर्व में दिखाया गया है, वह आ जाता है।

इसलिए, प्रत्येक वर्ण या समुदाय इन दोनों में कोई भी यदि वाचक सिद्ध नहीं होता, तो यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि इनके अतिरिक्त तत्-तत् वर्णों से अभिव्यक्त होनेवाला पदस्फोट या वाक्यस्फोट नामवाला नित्य और निरवयव जो शब्दतत्त्व है, वही अर्थ का वाचक होता है। इसमें पदस्फोटवादी का मत है कि नित्य, निरवयव, मुख्य, परमार्थ-सत् और बोधकत्व-शक्ति का अधिष्ठान पदस्फोट ही है। वर्ण और वाक्य का उसमें अध्यास होने से पदस्फोट के ही वे विवर्त्त माने जाते हैं। इसलिए, वर्ण या वाक्य अविद्यापरिकल्पित होने से आविद्यक माने जाते हैं। केवल पदस्फोट से ही आकांक्षा, योग्यता आदि के वश से वाक्यार्थ समुल्लसित होता है। परन्तु, वाक्यस्फोटवादी कहते हैं कि वाक्य ही नित्य, निरवयव और बोधकत्व-शक्ति का अधिष्ठान है। पद और वर्ण वाक्य के ही विवर्त्त होने से आविद्यक माने जाते हैं। वाक्यस्फोट-पक्ष में कुछ

वैदिक मीमांसक वाक्य को सावयव भी मानते हैं। उस पक्ष में भी तत्-तत् ताल्वादि स्थानों से उद्भूत जो वायवीय ध्वनिविशेष हैं, (जिनको नाद भी कहते हैं) उन नादों से अभिव्यङ्ग्य जो नित्य वर्ण हैं, वे ही विभु होने पर भी वाक्य के अवयव माने जाते हैं। इसमें विशेषता यही है कि निरवयव पक्ष में ध्वनि ही स्फोट की अभिव्यञ्जिका होती है, और सावयव पक्ष में ध्वनि से अभिव्यङ्ग्य वर्ण ही स्फोट के अभिव्यञ्जक होते हैं।

यहाँ शङ्का होती है कि वर्णों को यदि नित्य मानते हैं, तब तो नित्य वर्ण ही अर्थ के बोधक हो जायेंगे, इस स्थिति में स्फोट की कल्पना व्यर्थ हो जाती है। वर्णों को नित्य मानने में प्रमाण यह है कि जिस प्रकार—'योऽहं बाल्ये पितरावन्वभवम्, सोऽहमिदानीं प्रणप्तॄननुभवामि' अर्थात् जो मैं बाल्यावस्था में माता-पिता का अनुभव कर रहा था, वही मैं इस समय नाती-परनाती का अनुभव कर रहा हूँ, इस प्रत्यभिज्ञा के बल से आत्मा को नित्य माना जाता है, उसी प्रकार 'सोऽयं गकारः' वही यह गकार है, इस प्रत्यभिज्ञा के बल से गकारादि वर्णों को भी नित्य मानना आवश्यक हो जाता है। इस स्थिति में वर्णों के नित्य मानने पर गत्वादि सामान्य की कल्पना करने की भी आवश्यकता नहीं होती, यह एक बड़ा लाघव भी है, और तत्-तत् वर्ण व्यक्तियों में प्रतीयमान जो उदात्तत्व, अनुनासिकत्व आदि का भेद है, वह तो वर्ण की अभिव्यञ्जक ध्वनि के ही मानने से उपपन्न हो जाता है। आचार्यों ने भी कहा है—

तेन यत्प्रार्थ्यते जातेस्तद्वर्णादेव लभ्यते।
व्यक्तिलभ्यन्तु नादेभ्य इति गत्वादिधीर्वृथा॥

अर्थात्, इस पूर्वोक्त हेतु से जिस वस्तु को जाति स्वीकार कर हम प्राप्त करना चाहते हैं वह वर्ण से ही प्राप्त हो जाता है और व्यक्ति से लभ्य प्रतीयमान उदात्तादि भेद का नाद (ध्वनि) का ही धर्म मान लेने से काम चल जाता है। इसलिए गत्वादि जाति की कल्पना व्यर्थ हो जाती है। इस प्रकार, 'सोऽयम्' इत्यादि अबाधित प्रत्यभिज्ञा के बल से वर्णों के एकत्व निश्चित सिद्ध हो जाने पर जो यह उदात्त है, यह अनुदात्त है, यह सानुनासिक है और यह निरनुनासिक है इत्यादि विचित्र प्रतीति का अनुभव होता है, वह तो व्यञ्जक ध्वनि-विषयक ही सिद्ध होता है, वर्ण-विषयक नहीं, ऐसा ही समझना चाहिए।

एक बात और है कि वर्णों के भेद स्वीकार करने पर दस गकारों का उच्चारण किया, इस प्रकार की प्रतीति होनी चाहिए, और दस बार गकार का

उच्चारण किया, इस प्रकार की जो अनुभवसिद्ध प्रतीति है, वह नहीं हो सकती। भगवान् शङ्कराचार्य ने भी इस विषय में कहा है—'वर्णव्यक्तय एव हि प्रत्युच्चारणं प्रत्यभिज्ञायन्ते द्विर्गोः शब्द उच्चारित इति हि प्रतीतिर्भवति न तु द्वौ गो शब्दाविति', अर्थात् प्रति उच्चारण वर्णव्यक्ति की ही प्रत्यभिज्ञा होती है, दो बार गो शब्द का उच्चारण किया, इस प्रकार की प्रतीति होती है, दो गो शब्द का उच्चारण किया, इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती। इससे यही सिद्ध होता है कि वर्णव्यक्ति एक ही और नित्य है, उन वर्णों का समुदाय ही अर्थ का बोधक होता है। इस स्थिति में स्फोट की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है? यही शङ्का का तात्पर्य है।

शङ्का का समाधान यह है, यद्यपि 'सोऽयं गकारः' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है, तथापि गकार उत्पन्न हुआ, गकार नष्ट हुआ, यह गकार मन्द है, यह तार है, इत्यादि अनेक प्रकार की जो अबाधित प्रतीति होती है, उसी के बल से वर्णों का भेद स्पष्ट भासित होता है। इस स्थिति में 'सोऽयं गकारः' वह वही यह गकार है, इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा होती है, उसको तज्जातीय विषयक ही मानना युक्त प्रतीत होता है। तज्जातीय का तात्पर्य है, उसी जाति का, न कि वही व्यक्ति। कारण यह है कि उक्त प्रतीति के बल से वर्णों का भेद स्पष्ट सिद्ध है। यदि कहें कि प्रत्यभिज्ञा को तज्जातीय विषयक मानने पर उस जातिवाला यह है, इस प्रकार की प्रतीति होनी चाहिए, वही है, इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, वह नहीं हो सकती, तो इसका उत्तर यह होता है कि तज्जातीय प्रतीति में भी 'सोऽयम्', वही यह है, इस प्रकार का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है। जैसे—

वही यह रुपया है, जो हमने काशी में आपसे लिया था। वही औषध खा रहा हूँ, जो आपने गत वर्ष खाया था इत्यादि स्थलों में वही यह है, इस प्रकार का व्यवहार तज्जातीय में भी देखा जाता है। गत्व आदि जाति के बिषय में भी कोई विवाद नहीं है; क्योंकि यह गकार है, इस प्रकार अनुगत प्रतीति के बल से जाति की सिद्धि होने में कोई बाधक नहीं है।

यदि एकाकार प्रतीति को व्यक्तिसादृश्य बल से मान लें, तब तो जातिमात्र का उच्छेद हो जायगा। इस अवस्था में वर्णों के नित्यत्व या अनित्यत्व दोनों पक्षों में प्रबल प्रमाण न होने से विवादग्रस्त होने के कारण दोनों के मत में वर्णों के अतिरिक्त स्फोट-रूप शब्दब्रह्म का अपलाप कोई भी नहीं कर सकता है। मान लीजिए कि वर्ण नित्य ही हैं, तो भी उनके समुदाय न होने के कारण एक-

पदत्व न होने से अर्थ के वाचक हैं, ऐसा नहीं कह सकते। आचार्यों ने भी कहा है—

नित्यानामपि वर्णानां तत्तद्व्यञ्जकवायुभिः।
ध्वनिभिर्वा तिरोधाने न वर्णसमुदायधीः॥

तात्पर्य यह है कि नित्य वर्णों की भी अभिव्यञ्जक वायुओं से अथवा ध्वनियों से तिरोधान होने के कारण वर्णसमुदाय की बुद्धि नहीं हो सकती। इसलिए, अर्थ के बोधक वर्ण होते हैं, यह नहीं कह सकते। इसलिए, वर्ण के वाचकत्व सिद्ध न होने पर वर्णादि से अभिव्यज्यमान स्फोट नाम का शब्दतत्त्व सिद्ध होता है। वही वाचक है।

शङ्का—वर्णों को वाचक माननेवालों का कहना है कि आप (स्फोटवादी) के मत में इसीलिए स्फोट स्वीकार किया जाता है कि स्फोट के विना अर्थबोध अन्यथा अनुपपन्न है, इसलिए स्फोट को मानना चाहिए, परन्तु विचार करने से स्फोट-स्वीकार के विना भी अर्थबोध उत्पन्न हो जाता है। जैसे, संस्कारों के क्षणिक होने पर भी संस्कारों का फल स्मरण तो होता ही है। इसीलिए, उसी स्मरण-रूप हेतु से पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभवजन्य संस्कारों के सद्भाव का अनुमान किया जाता है। वही अनुमित संस्कारों का समुदाय अन्त्यवर्णानुभव का सहकारी होकर अर्थबोध का जनक होता है। इस स्थिति में स्फोट की कल्पना व्यर्थ ही है। यही शङ्कक का तात्पर्य है।

इसके उत्तर में स्फोटवादियों का कहना है कि यह शङ्का या तर्क निराधार है। कारण यह है कि जिस विषय के अनुभव से संस्कार उत्पन्न होता है, उसी विषय की स्मृति या बुद्धि को वह संस्कार उत्पन्न करता है, अन्य विषयक स्मृति या बुद्धि को नहीं, यह संस्कारों का स्वभाव है। इस स्थिति में वर्ण-विषयक अनुभवजन्य जो संस्कार है, वह वर्णविषयक ही स्मृति या बुद्धि को उत्पन्न कर सकता है, अर्थविषयक स्मृति को किसी प्रकार भी उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि वर्णविषयक अनुभवजनित संस्कार अन्य, अर्थात् अर्थविषयक स्मृति या बुद्धि को उत्पन्न करे, तब तो समस्त मनुष्य किसी एक ही पदार्थ को अनुभव कर सब कुछ जान सकते हैं, यह अतिप्रसङ्ग दोष हो जाता है। भामती में वाचस्पतिमिश्र ने भी कहा है 'भावना परनाम्नः संस्कारस्य स्वोत्पादकानुभव गोचरस्मृतिजनकत्वात् अन्यत्र सामर्थ्याऽदर्शनात्, नहि गवानुभवजनितः संस्कारः करोति स्मृतिं तुरगे।' अर्थात्, भावना नामक संस्कार अपने उत्पादक अनुभव-

विषयक स्मृति को उत्पन्न करता है, इसीलिए उसका सामर्थ्य अन्यत्र नहीं देखा जाता। इसीलिए, गो-महिष आदि के अनुभव से उत्पन्न संस्कार तुरग (अश्व) विषयक स्मृति को उत्पन्न नहीं करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वर्णविषयक अनुभवजन्य संस्कार अर्थविषयक स्मृति या बुद्धि को उत्पन्न नहीं कर सकता।

इसपर पुनः यह शङ्का होती है कि जिस प्रकार अपने-अपने वर्णों से उत्पन्न जो संस्कार हैं, वे निखिल वर्णविषयक एक ही स्मृति को मिलकर उत्पन्न करते हैं, इस अवस्था में एक स्मृति के विषय वर्ण ही अभिधेय अर्थ के वाचक होते हैं, इसलिए स्वभाव-विपर्यास-रूप दोष नहीं आ सकता।

इसी उक्त विपर्यास दोष के कारण के लिए प्रकारान्तर से दूसरे शब्दों में विकल्प से शङ्का करते हैं—क्या संस्कारों के विजातीय के उत्पादन में सजातीय की अपेक्षा नहीं है, यह तात्पर्य है? अथवा अनेकविषयक एक स्मृति में सजातीय की अपेक्षा नहीं है, यह तात्पर्य है? इस विकल्पशङ्का में पहला पक्ष तो नहीं मान सकते; क्योंकि 'इदमेकम् इदमेकम्'=यह एक है, यह एक है, यहाँ एक-एक विषयक दो अनुभवों से 'द्वौ' (दो) इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है। वह बुद्धि उस अनुभवजनित संस्कारों से ही उत्पन्न होती है। यहाँ विजातीय के उत्पादन में सजातीय की अपेक्षा रहती ही है। इसलिए प्रथम पक्ष मान्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं होता। कारण यह है कि 'ते घटाः' (वे घड़े हैं) इत्यादि स्थलों में अनेक विषयक एक स्मृति में संस्कारों की परस्पर अपेक्षा देखी जाती है। इसलिए, एक-एक करके प्रत्येक स्मृति के जनक होने पर भी सम्मिलित संस्कारों के अनेक वर्णविषयक स्मृति के जनक होने में कोई आपत्ति या विरोध नहीं है।

लोक में भी देखा जाता है कि चक्षु आदि इन्द्रियों की अपेक्षा बिना भी संस्कार स्मृति का जनक होता ही है, और चक्षु आदि इन्द्रियाँ संस्कार की अपेक्षा किये बिना दर्शन आदि के कारण होती हैं। परन्तु, 'सोऽयं देवदत्तः', वही यह देवदत्त है इत्यादि प्रत्यभिज्ञा स्थल में संस्कारसापेक्ष ही चक्षु आदि कारण होते हैं। यही स्फोट-खण्डन और वर्णों का बोधकत्व सिद्ध करने के लिए मीमांसकों का तर्क है।

वैयाकरणों का उत्तर

मीमांसकों के तर्क पर वैयाकरण कहते हैं कि मीमांसकों का कहना युक्तिसंगत नहीं है। कारण यह है कि एक स्मृति के उपारूढ (विषय) जो वर्ण हैं,

उनके वाचकत्व मानने में नदी, दीन, सर, रस इत्यादि स्थलों में क्रमशः स्मृति के नियमाभाव होने से अक्रम या विपरीत क्रम से उच्चारण में भी कोई विशेषता न होने से प्रसिद्धि-विरोध की आपत्ति हो जाती है। इसलिए मीमांसकों का उपर्युक्त कथन युक्त नहीं होता।

मीमांसकों का कथन

वैयाकरणों की युक्ति के ऊपर मीमांसक कहते हैं कि जितने और जिस प्रकार के वर्णों से अर्थ प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार के उतने ही वर्णों का वाचकत्व माना जाता है। आचार्य कुमारिलभट्ट ने भी कहा है—

यावन्तो यादृशा ये च पदार्थप्रतिपादने।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावभासकाः॥

अर्थात्, जितने और जिस प्रकार (जिस क्रम) से वर्ण अर्थ के प्रतिपादन में ज्ञातसामर्थ्य हैं, वे उसी प्रकार अर्थ के बोधक होते हैं। कारिका में 'यादृशाः' पद से अनेकवक्तृक और क्रमिक दोनों का ग्रहण होता है। यहाँ क्रम का अर्थ आनुपूर्वी होता है। पूर्व-पूर्व वर्णों के ध्वंस अथवा पूर्व-पूर्व वर्णज्ञान के बाद उत्तरोत्तर वर्णों का ज्ञान अथवा पूर्व-पूर्व वर्णों के बाद उत्तरोत्तर वर्णों का उच्चारण, इन सबका ग्रहण आनुपूर्वी या क्रम पद से होता है, जिस प्रकार क्रमानुरोधिनी (क्रमशः चलनेवाली) पिपीलिका (चींटी) में ही पंक्तिबुद्धि होती है। इस स्थिति में यद्यपि स्मरणलक्षण प्रतीति में रहनेवाले वर्ण आदि में विशेषता नहीं है, तथापि युगपत् या विपरीत क्रम से अभिव्यक्ति की अपेक्षा क्रमोच्चारित वर्णों में विशेषता अवश्य ही रहती है। इससे सिद्ध होता है कि एक स्मृति के विषय होकर वर्ण ही अर्थ के बोधक होते हैं। इस स्थिति में अर्थ की अनुपपत्ति न होने से स्फोट की कल्पना ही नहीं हो सकती।

स्फोटवादियों का उत्तर

स्फोटवादियों का कहना है कि मीमांसकों का कथन युक्तिसंगत नहीं है। कारण यह है कि वर्णों के नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों पक्षों में वर्णों का वाचक होना सिद्ध नहीं होता है। वर्णों को अनित्य मानने पर उच्चरितप्रध्वंसी वर्णों का मेलन ही असम्भव है; क्योंकि अन्तिम वर्ण के उच्चारणकाल में पूर्व के सब वर्ण नष्ट ही रहेंगे, इसलिए एक स्मृति के विषय न होने से किसी प्रकार भी अर्थ के बोधक नहीं हो सकते।

वर्णों के नित्य मानने पर भी नित्य और व्यापक वर्णों का देश या काल भी क्रम का नियामक नहीं हो सकता, इसलिए क्रम को उपाध्युपलब्धि ही मानना होगा। उपाध्युपलब्धि का तात्पर्य है, जिसकी उपलब्धि उपाधि ही हो, और वह उपाधि की उपलब्धि स्मृतिरूपा एक ही है। अतः, इसमें क्रम होना सम्भव नहीं। इसलिए एक स्मृति में उपारूढ, अर्थात् विषयीभूत जो वर्ण हैं, चाहे क्रम से अभिव्यक्त हों या अक्रम से अथवा विपरीत क्रम से ही अभिव्यक्त हों, उनमें कोई विशेषता नहीं है। अतः नदी, दीन, सर आदि स्थलों में पर्यायतापत्ति-रूप दोष मीमांसकों के गले पतित होता है, इसलिए वर्णों के वाचकत्व सिद्ध न होने से स्फोट की कल्पना आवश्यक हो जाती है।

पुनः मीमांसकों की शङ्का

पूर्वोक्त कथन पर पुनः मीमांसकों का कहना है कि यद्यपि नित्य व्यापक वर्णों का क्रम नहीं है, तथापि पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभव में तो क्रम रहता ही है, इसलिए वर्णानुभव के क्रमवान् होने से उसी क्रम से एक स्मृति के समारोही वर्णों में भी औपाधिक क्रम स्वीकार किया जा सकता है। आचार्यों ने भी कहा है—

> पदावधारणोपायान् बहूनिच्छन्ति सूरयः।
> क्रमन्यूनातिरिक्तत्वस्वरवाक्यश्रुतिस्मृतीः ॥

इसका तात्पर्य यह है कि केवल एकार्थप्रतीति ही 'एकं पदम्' इस व्यवहार का निमित्त नहीं होता, क्रम आदि भी (जो उपर्युक्त श्लोक के उत्तरार्द्ध में निर्दिष्ट हैं) उक्त व्यवहार में निमित्त होते हैं। जैसे रस, सर में क्रम; कर, करञ्ज में न्यूनाधिकत्व; 'इन्द्रशत्रु' इत्यादि में स्वर; 'सारङ्गमागता नर्त्तकी' में वाक्य; 'परमे व्योमन्' में श्रुति और 'गृभ्णाति' में 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' यह पाणिनीय स्मृति भी 'एकं पदम्' इस व्यवहार के निमित्त होते हैं। इस अवस्था में पूर्वानुभव का क्रम भी एक स्मृति में विशेषक हो ही जाता है। न्यायभाष्यकार ने भी कहा है 'अर्थप्रत्ययकारणत्वञ्च न वर्णमात्राणामपिच क्रमन्यूनातिरिक्ताद्युपहितानामपि' इति। तात्पर्य यह है कि अर्थप्रतीति के कारण केवल वर्णमात्र ही नहीं होते, बल्कि क्रमन्यूनातिरिक्तत्व आदि भी होते हैं। इस स्थिति में वर्णों में औपाधिक क्रम के स्वीकर करने पर नदी, दीन, सर, रस आदि में कुछ दोष नहीं होता, इसलिए वर्णों से ही अर्थप्रतीति हो जाने से स्फोट की कल्पना व्यर्थ ही है। यही मीमांसकों की शंका है।

स्फोटवादियों का उत्तर

मीमांसकों का उपर्युक्त कथन युक्तिसङ्गत नहीं है, यही स्फोटवादियों का कहना है। कारण यह है कि पूर्व पूर्व वर्णों के अनुभव से जनित जो तावद्-विषयक एक स्मृति है, वह संस्कार-रूपी कार्य को उत्पन्न कर तिरोहित वर्ण के अनुभवों को भी यदि विषय नहीं कर सकती, तो उसके क्रम को विषय किस प्रकार कर सकती है ? इस स्थिति में प्राचीन अनुभव के औपाधिक भी जो क्रम है, वह स्मृति के विषयभूत वर्णों का विशेषक (भेदक) कदापि नहीं हो सकता, इसलिए तावद् वर्णों की समूहालम्बन-स्मृति से स्फोट की कल्पना के विना भी अर्थ की उपपत्ति अन्यथा हो जाती है, यह मीमांसकों का कहना सर्वथा अयुक्त है। इसलिए स्फोट की सिद्धि में कोई बाधक नहीं है।

मीमांसकों की एक और शङ्का

इनका कहना है कि कार्य के अनुसार ही कारण की कल्पना युक्त होती है, सर्वमान्य सिद्धान्त वर्णों के सुनने में अर्थबोधक होता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसलिए, वस्तुतः अस्थित या अज्ञात क्रम को भी विशेषक मान लीजिए। इस स्थिति में 'गामानय', गाय ले आओ, इसमें दृश्यमान वर्णों से ही यदि अर्थ का बोध उपपन्न हो जाता है, तो इसको छोड़कर अदृश्यमान निरवयव स्फोट की कल्पना नहीं कर सकते; क्योंकि उसकी स्वीकृति में कोई प्रमाण भी नहीं दीखता। एक बात और भी है कि स्फोट की सिद्धि में अर्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) को जो प्रमाण माना जाता है, वह भी अन्योन्याश्रय दोष से दूषित होने के कारण उचित नहीं प्रतीत होता, जैसे अर्थ का ज्ञान होने पर ही उस अर्थज्ञान की अनुपपत्ति से स्फोट का ज्ञान होगा, और स्फोट का ज्ञान होने से ही अर्थ का ज्ञान होगा, अर्थात् अर्थज्ञान में स्फोट का ज्ञान और स्फोटज्ञान में अर्थ का ज्ञान अपेक्षित हो जाता है। इस स्थिति में एक दूसरे के परस्पर अपेक्षित होने से अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है, इसलिए स्फोट की कल्पना निराधार है

वैयाकरणों का उत्तर

उपर्युक्त शङ्का का समाधान वैयाकरण इस प्रकार करते हैं, मीमांसकों का उपर्युक्त कथन बिलकुल अज्ञानमूलक धूलिप्रक्षेप-मात्र है। कारण यह है कि हम स्फोट की कल्पना नहीं करते है, यह स्फोट तो सर्वजनीन अनुभव सिद्ध प्रत्यक्ष ही है। जैसे 'गौरित्येकं पदम्', 'गामानय' इत्येकं वाक्यम्—गौ यह एक

पद है और 'गाय को लाओ', यह एक वाक्य है। यहाँ सर्वजनप्रसिद्ध जो एकत्व का अनुभव होता है, उसका अपलाप कोई नहीं कर सकता। यहाँ पूर्व-पूर्व वर्णों के ज्ञान से युक्त जो साहित्यावगाहिनी बुद्धि है, उसमें अभिन्न एक नित्य वस्तु की सत्ता अवश्य समुल्लसित रहती है, यह अवश्य मानना ही होगा, अन्यथा नाना वर्णों में एकत्व-बुद्धि कदापि नहीं हो सकती। अभिन्न वस्तु के निर्भासवाली यह एकत्वानुग्राहिणी बुद्धि परस्पर व्यतिरिच्यमान (भिन्न-भिन्न) अपने वर्णों को विषय नहीं कर सकती है; क्योंकि इस प्रकार की एकत्वावगाहिनी बुद्धि के विषयीभूत एक वस्तु में 'एकत्व और नानात्व' इन दोनों का समवाय नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि जिस प्रकार 'वनम्' यह वन है, इस बुद्धि का विषय अनेक वृक्ष ही होते हैं, उसी प्रकार 'पदम्' या 'वाक्यम्' इस बुद्धि का विषय भी अनेक वर्ण के हो सकते हैं, तो यह कहना भी युक्त नहीं हो सकता। कारण यह है कि वनम्, इस बुद्धि का विषय वृक्षों का एक देश में अवस्थान ही है, अर्थात् वहाँ सब वृक्ष एक देश में विद्यमान रहते हैं, और 'पदम्' 'वाक्यम्' में ऐसा नहीं है; क्योंकि द्वितीय वर्ण के उच्चारणकाल में प्रथम वर्ण का नाश हो जाता है, इसलिए वर्णों के वृक्षों के समान सहावस्थान न होने से पदम् या वाक्यम् इस बुद्धि के विषय वर्ण नहीं हो सकते। अतः, वर्णों को आशुतरविनाशी माना जाय अथवा नित्य व्यापक माना जाय, दोनों पक्षों में परस्पर व्यतिरिच्यमान (भिन्न-भिन्न) वर्णों का एकविषय होना या एकार्थ का प्रत्यायक (बोधक) होना सर्वथा असम्भव ही है।

अन्य वादियों की शङ्का

दूसरे वादी कहते हैं कि 'एकं पदम्' यह जो एकत्व-बुद्धि है, वह एक वस्तु का व्यवस्थापक प्रमाण नहीं अपितु व्यवहार-मात्र का निमित्त है। इस स्थिति में हाथी, घोड़ा आदि में जो सेना का व्यवहार होता है, उसका जनक वैरिविध्वंस आदि कोई उपाधि अवश्य है, और जिस प्रकार आम, महुआ, कटहल आदि वृक्षों में वन शब्द का जो व्यवहार होता है, उसका जनक एक देश आदि होता है, उसी प्रकार परस्पर भिन्न-भिन्न वर्णों में भी एकार्थप्रतीति के हेतुत्व अथवा एकार्थसम्बन्धाख्यान 'एकं पदम्' इत्यादि व्यवहार-मात्र का हेतु रहे, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि कहें कि इस प्रकार मानने में अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है, जैसे एकपदत्व के ज्ञान होने पर ही एकार्थप्रतीति के हेतुत्व का ज्ञान होगा और एकार्थप्रतीति का ज्ञान होने पर ही एकपदत्व का ज्ञान होगा, इस प्रकार परस्परसापेक्ष होने से अन्योन्याश्रय दोष दुर्वार हो जाता है, तो इसका उत्तर यह होता है कि एकपदत्व का निश्चय कभी होता ही नहीं। इस स्थिति में एकस्मृति

के विषयीभूत जो अनेक वर्ण हैं, उनका ही स्वार्थ के साथ सम्बन्ध होता है और एकार्थप्रतीतिहेतुत्व में ही 'पदम्' इस कारक शब्द की प्रवृत्ति होती है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सम्बन्ध का ज्ञान पद के अवधारण (निश्चयात्मक ज्ञान) के अधीन नहीं है, किन्तु स्वार्थ-सम्बन्ध के अधीन पदज्ञान होता है। अन्यथा सब कारक-पदों में अन्योन्याश्रय दुर्वार हो जाता है। इसलिए, व्यवहार मात्र के अनुरोध से अनेक वर्णमात्र की अवभासिनी जो श्रोत्रजा बुद्धि है, उसमें और श्रोत्रजा बुद्धि से युक्त वासना से उत्पन्न होनेवाली जो अनुभूत वर्णों की संकलनात्मिका संस्कृति है, उसमें भी पदात्मक स्फोट का व्यवस्थापन किसी प्रकार भी नहीं कर सकते। कारण यह है कि विद्यमान वर्णों के नष्ट होने से (जिसमें पदात्मक व्यवहार कर सकते थे) पदस्फोट सिद्ध नहीं होता। एक बात और है कि 'गौरित्येकं पदम्', गौ यह एक पद है, यहाँ भासमान जो औपाधिक एकत्व है, वह वहीं भासमान जो स्वाभाविक वर्णनानात्व है, उसका बाध नहीं कर सकता। जैसे, 'सिंहोऽयं नरः', यह मनुष्य सिंह है, यहाँ आरोपित (औपाधिक) जो सिंहत्व है, वह स्वाभाविक रूप से भासमान नरत्व को नहीं बाधता है। इसलिए, इस प्रकार की वस्तुओं में एकत्व और नानात्व का विरोध नहीं माना जाता, यह अवश्य स्वीकार करना होगा। यही मीमांसकों का आक्षेप है।

वैयाकरणों द्वारा आक्षेप का उत्तर

उपर्युक्त आक्षेप का खण्डन करते हुए वैयाकरणों का कहना है कि यह सब बात तो ठीक है, परन्तु स्फोटसिद्धि के विरोध में मुख्य तर्क आपने एक ही दिया है और वह यह कि अर्थसम्बन्ध के बाद ही पद की प्रतीति होती है, पहले नहीं, जिससे स्फोट की कल्पना की जा सके। किन्तु, यह सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है। क्योंकि, अर्थ को न जाननेवाले को भी पद की प्रतीति सर्वानुभव-सिद्ध है। इसी अभिप्राय से कृष्णशेष ने कहा है—

> प्रमा न जायते तावद् यावन्न ज्ञायते पदम्।
> पदं हि ज्ञातं करणं सर्वे स्वीकुर्वते बुधाः॥

आशय है कि कोई भी विद्वान् जबतक पदस्वरूप को नहीं जानता, तबतक पदार्थ को नहीं जान सकता। 'सारङ्गमागता' इत्यादि स्थलों में जबतक 'सा' का अर्थ नहीं समझेगा, तबतक उसको अभिमत (यथार्थ) अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। इसलिए, पदस्वरूप का जिसे ज्ञान है, वही पदार्थ को समझता है।

ोंकि, सब वादियों ने ज्ञात पद को ही प्रमा (यथार्थ ज्ञान) के प्रति कारण होना ोकार किया है। विश्वनाथभट्ट ने भी कारिकावली में लिखा है —

पदज्ञानन्तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी।।

इसका तात्पर्य यही है कि शाब्दबोध में, अर्थात् शब्दजन्य बोध होने में द का ज्ञान करण होता है, पदार्थ का ज्ञान द्वार, शक्ति का ज्ञान सहकारी कारण ौर शाब्दबोध फल है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि पदज्ञान के बिना अर्थ-तीति कदापि नहीं हो सकती। इसलिए, पहले पद का ही ज्ञान आवश्यक है, पदज्ञान बाद ही अर्थबोध हो सकता है, अन्यथा नहीं। यह सिद्धान्त सर्वतन्त्रसिद्ध माना या है। इसी प्रकार एकार्थप्रत्याख्यान को जो एकपदत्व-व्यवहार का प्रयोजक ना है, वह भी युक्त नहीं होता। कारण यह है कि पदभाव को प्राप्त केवल र्णों को ही अर्थ का प्रत्यायक (बोधक) मान लें, तो व्युत्क्रम (विपरीत) उच्चारित र्ण भी उस अर्थ का प्रत्यायक होने लगेगा। यदि असम्बद्ध वर्णों को भी अर्थ का धक मान लें, तब तो जिस किसी वर्ण से भी जिसी किसी अर्थ का बोध होने लगेगा, होता नहीं है। इसलिए, वर्णों का सम्बन्ध अवश्य मानना ही होगा और वर्णों सम्बन्ध तभी हो सकता है, जब वर्ण पदभाव को प्राप्त करें, और वह पदभाव भी ोट स्वीकार करने पर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए, स्फोट की सिद्धि द्ध हो जाती है। एकार्थसम्बन्धाख्यान से यदि पदत्व की कल्पना करें, तब तो न्योन्याश्रय दोष दुर्वार हो जाता है, जैसे जब पद होगा, तभी सम्बन्धी होने पर ख्यान होगा और आख्यान होने से ही पदत्व होगा। इस प्रकार, परस्परापेक्ष ने से अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है।

इस स्थिति में एकार्थबोधन के निमित्त वर्णों के परस्पर सम्बन्ध के लिए ले एकपदत्वबुद्धि अवश्य स्वीकार करनी होगी। वह अनौपाधिक (उपाधिरहित) त्वबुद्धि स्वाधिष्ठान स्फोट का ही अवलम्बन करती है। 'सेनावनम्' आदि जो ान्त दिये गये हैं, वे केवल वागाडम्बर-मात्र में ही उपयुक्त होते हैं। वस्तुतः, त्य विभु अथवा आशुतरविनाशी वर्णों का या उनकी अभिव्यञ्जक ध्वनियों का ात किसी प्रकार भी होना असम्भव ही है; क्योंकि आशुतरविनाशी क्रमिक र्णों का या नित्य विभु वर्णों का संघात कहीं भी नहीं देखा गया है। इसलिए, कपदत्व का अवगाहन करनेवाली जो एक बुद्धि है, उसका कारण एक ही ीयमान कोई वस्तु हो सकती है, वह भी स्फोट-रूप ही, अन्य नहीं। इसी कारण से

स्फोटतत्त्व की सम्यक् सिद्धि हो जाती है। वह स्फोट श्रूयमाण वर्ण, या पद अथवा वाक्यरूप ही है, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए। क्योंकि 'देवदत्त गामानय' इन तीन पारमार्थिक पौर्वापर्यों से आरब्ध वाक्य को ही वाक्यस्फोट मान लें, तो 'आनय गां देवदत्त' ऐसा कहने पर अवयवी के भङ्ग हो जाने से अर्थप्रत्यायकत्व नहीं बनता। जिस प्रकार घड़ा के कपाल ध्वस्त हो जाने पर उससे जलाहरणादि क्रिया नहीं होती, उसी प्रकार उक्त वाक्य से भी अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। इसी प्रकार 'देवदत्त गामानय' यहाँ पारमार्थिक क्रमविशेष-विशिष्ट आठ वर्ण वाक्य के आरम्भक होते हैं, तो 'गां देवदत्तानय' इसमें सात ही वर्ण और भिन्न क्रम भी हो जाता है, इसलिए इससे अर्थ की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। अतएव 'श्रूयमाण जो वर्ण, पद और वाक्य हैं, उनको आविद्यक (अविद्या-परिकल्पित) ही मानना होगा और उन सब उच्चार्यमाण वर्ण, पद और वाक्यों में अनुस्यूत अर्थ का प्रत्यायक वाक्यात्मा या पदात्मा नित्य और अनवयव किसी एक पदार्थ को अवश्य मानना होगा, जो स्फोट शब्द का वास्तविक वाच्य होता है।

उपर्युक्त तर्कपूर्ण विवेचन के बाद भी यह आशङ्का होती है कि 'वाक्यम्' इस बुद्धि के विषय चाहे वर्ण न हों, परन्तु वाक्यों का निर्माण तो वर्णों से ही होता है, अतः वाक्य में वर्ण रहते ही हैं। इस प्रकार की बुद्धि प्रायः सर्वजन-प्रसिद्ध है और अनेक प्रकार की है, तो इस बुद्धि का विषय एक निरवयव वाक्यात्मा स्फोट किस प्रकार हो सकता है? यदि यह कहें कि जिस प्रकार 'वने वृक्षाः', 'पटे तन्तवः = वन में वृक्ष हैं, पट में तन्तु हैं, इस प्रकार का व्यवहार लोक में निर्बाध रूप से प्रचलित है, उसी प्रकार 'वाक्ये वर्णाः', 'वाक्य में वर्ण हैं' इस प्रकार का व्यवहार भी हो सकता है, परन्तु यह भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि वाक्य न वर्णात्मक है और न वर्ण समवायी, इसलिए उसमें वर्णोपरक्त बुद्धि हो नहीं सकती। दूसरा कारण यह है कि तदात्मा में ही तदुपरागवती बुद्धि होती है, यह लोकप्रसिद्ध नियम है, जैसे 'वने वृक्षाः', वन में वृक्ष हैं, यहाँ वृक्षात्मक वन में ही वृक्षोपरागवती बुद्धि होती है, अथवा तत्समवायी में भी तदुपरागवती बुद्धि होती है, जैसे 'पटे तन्तवः' पट में तन्तु हैं, यहाँ तन्तु के समवायी पट में सूत्रोपरागवती बुद्धि होती है। परन्तु, इन दोनों में कोई भी आपके मत में प्रकृत वाक्य में नहीं है। इस आशङ्का का समाधान आचार्यों ने इस प्रकार दिया है—

नित्या नाऽवयवा वर्णा नाप्यनित्या इहोच्यते।
विवर्त्ताः केवलं तस्य प्रपञ्चा ब्रह्मणो यथा॥ (शेषकृष्ण)

इसका तात्पर्य यह है कि इस नित्य स्फोट के अवयव विभु (व्यापक) वर्ण नहीं हो सकते। कारण यह है कि अवयवों को अवयवी से न्यून (छोटे) परिमाणवाले सभी मानते हैं। प्रकृत में अवयवीभूत वर्णों के न्यून परिमाण मानने से उनका विभु होना (जो मीमांसकों का सिद्धान्त है) नहीं बनता। यदि वर्णों को नित्य विभु न मानकर अनित्य ही मानें, तो भी युक्त नहीं होता। कारण यह है कि नित्य अवयवी के अनित्य अवयव हो ही नहीं सकते, इसलिए यह मानना आवश्यक हो जाता है कि नित्य निरवयव स्फोट के केवल विवर्त्त मात्र ये वर्ण हैं। इस अवस्था में 'वाक्ये वर्णाः, वाक्य में वर्ण हैं, इस प्रकार की जो वर्णो-परागवती बुद्धि होती है, वह प्रमा रूप (यथार्थ) न भी हो, भ्रान्ति-रूप तो अवश्य है। इस प्रकार का कोई नियम नहीं है कि वस्तुतः तद्रूप होने से या तत्समवायी होने से ही तदुपरागवती बुद्धि होती है; क्योंकि शुक्ति में रजतोपरागवती और रज्जु में सर्पोपरागवती बुद्धि होती है, जो वस्तुतः तद्रूप या तत्समवायी नहीं है।

इससे सिद्ध होता है कि विवर्त्त के अधिष्ठानभूत परमार्थ सत्स्वरूप स्फोट ही है, उसमें अविद्या-परिकल्पित विवर्त्त के साथ तदुपरागवती बुद्धि का होना कोई विरुद्ध नहीं है। यदि कहें कि शुक्ति रजत के समान वर्ण तो कहीं हैं नहीं, तो इसका विवर्त्त किस प्रकार हो सकता है, तो इसका उत्तर इस प्रकार होता है कि घट, पट आदि प्रपञ्च की वास्तविक सत्ता कहीं नहीं है, तो भी उसका विवर्त्त (अध्यास) ब्रह्म में होता है, उसी प्रकार असद् वर्णों का भी वाक्य में अवभास होना उपपन्न होता है।[1]

दूसरी शङ्का

यदि वर्णों से नित्य और निरवयव स्फोट प्रतीत होता है, अर्थात् अभि-व्यक्त होता है, तो इस लक्षण से भी विलक्षण तत्-तत् अर्थ की प्रतीति और विलक्षण रूप की प्रतीति किस प्रकार हो सकती है ?

शङ्का का समाधान

यथा मणिकृपाणादौ मुखमेकमनेकधा।
तथैव ध्वनिषु स्फोटः एक एव विभिद्यते॥ (वा० प०)

१, इस विषय का विस्तृत विवेचन लेखक की पूर्वप्रकाशित पुस्तक 'षड्दर्शनरहस्य, (प्र० बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्) में द्रष्टव्य।

इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मणि, कृपाण (तलवार), दर्पण आदि में एक ही मुख अनेक प्रकार का भासित होता है, जिस प्रकार किसी में गोरा मुख भी काला प्रतीत होता है, किसी में गोल मुख भी लम्बा प्रतीत होता है, किसी में एक में भी दो—सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रयत्नों के भेद से विभिन्न प्रकार की ध्वनियों में भी एक ही निरवयव स्फोट भी नाना वर्णों के रूप में सावयव और अनेक प्रतीत होता है। इसीलिए, उपाधि-भेद से स्फोटरूप के विलक्षण होने के कारण स्फोट से अभिन्न अर्थ का भी भेद औपाधिक ही माना जाता है। इसी अभिप्राय से वाच्य और वाचक में भी परमार्थदशा में अभेद का ही साधन शास्त्रकारों ने किया है।

यहाँ एक आक्षेप और होता है कि 'गौः', इस आकार की जो बुद्धि होती है, वह पूर्वानुभूत गकार आदि वर्णों का ही अवगाहन करती है, अर्थात् उस बुद्धि के विषय गकार आदि वर्ण ही होते हैं, उन गकार आदि वर्णों के अतिरिक्त स्फोट नहीं। यदि उन गकारादि वर्णों के अतिरिक्त किसी वस्तु को वह बुद्धि भासित कराती, तब तो गकारादिरूषित जो प्रतीत होती है, वह नहीं हो सकती। जिस प्रकार शूकर-विषयक बुद्धि महिषरूषित शूकर का अवगाहन नहीं करती। यदि 'गौ' इस बुद्धि का विषय दूसरी कोई वस्तु भी हो, तब तो जिस प्रकार गो बुद्धि से दकार आदि की व्यावृत्ति होती है, उसी प्रकार गकार आदि की भी व्यावृत्ति होने लगेगी। तात्पर्य यह है कि 'गौ' इस बुद्धि में गकार ही विषय रहता है, दकार आदि कोई भी वर्ण इसका विषय नहीं होता। इसीलिए, दकारादि कोई वर्ण 'गौ' इस बुद्धि में भासित नहीं होता। यदि 'गौ' इस बुद्धि का विषय गकारादि से भिन्न स्फोट ही हो, तब तो गकार आदि का जो भान होता है, वह न होकर अन्य विषयक भी भान होने लगेगा। इस स्थिति में शूकर-विषयक बुद्धि में महिष का भी भान हो सकता है, परन्तु ऐसा होता नहीं है। इसलिए, वर्ण के अतिरिक्त स्फोट की कल्पना व्यर्थ ही है। यही शङ्कक का तात्पर्य है।

आचार्यों द्वारा इस आक्षेप का समाधान

आचार्यों का कहना है कि उपर्युक्त आक्षेप युक्तिसह नहीं है। कारण यह है कि यद्यपि वर्णों से अभिव्यङ्ग्य और वर्णों के अतिरिक्त स्फोट है, तो भी अपने में अध्यस्त जो तत्तत् वर्ण हैं, उनके तादात्म्य को प्राप्त किये रहता है। इसी कारण तत्तत् वर्णों से रूषित ही प्रतीति होती है, दूसरे वर्णों से रूषित नहीं। तात्पर्य है कि जिन वर्णों से स्फोट अभिव्यक्त होता है,

उन्हीं का अध्यास (विवर्त) उस स्फोट में होता है, दूसरे वर्ण का नहीं। महिष और शूकर का जो दृष्टान्त दिया गया है, उसमें तो अधिष्ठान विवर्त भाव है नहीं, इसलिए उनमें तादात्म्यबुद्धि हो नहीं सकती। तादात्म्य न होने से शूकर-विषयक बुद्धि में महिष का भान नहीं हो सकता। इसीलिए, आचार्यों ने कहा है—

> स्फोटो वर्णातिरिक्तोऽपि तत्तादात्म्यमुपेयिवान्।
> प्रत्ययो जायते तस्मादसौ तद्वर्णरूषितः॥

इसका तात्पर्य ऊपर कहा जा चुका है। यहाँतक स्फोटतत्त्व की सिद्धि में सारी शङ्काओं का समाधान किया गया। फिर भी, स्फोटतत्त्व नहीं माननेवाले विरोधियों की शङ्काओं का समाधान किया जाता है।

नैयायिकों का सिद्धान्त

'घटमानय', घड़ा लाओ आदि वाक्यों के उच्चारणकाल में घकार, टकार आदि जो वर्ण हैं, वे ही कण्ठ, तालु आदि स्थानों में वायु-संयोग से उत्पन्न होकर श्रवणेन्द्रिय के विषय होते हैं, और सद्यः विनष्ट भी हो जाते हैं। वे ही वास्तविक शब्द हैं और कम्बुग्रीवादिमद् व्यक्ति के वाचक भी होते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई शब्द नहीं है।

वैयाकरणों की मान्यता

वैयाकरणों का कहना है कि यह शब्द किसी प्रकार भी नहीं हो सकता; क्योंकि यह तो शब्द का अभिव्यञ्जक ध्वनिमात्र है और यह अनित्य है। इसी ध्वनि से अभिव्यक्त होनेवाला और ध्वनि के नष्ट होने पर भी अर्थ का बोधक ही वास्तविक शब्द है, वही कम्बुग्रीवादिमद् व्यक्ति का वाचक और नित्य है। इसीलिए, वह न तो उत्पन्न होता है, न विनष्ट ही। केवल ध्वनि-रूप में वह अभिव्यक्त होता है। यही स्फोटतत्त्व है। इसी को शब्दब्रह्म, शब्दतत्त्व और वाक्तत्त्व आदि अनेक शब्दों से शास्त्रकारों ने व्यवहृत किया है। इस प्रकार के स्फोटात्मक शब्द की अभिव्यञ्जक जो ध्वनियाँ हैं, (जिनको नैयायिक शब्द मानते हैं), वे तो अनित्य और निरर्थक हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि उच्चार्यमाण, अर्थात् उच्चारण का विषय जो 'त्वं घटमानय' आदि ध्वनि है, उसी से स्फोटात्मक शब्द अभिव्यक्त होता है, और उसी से अर्थ का बोध होता है, इसलिए वही वास्तविक वाचक है। यही वैयाकरणों की मान्यता है।

वैयाकरणों की मान्यता पर नैयायिकों का आक्षेप

नैयायिकों का कहना है कि उपर्युक्त वैयाकरणों की स्फोटसिद्धि में कोई प्रमाण ही नहीं है। कारण यह है कि प्रायः सभी आचार्य मुख्य प्रमाण तीन ही मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इनके अतिरिक्त और प्रमाणों का प्रायः इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। इन तीन प्रमाणों में किसी प्रमाण से जो वस्तु सिद्ध न हो, उसकी वास्तविक सत्ता नहीं मानी जाती। प्रकृति स्फोटसिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण तो हो नहीं सकता। कारण यह है कि जहाँ इन्द्रिय और अर्थ (विषय) का सन्निकर्ष होता है, वहीं प्रत्यक्ष होता है। जैसे, घटादि विषयों के साथ चक्षु-इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है और तब घटादि विषयों का चाक्षुष प्रत्यक्ष माना जाता है। प्रकृत में आप (वैयाकरणों) का अभिमत जो स्फोट है, उसके साथ तो किसी भी इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं है, इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण तो किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। अनुमान प्रमाण से भी स्फोटसिद्धि नहीं हो सकती। अनुमान में व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान कारण होता है। जैसे, धूम-दर्शन से अग्नि का अनुमान किया जाता है। यहाँ धूम में अग्नि की व्याप्ति रहती है। क्योंकि, जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, इस प्रकार की व्याप्ति पूर्व से ही गृहीत है। इसलिए, अग्नि की व्याप्ति धूम में रहने से धूम अग्नि का व्याप्य होता है। इस प्रकार पर्वत पर धूम को देखकर 'यह पर्वत अग्नि से व्याप्य धूमवाला है, इस प्रकार का परामर्श होता है। इसी को 'व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान' कहते हैं और यही परामर्श है। इसी परामर्श के ज्ञान से अनुमान प्रमाण होता है, अन्यथा नहीं। धूम से अग्नि का अनुमान तभी होता है, जब धूम में अग्नि की व्याप्ति गृहीत हो, अन्यथा नहीं। प्रकृत में स्फोट का साधक ऐसा कोई भी हेतु धूम के समान नहीं, जिसमें साध्य (स्फोट) की व्याप्ति गृहीत हो। इस स्थिति में अनुमान भी स्फोटसिद्धि में प्रमाण नहीं हो सकता।

आप्तोपदेश-रूप शब्द (वेदादि) भी कोई नहीं है, जिससे स्फोट का सद्भाव सूचित हो। इस प्रकार, प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण के न होने से स्फोट की सिद्धि आकाशकुसुमवत् हो जाती है।

पूर्वोक्त आक्षेप पर वैयाकरणों का उत्तर

वैयाकरणों का कहना है, नैयायिकों द्वारा स्फोटसिद्धि में प्रमाणाभाव का आक्षेप लगाना अज्ञानमूलक है। कारण यह है कि सभी प्रमाणों में अभ्यर्हित प्रत्यक्ष प्रमाण ही इसकी सिद्धि कर देता है, जैसे 'एकं पदम्', 'एकं वाक्यम्,'

यह एक पद है, यह एक वाक्य है, इस प्रकार की एकत्वावगाहिनी प्रतीति सर्वजन-प्रसिद्ध है और यह एकत्वावगाहिनी बुद्धि विना किसी प्रबल बाधक के मिथ्या नहीं बताई जा सकती।

अब यहाँ यह विचार करना है कि वह एकत्व कहाँ रहता है? उसका आश्रय कौन है? वर्ण तो एकत्व का आश्रय नहीं हो सकते; क्योंकि वे अनेक हैं, नाना हैं और अनेक में एकत्व कैसे रह सकता है? इसलिए, उस एकत्व का आश्रय उक्त नाना वर्णों के अतिरिक्त और उन्हीं वर्णों से अभिव्यङ्ग्य कोई एक पदार्थ अवश्य मानना होगा, जो एकत्वावगाहिनी बुद्धि का आश्रय हो। उसी का नाम स्फोटब्रह्म या शब्दब्रह्म है। इस प्रकार, स्फोटसिद्धि में एकत्वावगाहिनी अनुभूति ही प्रत्यक्ष-प्रमाण है।

इसके अतिरिक्त स्फोटसिद्धि में, अनुमान भी प्रमाण होता है। पदार्थ की अन्यथा अनुपपत्ति-रूप जो लिङ्ग (हेतु) है, उसी से स्फोट की सिद्धि होती है। जैसे, वर्णों से अभिव्यङ्ग्य स्फोटात्मक शब्द को यदि न स्वीकार करें, तब तो वर्णों के स्वोत्तरवर्त्ती वर्णों से नाश्य होने के कारण अन्तिम वर्ण के उच्चारण-काल तक पूर्व-पूर्व समस्त वर्णों के अभाव रहने से अर्थ का बोध ही अनुपपन्न हो जाता है; क्योंकि अन्तिम वर्ण के उच्चारणकाल तक यदि पूर्व के वर्ण रहते, तो किसी प्रकार अर्थ का बोध हो भी सकता था, परन्तु पूर्व के सभी वर्ण अन्तिम वर्ण के उच्चारणकाल तक नष्ट हो गये रहते हैं। इस स्थिति में अर्थ का बोध न होना चाहिए, फिर भी बोध होता है। इससे अनुमान किया जाता है कि वर्णों के अतिरिक्त कोई ऐसा तत्त्व है, जो वर्णों से अभिव्यक्त होकर अर्थ का बोधक होता है। उसी को स्फोट कहते हैं। यदि यह कहा जाय कि वर्ण ही श्रोत्र-इन्द्रिय के विषय होकर अर्थ के प्रत्यायक (बोधक) होते हैं, इसलिए स्फोट-कल्पना की आवश्यकता नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि प्रत्येक वर्ण के वाचक मानने से प्रथम वर्ण से ही अर्थ की प्रतीति हो जायगी, पुनः अन्य वर्णों का उच्चारण व्यर्थ ही हो जायगा और केवल एक वर्ण के उच्चारण-मात्र से कहीं अर्थ का बोध होता भी नहीं।

वर्णों को वाचक मानने में यह विकल्प उपस्थित होता है—प्रत्येक वर्ण भिन्न-भिन्न अर्थ के वाचक होते हैं, अथवा एक ही अर्थ के? यदि भिन्न-भिन्न अर्थों के वाचक वर्ण होते हैं, यह पक्ष माना जाय, तो एक पद में जितने वर्ण हैं, उतने ही अर्थों का बोध होना चाहिए। परन्तु, ऐसा होता नहीं। यदि दूसरा

पक्ष माना जाय, अर्थात् प्रत्येक वर्ण एक ही अर्थ का वाचक होता है, तब तो सब शब्द पर्यायवाची हो जायेंगे, इस स्थिति में 'पर्यायाणां प्रयोगो हि यौगपद्येन नेष्यते' इस सिद्धान्त से पर्याय शब्दों का युगपत् (एक काल में) प्रयोग नहीं हो सकता।

इस दोष के निवारण के लिए वर्णसमूह को वाचक माना जाय, तो यह भी युक्त नहीं है। क्योंकि, इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है कि वर्णों के आशुतर-विनाशी होने के कारण अपने से उत्तरवर्त्ती वर्णों के उच्चारणकाल में पूर्व वर्णों के नाश हो जाने से किसी प्रकार उनका समूह हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में यह विचारना है कि जब प्रत्येक वर्ण या वर्णसमूह, इन दोनों में कोई भी अर्थ का वाचक सिद्ध नहीं होता, तो अर्थ का बोध होता किस प्रकार है? इससे स्पष्ट सिद्ध नहीं होता है कि वर्णों के अतिरिक्त और वर्णों से अभिव्यङ्ग्य कोई एक तत्त्व है, जिससे अर्थ का बोध होता है। वही तत्त्व वाचकत्व शक्ति का आश्रय है और वही स्फोट या शब्दब्रह्म आदि नामों से व्यवहृत होता है। इस स्फोट के विना अर्थ की प्रतीति कदापि नहीं हो सकती।

स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति और लक्षण

स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है—'स्फुट्यते अभिव्यज्यते वर्णैरिति स्फोटः', अर्थात् वर्णों से जो अभिव्यक्त हो, वही स्फोट है। अथवा 'स्फुटति अभिव्यक्तीभवति अर्थः यस्मात् इति स्फोटः', अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित (अभिव्यक्त) हो, वह स्फोट है। इस प्रकार दोनों व्युत्पत्तियों से स्फोट का लक्षण होता है—'वर्णाभिव्यङ्ग्यत्वे सति अर्थप्रतीतिजनकत्वम् स्फोटत्वम्', अर्थात् जो वर्ण से अभिव्यङ्ग्य होकर अर्थप्रतीति का जनक हो, वही स्फोट है।

उपर्युक्त सिद्धान्त पर नैयायिकों का आक्षेप

नैयायिकों का आक्षेप है कि वर्णों के अतिरिक्त स्फोट को स्वीकार करने में वैयाकरणों के परममान्य महाभाष्य से ही विरोध हो जाता है। जैसे, 'कः पुनः शब्दः?' इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है—'येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः', अर्थात् जिसके उच्चारण करने से सास्ना (गलकम्बल), लाङ्गूल, ककुद, खुर और विषाण (सींग) वाले जन्तु का बोध होता है, वही शब्द है। इस भाष्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो उच्चारण-क्रिया का विषय है, अर्थात् जिसका उच्चारण होता है, वही वस्तुतः शब्द है और वही अर्थ का वाचक होता है। उच्चारण का विषय तो स्फोट हो

नहीं सकता, इसलिए उच्चारण के विषयीभूत वर्ण ही वाचक और शब्द हो सकते हैं, इनसे पृथक् स्फोट कदापि नहीं; क्योंकि वह उच्चारण-क्रिया का विषय नहीं है।

वैयाकरणों द्वारा आक्षेप का उत्तर

नैयायिकों द्वारा उपस्थित किये गये आक्षेप के उत्तर में वैयाकरण कहते हैं कि भाष्यकार के अभिप्राय को नहीं समझकर ही यह आक्षेप किया गया है। महाभाष्य के वाक्य में आए हुये 'उच्चारितेन' का तात्पर्य है, 'उच्चारणक्रियाऽभिव्यक्तेन', अर्थात् जो उच्चारण-क्रिया से अभिव्यक्त हो। कैयट आदि महाभाष्य के टीकाकारों ने भी यही अर्थ माना है। कैयट ने स्पष्ट लिखा है 'उच्चारितेन उच्चारणक्रियाभिव्यक्तेन इति।' किञ्च, वर्णों के वाचकत्व का अनेक प्रमाणों से पूर्व में ही निराकरण कर दिया गया है, इसलिए वर्ण तो कभी वाचक हो ही नहीं सकते। इस दशा में वर्णों के अतिरिक्त नाद (ध्वनि) से अभिव्यङ्ग्य स्फोटात्मक शब्द सिद्ध होता है, वही शब्दब्रह्म है और वही वाचक है।

स्फोट की सत्ता में वेद प्रमाण

स्फोट-रूप शब्दब्रह्म का वर्णन प्रकारान्तर से यजुर्वेद आदि में भी आया है। इसलिए, स्फोट में शब्दप्रमाण नहीं है, यह नैयायिकों का कहना अज्ञानमूलक ही समझना चाहिए; क्योंकि इसी स्फोटात्मक शब्दब्रह्म का वर्णन यजुर्वेद में वृषभ रूप से किया गया है, जिसका प्रदर्शन भगवान् भाष्यकार पतञ्जलि ने व्याकरण के प्रयोजन-प्रदर्शन के अवसर पर किया है। वह श्रुति है—

> चत्वारि शृङ्गास्त्रयो अस्य पादाः
> द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
> त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
> महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

इसकी व्याख्या भगवान् भाष्यकार ने इस प्रकार की है—एक वृषभ है, जिसके चार शृङ्ग चार पदसमूह हैं: नाम आख्यात, उपसर्ग और निपात। तीन पैर तीन काल हैं: भूत, वर्त्तमान और भविष्यत्; इन तीन कालों के बोधक लट् आदि प्रत्यय। यहाँ काल पद से काल के बोधक लट् आदि प्रत्यय की ही विवक्षा समझनी चाहिए, काल की नहीं; क्योंकि काल की पादत्व-कल्पना अयुक्त है।

इसका कारण यह है कि काल वर्णरूप नहीं है, इसलिए उसमें शब्द के अवयव पाद की कल्पना अन्याय्य हो जाती है। 'द्वे शीर्षे' = दो शिर हैं—दो प्रकार के शब्दात्मा, नित्य और कार्य। यहाँ आत्म शब्द स्वरूप का वाचक है, इसलिए शब्दात्मा का अर्थ होता है, शब्दस्वरूप। व्यङ्ग्य और व्यञ्जक भेद से दो प्रकार के शब्दस्वरूप होते हैं। सबसे अभ्यर्हित होने के कारण मस्तकस्थानीय रूप से इसकी कल्पना की गई है।

इन दोनों प्रकार के शब्दस्वरूपों में वैखरी-रूप ध्वनि व्यञ्जक है तथा कार्य और अनित्य है। इस व्यञ्जक-रूप ध्वनि से अभिव्यङ्ग्य आन्तर प्रणव-रूप स्फोट है, जिसे शब्द-ब्रह्म कहते हैं और वह नित्य है। वह प्रणव-रूप नित्य शब्द यद्यपि एक ही है, तथापि मूलाधार आदि उपाधि-भेद से परा, पश्यन्ती और मध्यमा रूप से शास्त्रों में व्यवहृत होता है। यही सकल वाङ्मय ब्रह्माण्ड का निदान, अर्थात् आदिकारण है। 'सप्त हस्तासो अस्य' = इसके सात हाथ हैं, सात विभक्तियाँ। 'त्रिधा बद्धः' = तीन स्थानों में बद्ध है; 'उरसि, कण्ठे, शिरसि च' = हृदय, कण्ठ और शिर में। 'वृषभ इति' = प्रसिद्ध वृषभ के रूप में शब्दब्रह्म का यहाँ निरूपण किया गया है। 'वर्षणाद् वृषभः' – वर्षण करने से इसकी संज्ञा वृषभ है। यहाँ वर्षण का तात्पर्य है, ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान से फल प्रदान करना। 'रोरवीति' का अर्थ है, 'शब्दं करोति'—शब्द करता है।

यहाँ एक शङ्का यह होती है कि शब्द ही किस प्रकार शब्द कर सकता है? क्योंकि, जो शब्दकर्त्ता है, वही कर्म किस प्रकार हो सकता है?

इसका उत्तर यह है कि यहाँ कर्मीभूत जो शब्द है, उसका अर्थ—'शब्द्यते ब्रह्मस्वरूपे स्फोटात्मके शब्दे भासते विवर्त्तते इति शब्दः', अर्थात् ब्रह्मस्वरूप स्फोटात्मक शब्द में जो भासित हो, वह शब्द है। इस व्युत्पत्ति से प्रपञ्च होता है, अर्थात् यहाँ कर्मीभूत शब्द का तात्पर्य प्रपञ्च से है। इससे यह अभिप्राय सूचित होता है कि नित्य स्फोटात्मक शब्द ही निखिल प्रपञ्च का विस्तार करता है। उपर्युक्त श्रुति का यही रहस्य है।

स्फोटतत्त्व को सिद्ध करने के लिए दूसरी श्रुति भी है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

इसका भावार्थ यह है कि वाक्-परिमित पद चार प्रकार के हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात : 'नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च ।' यहाँ 'च' शब्द से परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी-रूप शब्द की सूचना की गई है। कैयट ने स्पष्ट लिख दिया है : 'निपाताश्चेति च शब्देन वक्ष्यमाणं परापश्यन्त्यादिरूपं प्रकारान्तरं सूचितम्।' 'गुहात्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति'= उनमें तीन (परा, पश्यन्ती और मध्यमा) तो मूलाधार, नाभि और हृदय-रूप गुहा (कन्दरा) में निहित होने के कारण साधारण मनुष्यों के प्रकाश में नहीं आते, अर्थात् परा, पश्यन्ती, और मध्यमा को सब लोग नहीं समझते। 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति,' अर्थात् वैखरी-रूप चतुर्थ वाक् को ही साधारण मनुष्य बोलते और समझते हैं।

अब यहाँ यह विचारना है कि मूलाधार, नाभि और हृदय में निहित होने के कारण परा, पश्यन्ती और मध्यमा-रूप शब्द को साधारण मनुष्यों की बुद्धि के अगम्य और केवल मनीषी-मात्र की ही बुद्धि के गम्य बताया गया है। अनित्य वर्णमात्र को ही यदि अर्थ का बोधक मान लें, तब तो वह सर्वसाधारण के गम्य है, केवल मनीषी-मात्र का गम्य बताना अयुक्त ही हो जायगा। इसलिए, स्फोट को मानना आवश्यक हो जाता है। इसके अतिरिक्त 'उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्' इत्यादि श्रुतियों का अर्थ जो अनेक कारिकाओं में पहले दिखाया जा चुका है, उससे स्फोट की सिद्धि में प्रमाण की जिज्ञासा नहीं रह जाती। नैयायिकों का यह कहना कि 'स्फोट में कोई प्रमाण नहीं है' अज्ञानमूलक ही है।

स्फोट के विषय में मीमांसकों की शङ्का

मीमांसकों का यह प्रश्न है कि आप (वैयाकरणों) का जो स्फोट है, वह अभिव्यक्त होकर अर्थ का प्रत्यायक होता है, अथवा अनभिव्यक्त ही ? अनभिव्यक्त स्फोट को अर्थ का प्रत्यायक नहीं मान सकते, कारण स्फोट को आप (वैयाकरण) नित्य मानते हैं, इसलिए वह सदा विद्यमान रहेगा और अर्थबोध कराने के लिए अभिव्यक्ति की अपेक्षा रखेगा नहीं। इस स्थिति में सदा अर्थबोध होने लगेगा ; क्योंकि निरपेक्ष हेतु के सनातन होने से कार्योत्पत्ति में विलम्ब नहीं होगा; इस दोष का परिहार यदि यह मानकर किया जाय कि अभिव्यक्त स्फोट अर्थ का प्रत्यायक होता है, तो यह भी युक्त नहीं; क्योंकि प्रत्येक वर्ण स्फोट का अभिव्यञ्जक होगा अथवा वर्णसमुदाय ? इस विकल्प का परिहार नहीं होता है।

प्रत्येक वर्ण स्फोट का अभिव्यञ्जक होता है, यह प्रथम पक्ष तो मान नहीं सकते; क्योंकि एक वर्ण के उच्चारण से स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं देखी जाती। यदि ऐसा होता, तो एक वर्ण के उच्चारण से ही अर्थ की प्रतीति होगी, वर्णान्तर का उच्चारण व्यर्थ हो जायगा। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ण का अभिव्यञ्जक मानने से एक वाक्य या पद में जितने वर्ण हैं, उतने ही स्फोट की अभिव्यक्ति होने लगेगी, यह एक महान् दोष हो जायगा। इसी प्रकार वर्णसमूह भी स्फोट का अभिव्यञ्जक नहीं हो सकता; क्योंकि, पूर्व वर्णों के स्वोत्तरवर्ती वर्णों के उच्चारण-काल में नष्ट हो जाने के कारण समूह की कल्पना ही नहीं हो सकती। इस प्रकार वर्णों के वाचक मानने में जो-जो दोष वैयाकरण देते थे, वे सब दोष उनके ही गले पड़ जाते हैं। इसी बात को कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्त्तिक में कहा है—

यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः।
सोऽपि पर्यनुयोगेन नैकेनापि विमुच्यते॥

अर्थात्, निरवयव वाचक स्फोट वर्णज्ञान से अभिव्यक्त होता है, यह जिसका मत है, वह वैयाकरण भी जिन दोषों को प्रतिवादी के प्रति दिखाते हैं ? (क्या प्रत्येक वर्ण वाचक है, या वर्णसमूह ? आदि), उनमें एक दोष से भी वैयाकरण मुक्त नहीं होते। यदि स्फोट को वैयाकरण सावयव मानते, तब तो उसी स्थिति में एक-एक वर्ण से अवयवशः स्फोट की अभिव्यक्ति कह भी सकते थे। परन्तु, वैयाकरण स्फोट को निरवयव मानते हैं, इसलिए उनके दिखाये गये दोष उन्हीं के गले पड़ जाते हैं। उक्त श्लोक का यही तात्पर्य है।

एक बात और है कि 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस सूत्र से पाणिनि ने और विभक्त्यन्ताः पदम्' इससे गौतम ने विभक्त्यन्त वर्णों को ही पद माना है। इसलिए, संकेतग्रह से अनुगृहीत होने के कारण वर्णों में ही पदत्व-बुद्धि न्याय्य प्रतीत होती है। यद्यपि यहाँ वर्णों के आशुतरविनाशी होने के कारण समूह न होने से वहाँ पदत्व-बुद्धि का होना असम्भव-सा प्रतीत होता है, तथापि पूर्वोक्त वृद्धों के व्यवहार से वर्णसमुदाय का भी संकेतग्रहपूर्वक एकार्थप्रत्यायकत्व देखा जाता है, इसलिए वर्णों के विनाशी होने पर भी उत्तरोत्तर अनुग्रह होता ही है, ऐसा अनुभव के बल पर स्वीकार करना ही पड़ता है। इतने से ही समूह की कल्पना से पदत्व-बुद्धि उपपन्न हो जाती है, इसलिए अतिरिक्त स्फोट की कल्पना युक्त नहीं होती। यही मीमांसकों का स्फोट-खण्डन के लिए परमास्त्र है।

स्फोट-मण्डन के लिए वैयाकरणों का उत्तर

मीमांसकों के उपर्युक्त कथन पर वैयाकरणों का कहना है कि आप (मीमांसकों) का कथन तो काशकुश का अवलम्बन-मात्र है। जिस प्रकार महासमुद्र में डूबते हुए मनुष्य को तृण का सहारा अकिञ्चित्कर होता है, उसी प्रकार यह उत्तर भी है। वस्तुतः, प्रश्न तो यह है कि 'इदमेकं पदम्', 'इदमेकं वाक्यम्' यह एक पद है, यह एक वाक्य है, इस प्रकार की जो एक पद या एक वाक्य की अबाधित प्रतीति होती है, उसका आलम्बन (आश्रय) क्या है ? वर्णमात्र को तो उसका आलम्बन कह नहीं सकते; क्योंकि परस्पर विलक्षण वर्णमालाओं में एक अभिन्न निमित्त के विना पुष्पों में सूत्र के विना मालाप्रत्यय के समान 'एकं पदम्', एक पद है, इस प्रकार की प्रतीति कदापि नहीं हो सकती, अर्थात् जिस प्रकार पुष्पों में सर्वानुस्यूत सूत्र के विना 'एका माला' एक माला है, इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार परस्पर विलक्षण वर्णमालाओं में भी अनेक वर्णों में अनुस्यूत (अनुगत) एक किसी वस्तु के न रहने से 'एकं पदम्', एक पद है, इस प्रकार की प्रतीति, जो अबाधित रूप से सर्वानुभव सिद्ध है, कदापि नहीं हो सकती।

यदि यह कहें कि 'एकं पदम्' इस एकत्व-प्रतीति का विषय वर्णसमूह है, तो ऐसा कहना भी अयुक्त ही है; क्योंकि आशुतरविनाशी वर्णों का समूहभाव कदापि नहीं हो सकता, यह पहले बताया जा चुका है। जो पदार्थ एक प्रदेश में, एक काल में साथ-साथ रहने से बहुत प्रतीत होते हैं, उन्हीं में समूह-व्यवहार होता है। जिस प्रकार एक प्रदेश में साथ-साथ समकाल में विद्यमान हाथी, घोड़े आदि जीवों में तथा धव, खदिर आदि वृक्षों में साथ साथ रहने के कारण ही समूह का व्यवहार देखा जाता है। परन्तु, उत्पत्ति-विनाशशाली वर्ण तो समकाल में साथ-साथ नहीं रह सकते; क्योंकि उत्तरोत्तर वर्ण के उच्चारणकाल में पूर्व पूर्व वर्णों के नष्ट हो जाने से अन्तिम वर्ण के उच्चारणकाल में पूर्व-पूर्व वर्णों के न रहने के कारण समूह का व्यवहार अशक्य हो जाता है। यदि यह कहें कि स्फोटव्यञ्जकत्वेन वर्णसमूह की उपपत्ति नहीं हो सकती है, तो इसपर स्फोटवादियों का भी कहना है कि यह आपत्ति इष्ट है; क्योंकि वैयाकरणों के मत में स्फोट की अभिव्यक्ति एक काल में ही वर्णसमूह से नहीं हो सकती; क्योंकि वर्णसमूह है नहीं। इसलिए, क्रमशः स्फोट की अभिव्यक्ति इनके मत में इष्ट है। यदि यह कहें कि वर्णों में ही पूर्वोक्त रीति से काल्पनिक (औपाधिक) समूह की कल्पना कर लें, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती इसके उत्तर में वैयाकरणों का कहना है कि परस्पराश्रय दोष से ग्रस्त होने के कारण

औपाधिक समूह की कल्पना भी अन्याय्य ही होगी। जैसे, एकार्थप्रत्यायकत्व सिद्ध होने पर ही एकार्थप्रत्यायकत्व-रूप उपाधि से वर्णों में पदत्व की कल्पना हो सकती है, और पदत्व की सिद्धि होने पर ही एकार्थप्रत्यायकत्व की कल्पना हो सकती है। इस प्रकार, परस्पराश्रय दोष से ग्रस्त होने के कारण वर्णों में औपाधिक समूह की भी कल्पना नहीं की जा सकती। स्फोटवादियों के मत में समूह की कल्पना की आवश्यकता ही नहीं होती।

स्फोटवादी वैयाकरण एकार्थप्रत्यायकत्व और पदत्व इन दोनों को स्फोट का ही धर्म मानते हैं, वर्णसमूह का नहीं। इसलिए, इनके मत में समूह की कल्पना आवश्यक नहीं होती और स्फोट को नहीं माननेवाले एकार्थप्रत्यायकत्व और पदत्व इन दोनों को वर्णों में ही समूह की कल्पना कर सिद्ध करते हैं। इस स्थिति में परस्पराश्रय दोष आ जाता है, इसीलिए समूह की सिद्धि नहीं हो सकती।

स्फोटवादी स्फोट की अभिव्यक्ति एक ही काल में नहीं, अपितु क्रमशः मानते हैं। प्रथम वर्ण से स्फोट की अभिव्यक्ति अस्फुट होती है, बाद में द्वितीयादि वर्णों से स्फुट, स्फुटतर तथा स्फुटतम। इससे यह सिद्ध होता है कि पूर्व-पूर्व वर्णों की अभिव्यक्ति से उत्पन्न संस्कार के सहित अन्तिम वर्ण से स्फुटतर स्फोट अभिव्यक्त होता है। जैसे, एक बार स्वाध्याय से विषय ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। इसलिए, दो-तीन बार पढ़ने से ही स्फोट का सम्यक् बोध होता है। फलतः, स्फोट की स्फुटतर प्रतीति होने के पहले अनुत्पन्नप्राय अर्थबुद्धि की प्रतीति के लिए द्वितीयादि वर्ण चरितार्थ होते हैं। इसलिए, द्वितीयादि वर्ण अनर्थक भी नहीं होते। प्रथमादि पूर्व-पूर्व वर्ण भी अनर्थक नहीं होते, कारण यह है कि अन्तिम ध्वनि के साथ उच्चार्यमाण जो समस्त पूर्व-पूर्व वर्ण हैं, उनके उच्चारणजन्य संस्कार की आवृत्ति से बुद्धि में जब योग्यता आती है, तभी यह अमुक शब्द है, इस प्रकार का निश्चित ज्ञान होता है। इसी अभिप्राय से भर्तृहरि ने लिखा है—

> नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
> आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते॥ (वा० प०)

तात्पर्य यह है कि अन्तिम ध्वनि के साथ पूर्व-पूर्व ध्वनि से संस्कार के बीज का बुद्धि में आहित होने पर और पुनः-पुनः आवृत्ति से बुद्धि के परिपक्व होने पर उसमें यह अमुक शब्द है, इस प्रकार का निश्चय होता है। दृष्टान्त के लिए रत्न की परीक्षा को लें। जिस प्रकार रत्न की परीक्षा करने में रत्नपरीक्षक एक बार

रत्न को देखकर यथार्थ परीक्षण नहीं कर सकता; क्योंकि प्रथम परीक्षण में रत्नतत्त्व स्फुट भासित नहीं होता। बार-बार जब उसकी परीक्षा की जाती है, तभी वह निश्चय कर पाता है कि यह असल रत्न है या कमअसल, या कितने मूल्य का या किस जाति का है। इसी प्रकार, पूर्व-पूर्व वर्णों के अनुभवजन्य भावना से सुसंस्कृत चित्त में ही अन्तिम वर्ण के उच्चारणकाल में स्फोटतत्त्व स्पष्ट अभिव्यक्त होता है। आचार्यों ने लिखा है—

पूर्वपूर्वाऽनुभूजन्यभावना सचिवेऽन्तिमे।
चेतसि स्फुरति स्फोटो रत्नतत्त्वमिव स्फुटम्॥ (वा० प०)

स्फोट में स्फुटत्व-अस्फुटत्व का स्पष्टीकरण

गकारादि वर्ण शुद्ध चैतन्य शब्दब्रह्म में अध्यस्त (विवर्त्त) हैं। जिस प्रकार शुक्ति में रजत और रज्जु में सर्प का अध्यास होता है, उसी प्रकार विशुद्ध चैतन्य शब्दब्रह्म में गकारादि वर्णों का अध्यास है, इसलिए उन वर्णों के ज्ञान में भी स्फोट का ही ज्ञान होता है, परन्तु वह अर्थ का प्रतिपादक नहीं, इसलिए अस्फुट कहा जाता है। जिस समय प्राचीन प्रत्ययों के प्रचयजन्य भावना के परिपाक से अन्तिम चित्त सुसंस्कृत हो जाता है, उसी समय अर्थज्ञान का हेतु होता है; इसीलिए स्फुटतर अभिव्यक्त होने से वह स्फोट कहा जाता है। अतः, अर्थप्रतीति के अनुरोध से स्फोट का स्फुट या अस्फुट अवभास होना विरुद्ध नहीं होता, यही इसका तात्पर्य है।

इस स्थिति में पद और वाक्य में उपाधिरहित एकत्वबुद्धि से वर्णनानात्व-बुद्धि बाधित होकर, विवर्त्त-भाव का अवलम्बन कर अपने अधिष्ठान स्फोट का अवलम्बन करती है, यही बात कल्पनायुक्त प्रतीत होती है।

एक बात और भी है, कुछ सम्प्रदायवादी अपने सिद्धान्त में अटूट श्रद्धा रखकर प्रत्यक्ष का भी अपलाप करते हुए 'गौः' आदि पदों में और 'गामानय' आदि वाक्यों में अबाधित रूप से एकत्व की प्रतीति को औपाधिक मानते हैं, ऐसी दशा में सर्वत्र ही किसी-न-किसी उपाधि के रहने से कहीं पर भी एकत्वबुद्धि पारमार्थिक नहीं हो सकती और ऐसा नहीं होने से एकत्वनिबन्धन द्वित्व आदि की प्रतीति भी नहीं हो सकती। इस अवस्था में समस्त जगत् में आन्ध्य छा जायगा, अर्थात् समस्त जगत् शून्य-सा हो जायगा। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने कहा है—

गौरित्येकावभासेऽस्मिन्नुपाधिं किञ्चिदिच्छताम् ।
न भवेत् किञ्चिदप्येकं न च नानाऽपि तद्विना ॥

तात्पर्य इसका यह है कि 'गौः' इत्यादिक पद या 'गामानय' इत्यादि
वाक्य में जो अबाधित रूप से एकत्व का अवभास होता है, उसमें भी यदि किस
उपाधि को कोई मान ले, तब तो उनके मत से पारमार्थिक एकत्व कहीं भी मिलन
असम्भव है; क्योंकि उपाधि की सम्भावना तो सर्वत्र ही हो सकती है। इस स्थिति में
एकत्व के अभाव में एकत्वप्रयुक्त नानात्व (द्वित्वादि) बुद्धि के विलय हो जाने
जगदान्ध्य-दोष हो जायगा। इसलिए, वर्णों के अतिरिक्त स्फोटतत्त्व को मानन
आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार, सम्भावित शङ्काओं के समाधानपूर्वक प्रत्यक्ष, अनुमा
और आगम-रूप मुख्य प्रमाणों के बल से स्फोट की सिद्धि की गई है। यहाँ ए
बात और भी ज्ञातव्य है कि मन्त्र, वैदिक वाक्य, प्रणव, व्याहृति और अक्ष
समाम्नाय जो 'अ इ उ ण्' आदि क्रम से व्यवस्थित हैं, वे सब स्फोटब्रह्म के साक्षा
परिणाम माने गये हैं, ये लौकिक वर्णों के समान स्फोट के विवर्त्तन नहीं हैं
कारण यह है कि ये क्रमिक न होने से नित्य अविनाशी हैं और इसकी आनुपू
भी नित्य अपरिवर्त्तनीय है। जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, विष्णु आदि मूर्त्तियों
ब्रह्म के कार्यभूत होने पर भी 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि श्रुति
के आधार पर कर्मजन्य न होने से नित्य और ब्रह्म का साक्षात् परिणाम मा
गया है, और इनके अतिरिक्त मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों को, कर्म से जनि
अविद्याग्रस्त और विनाशी होने के कारण, ब्रह्म का विवर्त्त ही माना गया है। इ
प्रकार लौकिक वर्ण, पद और वाक्य भी कण्ठ, तालु आदि के अभिघातजन्य औ
क्षणिक होने के कारण स्फोट (शब्दब्रह्म) के विवर्त्त ही माने जाते हैं।

चार्वाक का सन्देह और उसका निराकरण

लौकायतिक का कहना है कि घट, पट आदि जो पदार्थ हैं, वे व्यवहारदशा
जलाहरण और प्रावरण (ढकना) आदि लौकिक कार्य के सम्पादक होते हैं, अतः
उसी कार्य के निर्वाह हो जाने से, उसके अतिरिक्त और उसमें अनुस्यूत (व्याप्त) कि
आत्मतत्त्व या ईश्वरतत्त्व को नहीं मानना चाहिए। इसका समाधान है, लौकि
वर्ण, पद और वाक्यों के क्रमिक और आशुतरनिवाशी होने के कारण परस
मेलन असम्भव है। इस दशा में व्यवहार-काल में अर्थबोध के अनुपपन्न होने
श्रूयमाण पद, वाक्य के अतिरिक्त अर्थ का बोधक किसी एक तत्त्व को अवश्य मान

वार्त्तिकों को भी आवश्यक हो जाता है, अन्यथा अर्थ का बोध होना उनके लिए भी असम्भव हो जायगा।

वैदिक शब्दों का स्फोट के साथ वही सम्बन्ध रहता है, जो चन्द्रिका का चन्द्रमा के साथ और रश्मि का सूर्य के साथ। इस स्थिति में 'य एव लौकिकास्त एव वैदिकाः'—जो लौकिक हैं, वे ही वैदिक हैं, इस प्रकार का व्यवहार जो लोग करते हैं, वह उचित नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार के व्यवहार का तात्पर्य यह हो सकता है कि यद्यपि सूर्य का प्रकाशक रश्मि है, तथापि चक्षु से रहित अन्धे को वह प्रकाशक नहीं होता, इसलिए चक्षु भी रश्मि के प्रकाशक होने में सहकारी कारण माना जाता है। इसी अभिप्राय से चक्षु भी रश्मि ही है, इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि मन्त्र भी ज्ञान के प्रकाशक होते हैं, तथापि व्याकरण, दर्शन, स्मृति आदि के ज्ञान से शून्य व्यक्तियों के लिए मन्त्र भी ज्ञान के प्रकाशक नहीं होते। इसलिए, मन्त्र के ज्ञान-प्रकाशक होने में व्याकरण आदि भी सहकारी कारण होते हैं, इसी अभिप्राय से व्याकरणादि लौकिक शब्दों का भी वैदिकवत् व्यवहार कर सकते हैं; क्योंकि 'ये लौकिकास्ते वैदिका इति', जो लौकिक हैं, वे वैदिक हैं। यहाँ लौकिक शब्द से लौकिक संस्कृत-शब्दों का ही ग्रहण समझना चाहिए, अपभ्रंशों का नहीं। कारण यह है कि संस्कृत-शब्द ही वैदिक शब्दों के अंशभूत सहकारी हैं, अपभ्रंश नहीं। अपभ्रंशों की उपयोगिता तो लिपि के समान ही है। वे अपभ्रंश देशभेद से सर्वथा भिन्न-भिन्न होते हैं, इसलिए नित्य और एक प्रकार के स्फोट के साक्षात् अभिव्यञ्जक नहीं हो सकते। इसी कारण स्फोट के अभिव्यञ्जक न होने से शब्द के अन्तर्गत लौकिक अपभ्रंश-शब्दों की गणना नहीं होती, वे अपशब्द कहे जाते हैं।

इस उपर्युक्त सन्दर्भ से यही सिद्ध किया गया है कि स्फोट ही वास्तविक वाचक है, और इसका वाच्य परमार्थ दशा में आत्मा ही होता है। इन दोनों (वाचक और वाच्य) का उपादान सनातन ब्रह्म ही है और वे दोनों ही चैतन्य-स्वरूप हैं, इसलिए इन दोनों का अभेद भी सिद्धप्राय है। किन्तु, व्यवहारदशा में इन दोनों (शब्द और अर्थ) का अभेद या तादात्म्य है या नहीं, इसका कुछ विवेचन करना है।

शब्द और अर्थ में अभेद या तादात्म्य का विचार

यह शरीर जीव के भोग का आयतन (स्थान) माना गया है। शरीरस्थ हृदय के अन्तर्गत आकाश में प्रतिष्ठित जो अन्तःकरण है, उसका परिणाम दो

प्रकार का होता है—एक अभिधान-रूप, दूसरा अभिधेय-रूप। दूसरे शब्दों में शरीर के हृदयान्तर्गत आकाश में प्रतिष्ठित जो अन्तःकरण के परिणमभूत बुद्धि है, वह अभिधान-अभिधेय दोनों रूपों में परिणत होती है। इसमें अभिधान-रूपा बुद्धि से मनुष्य शब्दस्वरूप का ग्रहण करता है, और अभिधेयरूपा बुद्धि से अर्थस्वरूप का। इस स्थिति में जिसकी अभिधानरूपा बुद्धि सुसंस्कृत रहती है, वह शब्दस्वरूप को ही अधिक अवधारण करता है, अर्थस्वरूप को नहीं; अर्थ का अवधारण करता भी है, तो स्वल्प मात्रा में ही। और, जिसकी अभिधेयरूपा बुद्धि सुसंस्कृत होती है, वह अर्थ स्वरूप का ही अधिक-से-अधिक अवधारण करता है, शब्दस्वरूप अल्प मात्रा में या नहीं भी। अतः, जिसकी दोनों बुद्धियाँ सुसंस्कृत हैं, वही मेधावी कहा जाता है। और, जिसमें अभिधानरूपा बुद्धि नहीं है, वह किसी प्रकार भी शब्दस्वरूप को नहीं समझ सकता, जैसे पशु या मूक। जहाँ अभिधेयरूपा बुद्धि नहीं है, वहाँ केवल अभिधान-रूप बुद्धि से शब्दस्वरूप का ही धारण किया जाता है, अर्थस्वरूप को नहीं, जैसे शुक आदि।

इससे यह सिद्ध होता है कि अर्थ-प्रकाशन की इच्छावाले पुरुष की इच्छा-शक्ति से उत्पन्न प्रयत्न से उसकी अभिधेयरूपा बुद्धि पहले सुसंस्कृत होती है, बाद में अभिधानरूपा बुद्धि मन के साथ मिलकर जठराग्नि को आहत करती है और वह वायु को प्रेरित करके व्यक्त भावरूप ककारादि वर्णों के रूप में शब्दों को अभिव्यक्त करती है, जो (शब्द) वायुनाड़ी द्वारा अभिधेय (अर्थ) के अभिधान (वाचक शब्द) रूप बुद्धि से संगत होकर अभिधेय रूप बुद्धि में व्याप्त हो जाते हैं और इस प्रकार वह अभिधेयवाचक शब्दबुद्धि बौद्ध अर्थ को व्यक्त करके अपने कारण स्वरूप मूलाधार में लीन हो जाती है। इस प्रकार लौकिक शब्दों की व्यवस्था समझनी चाहिए।

वैदिक सम्प्रदायविदों का इससे भिन्न दूसरा ही मत है। उनके मत में वैदिक शब्दों के दो प्रकार हैं—१. कभी शिष्यों को शब्दमात्र ग्रहण कराने के लिए गुरु मन्त्र का उच्चारण करता है और २ कभी अर्थबोध कराने के लिए भी मन्त्र का उच्चारण करता है। वहाँ वैदिक शब्दों के तैजस होने के कारण चैतन्यात्मक होने से चिदात्मस्वरूप आत्मा ही वायुनाडिका से बाहर आता है, यही वैदिक साम्प्रदायिकों की मान्यता है। जैसे, मन्त्र कहनेवाले मनुष्यों की अभिधान-रूप बुद्धि से संयुक्त मन के साथ अन्तःकरणावच्छिन्न (अन्तःकरण से युक्त) आत्मा ही तत्-तत् मन्त्र आदि के रूप में परिणत होकर वायुनाडिका से शुश्रूषा करनेवाले विद्यार्थियों के श्रोत्र द्वारा अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर और हृदयाकाश में प्रतिष्ठित बुद्धि को व्याप्त कर रहता है।

इस स्थिति में जिस प्रकार आत्मा ही अधोमार्ग से माता के हृदय में प्रविष्ट होकर पुत्रनाम से व्यवहृत होता है, उसी प्रकार ऊर्ध्वमुख से विशुद्ध स्वरूप आत्मा ही मन्त्रात्मक रूप से शिष्य के हृदय में प्रवेश कर शिष्य रूप से व्यवहृत होता है। इसी कारण यत्र-तत्र शुक्र के व्यर्थ करने में भ्रूणहत्या का पाप जिस प्रकार शास्त्रों में विहित है, उसी प्रकार यत्र-तत्र अनधिकारी में वेदमन्त्रों के प्रदान-करने में भी ब्रह्महत्या का पाप शास्त्रों में बताया गया है। इसी अभिप्राय से भगवान् वसिष्ठ ने अपनी स्मृति के द्वितीयाध्याय में लिखा है—"द्वयमिह पुरुषस्य रेतो ब्राह्मणस्योर्ध्वं नाभेरर्वाचीनं मन्येत, तद् यदूर्ध्वं नाभेस्तेनानौरसी 'प्रजा जायते, यदुपनयते यत्साधु करोति। अथ यदर्वाचीनं नाभेस्तेनाऽस्य औरसी प्रजा जायते, जनन्यां जनयति। तस्माच्छ्रोत्रियमनूचानमपूज्योऽसीति न वदन्ति इति।" वेदविद् ब्राह्मणों के दो प्रकार के रेत होते हैं, एक नाभि से ऊपर की ओर जानेवाला, जो मन्त्र-रूप है, उससे अनौरसी शिष्यरूप प्रजा उत्पन्न होती है, जो उपनीत होकर अध्ययनाध्यापन आदि उत्तमोत्तम कार्य करती है। और दूसरा, जो नाभि से नीचे शुक्र-रूप है और जो माता के हृदय में प्रविष्ट होकर औरसी प्रजा (पुत्र)-रूप में प्रादुर्भूत होता है। इसलिए, जो अनूचान (विद्वान्) श्रोत्रिय है, उसको 'अपूज्य हो' ऐसा न कहना चाहिए। उपर्युक्त स्मृति का यही भावार्थ है।

इस प्रकार, पूर्वोक्त सन्दर्भ से वाच्य और वाचक, इन दोनों के चैतन्य-स्वरूप होने का और तादात्म्य का विवेचन यथाशास्त्र सम्यक् रूप से किया गया है। यह पहले भी कहा जा चुका है कि सकल शब्दों का परमार्थभूत ब्रह्मसत्ता ही वाच्य अर्थ है। उसी ब्रह्मसत्ता का वर्ण, पद और वाक्य से अभिव्यङ्ग्य होने के कारण वाचक-रूप होने से स्फोट शब्द से व्यवहार किया जाता है। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने लिखा है—'अनेक व्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृता।' अर्थात्, वर्ण, पद और वाक्य से अभिव्यङ्ग्य यही जाति (जिसे सत्ता भी कहते हैं) परमात्मा का वाचक प्रणव-रूप स्फोट नाम से पुकारी जाती है।

स्फोटात्मक प्रणव के जप और उसके अर्थ ईश्वर की भावना का फल

पूर्वोक्त कथन के अभिप्राय से ही 'तस्य वाचकः प्रणवः' इस सूत्र के व्याख्यान के अवसर पर भगवान् द्वैपायन ने कहा है—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

इसका तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय से योग का अभ्यास करे, और योग से स्वाध्याय का मनन करे। जब स्वाध्याय और योग दोनों की सिद्धि होती है, तभी परमात्मा प्रकाशित होता है। यहाँ स्वाध्याय शब्द का अर्थ जप ही है; क्योंकि प्रणव के जप का ही विधान आचार्य ने किया है। इससे यह भाव निकला कि प्रणव के जप द्वारा योग का अभ्यास करे। बहिर्मुख चित्तवृत्ति को रोककर अन्तर्मुख करना ही योग है, अर्थात् स्वभावतः विषयों की ओर जानेवाली जो चित्त वृत्ति है, जो अहर्निश किसी-न-किसी विषय का ही अवलम्बन कर ठहरी हुई रहती है, उसको 'स्वाध्याय', अर्थात् प्रणव के निरन्तर जप द्वारा 'योगमासीत'—विषयाभिमुख चित्तवृत्ति को विषयों से हटाकर आत्माभिमुख करने का अभ्यास करे। जब निरन्तर प्रणव के जप से शनैः-शनैः चित्तवृत्ति आत्माभिमुख होने लगेगी, उसी समय 'योगात् स्वाध्यायमामनेत्', अर्थात् योग से स्वाध्याय का मनन करे, अर्थात् प्रणव के अर्थ की भावना करे।

प्रणव का अर्थ है ईश्वर। ईश्वर की भावना का तात्पर्य है ईश्वर का चिन्तन। इसी अभिप्राय से भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है—'तज्जपस्तदर्थभावनम्'। इस सूत्र के अवतरण रूप में व्यासदेव ने लिखा है—'विज्ञातवाच्यवाचकत्वस्य योगिनः'। इसका तात्पर्य है, विज्ञात हो गया है वाच्य (ईश्वर) और वाचक (प्रणव) का सम्बन्ध जिस योगाभ्यासी को, उसी को लक्ष्य कर 'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्' का उपदेश है। अर्थात्, जिस योगाभ्यासी को ईश्वर और प्रणव (जो वास्तविक स्फोट शब्द का वाचक है) के साक्षात् सम्बन्ध का ज्ञान हो गया है, उसका कर्त्तव्य है प्रणव का जप और उसके अर्थ-वाच्यभूत ईश्वर की भावना, अर्थात् चिन्तन। यहाँ भावना का अर्थ चिन्तन या ध्यान ही होता है। भावना और चिन्तन ये शब्द ध्यान के ही पर्याय हैं।

यहाँ एक शङ्का यह होती है कि जिस समय जापक जप करेगा उस समय में ध्यान कैसे करेगा? क्योंकि, जप मन्त्रों के उच्चारण का नाम है, और ध्यान उच्चारण के बिना भी चिन्तन का ही नाम है। एक काल में दोनों का होना असम्भव ही है।

इसका उत्तर शास्त्रकारों ने इस प्रकार दिया है। पहले स्फोटात्मक प्रणव का जप करना चाहिए, बाद में ध्यान, पुनः ध्यान के अन्त में भी जप। इस प्रकार, क्रमशः पुनः-पुनः जप और ध्यान करते-करते स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति (सिद्धि) हो जाने पर परमात्मा का प्रकाश होता है 'परमात्मा प्रकाशते'। व्यासदेव के श्लोक का भावार्थ यही है।

महात्मा पतञ्जलि ने भी 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' के बाद प्रणव-जप और ईश्वर-ध्यान का फल कहा है—'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।' इसका तात्पर्य यह है कि प्रणव के जप और ईश्वर की भावना (उपासना या ध्यान) से 'प्रत्यक्चेतना' जीवात्मा का 'अधिगम' (साक्षात्कार) होता है, और अन्तरायों का अभाव भी होता है। 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस सूत्र में 'मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः' इस पूर्वसूत्र से 'विशेषः' पद की अनुवृत्ति आती है। इसलिए, इस सूत्र का भाव यह होता है कि समाधि के पूर्वोक्त सब उपायों की अपेक्षा ईश्वर-प्रणिधान में यही विशेषता है कि इससे शीघ्र ही समाधि का लाभ और अन्तरायों (विघ्नों) का अभाव भी होता है। यही विशेषः' पद की अनुवृत्ति का फल है।

व्यासदेव के मत में शङ्का

व्यासदेव के 'स्वाध्यायाद् योगमासीत' इत्यादि पूर्वोक्त श्लोकों से जो स्वाध्याय (प्रणव का जप) और योग, अर्थात् ईश्वर की भावना (चिन्तन) का फल परमात्मा का प्रकाश बताया गया है, और पतञ्जलि के उक्त सूत्र से प्रणव-जप और ईश्वर-ध्यान का फल प्रत्यक्चेतना का साक्षात्कार बताया गया है, यह परस्पर विरुद्ध हो जाता है—दोनों में ऐकमत्य नहीं होता। इसमें क्या कारण है? दूसरी बात यह है कि जिसकी भावना की जाती है, उसी का साक्षात्कार होना शास्त्र या लोक में प्रसिद्ध है। इस स्थिति में प्रणव जप और ईश्वर की भावना का जो फल पतञ्जलि ने बताया है, प्रत्यक् चेतना (जीवात्मा) का अधिगम, अर्थात् साक्षात्कार, वह क्यों?

उपर्युक्त शङ्का का समाधान

उपर्युक्त शङ्का का उत्तर है कि ईश्वर की भावना से ईश्वर के सभी शुभ गुण शनैः-शनैः जीवात्मा में प्रादुर्भूत होने लगते हैं। जिस प्रकार ईश्वर क्लेश, कर्मविपाक और आशय से रहित तथा धर्माधर्मजन्य अवस्था आदि उपसर्गों से रहित है, उसी प्रकार उसकी भावना से जीवात्मा के सारे दोष शनैः-शनैः ईश्वर-चिन्तन से हटने लगते हैं। इस प्रकार, ईश्वर-चिन्तन से जब जीवात्मा के सब औपाधिक दोष नष्ट हो जाते हैं, तब जीवात्मा के भी असङ्ग होने का ज्ञान हो जाता है। यही प्रत्यक् चेतना (जीवात्मा) का अधिगम, अर्थात् साक्षात्कार है। यद्यपि ईश्वर की भावना से ईश्वर का ही साक्षात्कार होना उचित है, तथापि ईश्वर और पुरुष (जीवात्मा) दोनों का परस्पर अत्यन्त सादृश्य होने के कारण आत्मा का साक्षात्कार होना अनुपपन्न नहीं होता; क्योंकि सजातीय भावना से विजातीय

साक्षात्कार के होने में ही अनुपपत्ति हो सकती है, सजातीय के साक्षात्कार में नहीं। प्रकृत में ईश्वर और आत्मा दोनों सजातीय हैं, इसलिए कोई अनुपपत्ति नहीं होती।

यह उत्तर जीवात्मा और परमात्मा में वास्तविक भेद माननेवालों के ही मत से दिया गया है। वैयाकरण और वेदान्तियों के मत में तो जीवात्मा और परमात्मा का भेद औपाधिक ही माना गया है, वास्तविक नहीं। इस स्थिति में निरुपाधिक आत्मा का ज्ञान होना परमात्मा का ही ज्ञान या साक्षात्कार है। 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यश्च' इत्यादि श्रुति से निरुपाधिक आत्मा के ही दर्शन का विधान सूचित होता है, और इसके उपाय श्रवण, मनन और निदिध्यासन बताये गये हैं। इसी निरुपाधिक आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए महर्षियों ने शास्त्रों में अनेक उपाय बताये हैं। उनमें स्फोटात्मक शब्दब्रह्म के उपासक वैयाकरणों का विचार है कि स्फोट-स्वरूप प्रणव की उपासना से ही सविकल्पक समाधि में योगियों को जिस समय पश्यन्ती का साक्षात्कार होता है, उसी समय उनको निरुपाधिक स्वात्मप्रकाश का आविर्भाव तथा वाङ्मय जगत् के ऊपर आधिपत्य प्राप्त होता है। उसी समय शब्दाधिष्ठात्री सरस्वती देवी अपने निरावरण वाङ्मय शरीर को स्वयं उनके सामने विवृत कर देती है। इसकी सूचना 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासा' यह श्रुति देती है। जिनको स्फोटात्मक शब्दब्रह्म (प्रणव) की उपासना से पश्यन्ती का साक्षात्कार हो गया है, वे ही आविर्भूत-प्रकाश वैयाकरण कहे जाते हैं। इन्हीं को लक्ष्य कर महर्षि पतञ्जलि ने 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' सूत्र के भाष्य में 'के पुनः शब्दाः' इस प्रश्न के उत्तर में 'वैयाकरणाः' यह कहा है। ये ही 'वास्तविक वैयाकरण हैं। इन्हीं आविर्भूत-प्रकाश-वैयाकरणों के मुख से जो भी शब्द निकलते हैं, वे प्रमाण ही होते हैं। इसी अभिप्राय से उक्त भाष्य की व्याख्या करते हुए कैयट ने कहा है—

> आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुतचेतसाम् ।
> अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥
> अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
> ये भावं वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ॥

इसकी व्याख्या पूर्व में की जा चुकी है। इस प्रकार, स्फोटतत्त्व कौन वस्तु है ? उसमें प्रमाण क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान प्रतिवादियों के आक्षेप के निराकरण पूर्वकशास्त्रानुकूल युक्तियों के बल पर किया गया।

उत्तरार्द्ध

आन्तरस्फोट-विचार

इसके पूर्वार्द्ध में प्रसङ्गानुसार आन्तरस्फोटवादी का मत निर्देश किया गया है। उसका विशद विवेचन अब किया जाता है।

ग्रन्थों के मथन करने से प्रतीत होता है कि स्फोट दो प्रकार का होता है, आन्तर तथा बाह्य। श्रावण प्रत्यक्ष का विषय वैखरी रूप शब्द बाह्य है। वह वास्तविक वाचक नहीं है, आन्तर स्फोट ही वास्तविक वाचक होता है। इसकी सिद्धि में वैयाकरणों के सर्वाभ्यर्हित भाष्यकार पतञ्जलि का कथन ही सबसे बढ़कर प्रमाण है।

वैयाकरणों के मत में अकार, ककार आदि वर्ण परस्पर भिन्न होते हुए भी एक ही हैं। अ व्यक्ति क, ख आदि व्यक्ति से भिन्न होता हुआ भी एक ही है, अनेक नहीं। इसका विवेचन आगे किया जायगा।

अकार व्यक्ति यद्यपि एक ही है, तथापि उच्चारण-काल के भेद से उसमें भी भेद हो ही जाता है, जैसे—अ और आ। पहले में एकमात्रिक काल है और दूसरे में द्विमात्रिक। इसलिए अ के एक होने पर भी उच्चारण-काल उसके भेद का नियामक हो जाता है। अ और आ दोनों का स्थान एक है, कण्ठ। केवल प्रयत्न भिन्न हैं। एक (अ) का संवृत और दूसरे (आ) का विवृत। इसी प्रयत्न और उच्चारण-काल के भेद होने से दोनों भिन्न माने जाते हैं। इसी कारण ह्रस्व अ में तपर करने से दीर्घ आ में 'तपरस्तत् कालस्य' इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। अत् कहने से ह्रस्व अकार का ही बोध होता है, दीर्घ आकार का नहीं। इसी कारण 'अतोभिस ऐस्' यह सूत्र 'रामैः' के सदृश दीर्घान्त 'विश्वपाभिः' इत्यादि में नहीं लगता है। इसका कारण यही है कि 'तपरस्तत्कालस्य' यह सूत्र नियम कर देता है कि त् जिसके परे हो वह तत्काल का ही बोधक होता है, भिन्न काल का नहीं। यहाँ 'अतोभिस ऐस्' में अत् में त् के अ से परे रहने के कारण ह्रस्व अकारान्त का ही बोध होगा आकारान्त का नहीं। इसीलिए 'विश्वपाभिः' में भिस् का ऐस् नहीं होता।

जिस प्रकार काल के भेद से अ व्यक्ति में भेद होता है, उसी प्रकार वृत्ति के भेद से अ व्यक्ति में भी तीन प्रकार के भेद हो सकते हैं; क्योंकि वृत्ति के भी तीन प्रकार होते हैं—द्रुत, मध्यम और विलम्बित। कोई द्रुत वृत्ति से उच्चारण

करता है, कोई मध्यम से और कोई विलम्बित से। इस स्थिति में अ व्यक्ति में भी तीन भेद होने से जिस वृत्तिविशिष्ट अ व्यक्ति के साथ तपर लगेगा, उससे भिन्न वृत्तिविशिष्ट अ व्यक्ति में 'तपरस्तत्कालस्य' यह सूत्र नियामक नहीं हो सकता; क्योंकि उच्चारण-काल के भेद होने से वह तत्काल नहीं रहता है। इसके उत्तर में वैयाकरणों का कहना है कि इसी कारण तो शरीर में अन्तरात्मा के समान आन्तर स्फोट को स्वीकार करना परमावश्यक हो जाता है। स्फोट के अङ्गीकार करने पर यह दोष नहीं लगता है। कारण यह है कि स्फोट की अभिव्यक्ति के बाद जायमान चिरकाल वैकृत ध्वनि से चिरकाल-पर्यन्त स्फोट की उपलब्धि होने पर भी स्फोट में काल का भेद नहीं होता है; क्योंकि उसी अ को इसने द्रुत उच्चारण किया और उसी को इसने विलम्बित, इस प्रकार अभेद की प्रत्यभिज्ञा बनी ही रहती है। ह्रस्व-दीर्घ आदि में इस प्रकार भेद की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। कारण यह है कि स्फोट का अभिव्यञ्जक जो प्राकृत ध्वनि है, उसमें रहनेवाले काल का ही आरोप होता है, वैकृत ध्वनिगत काल का नहीं।

इस अवस्था में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत से अभिव्यक्त स्फोट में ह्रस्व, दीर्घ आदि के उपरागवश जिस प्रकार तावत्कालत्व का आरोप होता है, उसी प्रकार द्रुत, विलम्बित आदि भेदविशिष्ट ह्रस्व अकार में उस ध्वनिगत काल का आरोप नहीं होता है। इसमें कारण यही है कि ह्रस्व, दीर्घ आदि के परस्पर ऐक्य की प्रत्यभिज्ञा नहीं होने से तत्काल (उस काल) के आरोप होने पर भी जहाँ उच्चारण करनेवाले के आलस्य आदि से किया गया जो वैकृत ध्वनिगत काल है, 'जो केवल उपलब्धि (ज्ञान) में ही चिरत्व-अचिरत्व का कारण होता है', उसके आरोप होने में कोई भी प्रमाण नहीं है। कारण यह है कि आरोप होने पर ही निमित्त का अनुसरण किया जाता है, निमित्त है, इसलिए आरोप नहीं किया जाता। यही कारण है कि द्रुत, मध्यम और विलम्बित इन तीनों वृत्तियों में यह वही ह्रस्व अकार है, इस प्रकार का अनुभव अबाध रूप से निरन्तर होता है। यहाँ एक बात और भी जान लेनी चाहिए कि यदि वर्णों को क्षणिक मानते हैं, तब तो वे क्षण-पर्यन्त ही स्थायी रहेंगे, इस स्थिति में कौन ऐसा वर्ण होगा, जिसकी उपलब्धि चिरकाल तक हो सके? क्षणिक की उपलब्धि चिरकाल तक होने पर उसका क्षणिकत्व ही नष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त आशङ्का का समाधान

'तपरस्तत्कालस्य' सूत्र के व्याख्यानकाल में जिस वृत्ति में जिस वृत्ति-विशिष्ट अकार में पाणिनि ने तपर किया है, उसके अतिरिक्त वृत्तिवाले अकार

'तपरस्तत्कालस्य' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए; क्योंकि उस वृत्ति के जनक यत्न के भेद होने से तत्काल नहीं होता। इस आशंका के उत्तर में पतञ्जलि ने कहा है—

एवं तर्हि स्फोटः शब्दः ध्वनिः शब्दगुणः। कथम्? यथा भेर्याहन्ता भेरीमाहत्य कश्चित् विंशतिपदानि गच्छति, कश्चित् त्रिंशत्, कश्चिच्चत्वारिंशत्, स्फोटस्तावानेव ध्वनिकृता वृद्धिः।

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महाँश्च केषाञ्चिद् उभयं तत्स्वभावतः'॥ (म० भा०)

इसका तात्पर्य यह है कि यदि ऐसी बात है, तो श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य स्फोट नाम का पदार्थ ही शब्द है, और ध्वनि उसका गुण है। अर्थात्, स्फोट की अभिव्यक्ति के बाद जायमान जो वैकृत ध्वनि है, वह तो शब्द के चिर-अचिर उपलब्धिमात्र के कारण होने से गुण, अर्थात् उपकारक-मात्र है। यहाँ ध्वनि शब्द से वैकृत ध्वनि का ही ग्रहण समझना चाहिए, प्राकृत ध्वनि का नहीं।

भाष्यकार का पुनः शङ्का-समाधान

भाष्यकार पुनः आशङ्का करते हैं—कथम् = क्यों? इसका उत्तर देते हैं—भेरी (वाद्यविशेष) को बजानेवाला भेरी बजाकर, अर्थात् उसपर आघात कर उसके शब्द को सुनता हुआ बीस पग तक जाता है, कोई तीस पग तक और कोई चालीस पग तक। स्फोटात्मक शब्द तो उतना ही है, केवल ध्वनिकृत वृद्धि है, अर्थात् शब्द में जो चिर-अचिर काल की प्रतीति होती है, वह वैकृत ध्वनि की ही है, स्फोटात्मक शब्द की नहीं।

'ध्वनिः स्फोटश्च' इत्यादि का भाव यह है कि शब्दों के दो सम्बन्धी हैं—ध्वनि और स्फोट। यहाँ ध्वनि शब्द से प्राकृत ध्वनि का ही ग्रहण समझना चाहिए। वैकृत ध्वनि तो किसी का अल्प, अर्थात् अल्पकाल उपलब्धि का जनक और किसी का महान्, अर्थात् बहुत काल-पर्यन्त उपलब्धि का जनक होता है। इसमें (ध्वनि और स्फोट अथवा अल्पकाल और महत्त्व) में प्रमाण कहते हैं—'उभयं तत्स्वभावतः'। अर्थात् ये दोनों स्वभाव से ही सिद्ध हैं, इनमें प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है।

एक नवीन मत

किसी का यह मत है कि व्यक्त वचन के उच्चारण में ध्वनि और स्फोट दोनों रहते हैं। परन्तु, अव्यक्त वचन के उच्चारण में केवल ध्वनि की ही प्रतीति होती है,

स्फोट की नहीं। इसीलिए वहाँ (अव्यक्त शब्द के उच्चारण-स्थल में) अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। ये दोनों स्वभावतः हैं। इसका निष्कर्ष यही होता है कि ध्वनि दो प्रकार की होती है, एक प्राकृत और दूसरी वैकृत। जो स्फोट की उपलब्धि में कारण है, वह प्राकृत ध्वनि है, और जो स्फोट की अभिव्यक्ति के बाद उस (स्फोट) की चिर या अचिर काल तक उपलब्धि का जनक है, वह वैकृत ध्वनि है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में लिखा है—

> स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
> वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥
> शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदेतु वैकृताः।
> ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥

इसका तात्पर्य यह है कि स्फोट के ग्रहण (अभिव्यक्ति) में हेतु प्राकृत ध्वनि है, और वैकृत ध्वनि उस स्फोट के स्थितिभेद, अर्थात् चिर-अचिर काल तक उपलब्धि-विशेष में निमित्तमात्र है। शब्द की अभिव्यक्ति के बाद वैकृत ध्वनि उत्पन्न होती है और वही द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तिभेद में भी कारण होती है। उनसे स्फोटात्मा में भेद नहीं होता, अर्थात् वे स्फोटात्मा के भेदक नहीं होते हैं। तात्पर्य यह है कि स्फोट की सिद्धि में कालपरिमाणवृत्ति का स्वल्प भी व्यापार नहीं रहता, केवल ध्वनि से संसृष्ट उसका स्वरूपमात्र उपलब्ध होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ध्वनिकाल स्फोट की उपलब्धि का प्रयोजक होता है। इसी अभिप्राय से भर्तृहरि ने कहा है 'स्फोटस्याऽभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः'— इत्यादि।

इसमें यह आशङ्का होती है कि ह्रस्व, दीर्घ प्लुत आदि में भी ध्वनि, ही काल के हेतु-रूप में आती है। स्फोटकाल की तो प्रतीति होती नहीं, इस स्थिति में दीर्घ, प्लुत में भी 'तपरस्तत्कालस्य' इस सूत्र से तत्कालता का प्रसङ्ग क्यों नहीं होता है?

इसका समाधान यह है कि ह्रस्व, दीर्घ आदि स्थलों में प्राकृत काल का ही स्फोट में उपचार (आरोप) होता है, वैकृत काल का नहीं। लिखा भी है— 'प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते' इत्यादि। अर्थात्, प्राकृत ध्वनि का काल ही शब्द आरोपित होता है।

शक्यार्थ का बौद्धत्व-निरूपण

भाष्य, कैयट और वाक्यपदीय के मनन से यही स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्फोट दो प्रकार का होता है, आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर स्फोट ही मुख्य

वाचक होता है। बाह्य स्फोट जाति-व्यक्तिभेद से दो प्रकार का होता है। इसी प्रकार आभ्यन्तर और बाह्य के भेद से शक्य अर्थ भी दो प्रकार का होता है। आभ्यन्तर से बौद्ध अर्थ ही समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार निर्विभाग आभ्यन्तर स्फोट ही वाचक होता है, उसी प्रकार निर्विभाग आन्तर शक्य अर्थ ही उसका वाच्य भी होता है। वह आन्तर शक्यार्थ प्रतिभा-रूप ही है और प्रतिभा भी बुद्धिविषयता रूप ही है। इससे सिद्ध होता है कि शक्य (वाच्य) अर्थ बुद्धिसत्ता (बौद्ध सत्ता) से युक्त ही होता है, बाह्य सत्ता से युक्त नहीं।

'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' सूत्र के भाष्य से भी यही बात सिद्ध होती है। उसमें लिखा है—'न पदार्थो व्यभिचरति सत्ताम्=पदार्थ सत्ता का व्यभिचारी नहीं होता, अर्थात् कोई भी पदार्थ सत्ता से रहित नहीं होता, पदार्थमात्र का स्वाभाविक अर्थ सत्ता ही होता है। इस स्थिति में बौद्ध अर्थ के नहीं मानने पर 'घटः अस्ति' में अस्ति का प्रयोग नहीं होना चाहिए; क्योंकि 'घटः' कहने से ही घट का सत्तारूप अर्थ 'न पदार्थो व्यभिचरति सत्ताम्' इस भाष्य के अनुसार सिद्ध ही है। अतः 'उक्तार्थाना मप्रयोगः इस न्याय से 'अस्ति' का प्रयोग नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'घटो नास्ति' का भी प्रयोग बौद्ध अर्थ के नहीं मानने पर युक्त नहीं होता। कारण यह है कि घटः कहने से ही 'घट की सत्ता' यह अर्थ उक्त भाष्य से सिद्ध है, पुनः नास्ति का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। कारण यह है कि घट पद का सत्ताविशिष्ट घट रूप अर्थ उक्त भाष्य से सिद्ध है, पुनः उस सत्ता के अभाव-बोधन के लिए 'नास्ति' का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। जब बौद्ध अर्थ को भी मानते हैं, तभी बाह्य सत्ता के अस्तित्व-बोधन के लिए 'अस्ति' का प्रयोग और बाह्य सत्ता के अभाव बोधन के लिए 'नास्ति' का प्रयोग सङ्गत होता है।

बौद्ध शक्यार्थ की सत्ता (अस्तित्व) होने में 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इस पाणिनि-सूत्र में अस्ति-ग्रहण को भी आचार्यों ने प्रमाणरूप में दिया है। बौद्ध अर्थ को नहीं मानने पर 'गौः घटः' इत्यादि प्रथमान्त पदों के 'न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति' इस उक्त भाष्य से सत्तासमाविष्ट ही अर्थ होने के कारण सूत्र में अस्ति का ग्रहण व्यर्थ ही हो जाता है। भूत-भविष्यत् में 'गोमान् आसीत, गोमान् भविता' इत्यादि स्थलों में बाह्य गो सत्ता तो है नहीं, बुद्धि-परिकल्पित ही गो की सत्ता है। इस अवस्था में अस्ति-ग्रहण के सामर्थ्य से यही सिद्ध होता है कि 'बुद्धि-परिकल्पित भी शक्यार्थ (वाच्य अर्थ) होता है। इसी कारण बुद्धि-परिकल्पित सत्ता के व्युदास के लिए और बाह्य सत्ता के परिग्रह के लिए ही उक्त सूत्र में अस्ति-ग्रहण चरितार्थ होता है। इससे सिद्ध होता है कि बौद्धसत्ता के रहते भी बाह्य

सत्ता का बोध कराने के लिए 'घटः अस्ति' में अस्ति का प्रयोग और 'घटो नास्ति' में बाह्य सत्ता का अभाव बोधन कराने के लिए नास्ति का प्रयोग सार्थक होता है।

'शशशृङ्ग' नास्ति' इस वाक्य से जो बोध होता है, वह बौद्ध अर्थ के स्वीकार करने पर ही सम्भव हो सकता है, अन्यथा बाह्य शशशृङ्ग के अस्तित्व का अभाव होने से 'शशशृङ्गम्' में प्रातिपदिक संज्ञा न होगी और वह पद नहीं हो सकता है। किसी शब्द के अर्थवान् होने पर ही उसकी प्रातिपदिक संज्ञा 'अर्थवत्, सूत्र से होती है, और 'शशशृङ्गम्' का बाह्य कोई भी अर्थ नहीं है, इसलिए शशशृङ्ग का बौद्ध अर्थ मानकर उसकी प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

बौद्ध अर्थ के स्वीकार करने पर ही 'शशशृङ्ग' नास्ति' में अभावज्ञान में आहार्य प्रतियोगी ज्ञान को ही कारण होना तार्किकों ने बताया है, अन्यथा (बौद्ध अर्थ के नहीं मानने पर) 'नीलं सरोजं भवत्येव' नील कमल होता ही है, यहाँ एव शब्द का जो अन्ययोगव्यवच्छेद अर्थ है, उसका अनन्वय होने लगेगा; क्योंकि कमल में नीलत्व का अयोग अप्रसिद्ध है, और अप्रसिद्ध प्रतियोगिक अभाव तार्किक नहीं मानते, अर्थात् जिस अभाव का प्रतियोगी प्रसिद्ध नहीं है, उसे तार्किक नहीं मानते हैं। जिसका अभाव हो, उसे प्रतियोगी कहते हैं। जैसे घट के अभाव का प्रतियोगी घट और पट के अभाव का प्रतियोगी पट होता है। जिस अभाव का प्रतियोगी प्रसिद्ध नहीं है, उसे तार्किक नहीं स्वीकार करते। इस स्थिति में शशशृङ्ग के अभाव का प्रतियोगी शशशृङ्ग बहिर्लोक में अप्रसिद्ध है, अतः प्रयोग-निर्वाह के लिए आन्तर (बौद्ध) शशशृङ्ग की सत्ता तार्किकों को भी माननी ही पड़ती है। अतएव, बुद्धिस्थ शशशृङ्ग बहिर्देश में नहीं है, इस प्रकार 'शशशृङ्ग' नास्ति' का अर्थ सङ्गत होता है।

इसी प्रकार, 'अङ्कुरो जायते' अङ्कुर उत्पन्न होता है, ऐसे स्थलों में भी बौद्ध अर्थ के स्वीकार करने पर ही, उनका शाब्दबोध लोक में प्रसिद्ध है। इसलिए, बौद्ध अर्थ की सत्ता भी शब्द के वाच्य अर्थ के रूप में स्वीकृत है।

इस सम्बन्ध में वेदान्त-मत

वेदान्ती लोग इच्छा आदि धर्मों को स्वरूप-सम्बन्ध से अन्तःकरणनिष्ठ मानते हैं और स्वरूप-सम्बन्ध से इच्छादि के प्रति समानाधिकरण सम्बन्ध से विषय को भी कारण मानते हैं, और कार्य-कारण को समान देश में रहना आवश्यक है। इसलिए, विषय को भी बुद्धिस्थ होना अत्यावश्यक हो जाता है, अन्यथा समान देश में नहीं रहने से कार्यकारणभाव ही (जो विषय और बुद्धि के साथ

होना आवश्यक है) असंगत हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान के प्रति भी विषय कारण होता है और कार्य-कारण के समान देश में रहना नियम है। इसलिए, अन्तःकरणवर्ती सामग्री से ही कार्य की उत्पत्ति मानना युक्त प्रतीत होता है। एक बात और भी है कि सिद्ध वस्तु (जो प्राप्त है) की इच्छा नहीं होती है, यह नियम है। इसलिए, असिद्ध पाकादि वस्तु ही इच्छा के प्रति कारण होता है, ऐसा मानना होगा। इस स्थिति में असिद्ध पाकादि वस्तु का बाह्यदेश में अभाव रहेगा, इसलिए असिद्ध पाकादि वस्तु को बुद्धिस्थ मानकर बुद्धि में ही हेतु और हेतुमान् का सामानाधिकरण्य होना युक्त प्रतीत होता है। नहीं तो असिद्ध पाकादि वस्तु के बहिर्देश में नहीं रहने से उसकी इच्छादि के प्रति कारण होना शशशृङ्ग के समान असम्भव ही हो जायगा। इसलिए, बौद्ध-अर्थ तार्किकों को भी मानना आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार, शुक्ति आदि में जहाँ रजत आदि का भ्रम होता है, वहाँ भी भ्रम का अधिष्ठान बौद्धशुक्ति आदि को ही माना जाता है, बाह्य शुक्ति आदि को नहीं। 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्, (पा० सू० १।३।२) इस सूत्र के भाष्य से भी बौद्ध अर्थ की सत्ता स्वीकृत होती है। इसके भाष्य में 'को देवदत्तः?' देवदत्त कौन है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है— अङ्गदी, कुण्डली, व्यूढोरस्को, वृत्तबाहुः ईदृशो देवदत्तः।'—अङ्गद, कुण्डल को धारण करनेवाला, दृढ छातीवाला और लम्बी बाहुवाला ऐसा देवदत्त है।

अब यहाँ यह विचार करना है कि अङ्गदी, कुण्डली आदि पदों से देवदत्त का ही कथन होता है, और ईदृश शब्द का प्रयोग वहीं देखा जाता है, जहाँ दो समान वस्तुओं का निर्देश करना हो। प्रकृत में दूसरी ऐसी कोई भी समान वस्तु नहीं है, जिसका सादृश्य देवदत्त में किया जा सके। इसलिए प्रकृत में 'ईदृश' शब्द का प्रयोग निरर्थक हो जाता है और बौद्ध पदार्थ को माननेवालों के मत में ईदृश शब्द का प्रयोग निरर्थक नहीं होता। इसका कारण यह है कि अङ्गदी, कुण्डली आदि शब्दों से जो अर्थ बुद्धि में भासित होता है, उसी प्रकार बाह्य देवदत्त है, ऐसा उसका अभिप्राय होना सङ्गत होता है। यहाँ ईदृश शब्द से कुण्डलित्व आदि धर्मों के साथ प्रत्यभिज्ञा-विषयत्व (प्रत्यभिज्ञा, का विषय होना) उपलक्षित होता है। दूसरे शब्दों में अङ्गदी कुण्डली आदि शब्दों से बुद्धि में जो अर्थ भासित होता है, उसी की प्रत्यभिज्ञा ईदृश शब्दों से होती है। इसके बौद्ध और बाह्य अर्थों में अभेद भी सूचित होता है।

बौद्ध पदार्थ का स्पष्ट निरूपण 'हेतुमति च' (३।१।२६) 'पङ्क्तिविंशति' (५।१।५९), 'मतुप्' (५।२।९४) इत्यादि पाणिनि-सूत्र के भाष्य और कैयट में

मिलता है। 'हेतुमति च' सूत्र का भाष्य इस प्रकार है—"इह कथं वर्त्तमानता कंसं घातयति, बलिं बन्धयतीति, चिरहते च कंसे चिरहते च बलौ ? अत्रापि युक्तैव। कथम् ? ये तावदेते शौभिका नाम एते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षञ्च बलिं बन्धयन्ति चित्रेषु कथम् ? चित्रेष्वपि उद्‌गूर्णनिपतिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंसस्य च कृष्णस्य च। ग्रन्थिकेषु कथम् ? यत्र शब्दग्रन्थनमात्रं लक्ष्यते ? तेऽपि हितेषामुत्पत्तिप्रभृत्याविनाशात् तदृद्धीर्व्याचक्षाणः सतो बुद्धिविषमान् प्रकाशयन्ति" (म० भा० ३।१।२६)।

इसका तात्पर्य यह है कि 'कंसवधमाचष्टे' इस विग्रह में 'कंसं घातयति' और 'बलिबन्धमाचष्टे' इस विग्रह में 'बलिं बन्धयति' जो प्रयोग होते हैं, उनमें वर्त्तमानकालता किस प्रकार होती है ? यह प्रश्न है। प्रश्नकर्त्ता का तात्पर्य है कि कंस तो चिरकाल पूर्व में ही मारा गया और बलि का बन्धन भी चिरकाल पूर्व में ही हुआ, पुनः वर्त्तमानकालता किस प्रकार ? उत्तर यहाँ भी वर्त्तमानकालता है। जैसे ये शौभिक, अर्थात् व्याख्यान में कुशल नट (नाटक में कंस-कृष्ण के पाठ लेनेवाले) तो प्रत्यक्ष ही कंस को मारते और बलि को बाँधते हैं। चित्रों में भी प्रहार को उठाते-गिराते समय वर्त्तमानकालता देखी ही जाती है।

पुनः प्रश्न

ग्रन्थों की रचना करनेवाले अपने ग्रन्थों में वर्त्तमानकाल का प्रयोग किस प्रकार करते हैं ? उत्तर—वे ग्रन्थिक (ग्रन्थ लिखनेवाले) उनके जन्म से मरण-पर्यन्त उनकी ऋद्धियों (ऐश्वर्यों) को कहते हुए अपनी बुद्धि पर वर्त्तमान कंस, कृष्ण आदि को प्रकाशित करते हैं। अर्थात् श्रोताओं की बुद्धि में समर्पित करने के लिए शब्दों का उपयुक्त ग्रन्थन करते हैं।

यहाँ 'सतो बुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति' इस वाक्य से भाष्यकार का बौद्ध अर्थ के अस्तित्व में स्पष्ट संकेत प्रतीत होता है। विशेषकर 'बुद्धिविषयान्' के सतः इस विशेषण के देने से (जिसका अर्थ वर्त्तमान ही होता है) बौद्ध अर्थ के अस्तित्व में भाष्यकार का पूर्ण संकेत लक्षित होता है।

इसी प्रकार 'पङ्क्ति विंशति' इत्यादि सूत्र के भाष्य में 'सङ्घः समूहः' इस प्रतीक को लेकर कैयट ने कहा है—'बुद्धिव्यवस्थार्थनिबन्धनाश्च शब्दाः बुद्धिमेवार्थाकारानुपजनयन्तोऽसत्यपि वास्तवे भेदे तमवगमयन्तीति।' तात्पर्य यह है कि बुद्धि में व्यवस्थापित (बुद्धिस्थ) अर्थनिबन्धन शब्द बुद्धि को ही अर्थ के आकार में परिणत करते हुए वास्तविक भेद के नहीं रहते भी भेद का बोध कराते हैं। कैयट के इस कथन से भी बौद्ध शब्द और बौद्ध अर्थ दोनों के अस्तित्व का स्पष्ट संकेत मिलता है।

इस तरह 'मतुप्' सूत्र के भाष्य से भी बौद्ध अर्थ का दृढ बोध होता है। वहाँ का भाष्य कहता है—"अथास्तिग्रहणं किमर्थम्? सत्तायां प्रत्ययो यथा स्यात्। नैतदस्ति प्रयोजनम् न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति। इदं तर्हि प्रयोजनं सम्प्रति सत्तायां यथा स्यादिति। भूत भविष्यत् सत्तायां माभूत् गावोऽस्यासन्, गावोऽस्य-भवितारः इति भाष्यम् (५।२।६४)।"

उपर्युक्त भाष्य का तात्पर्य यह है, तदस्यास्त्या 'रिमन्निति मतुप्' इस सूत्र में अस्ति ग्रहण का क्या प्रयोजन है? तात्पर्य यह है कि विशेषण वहीं सार्थक होता है, जहाँ सम्भव और व्यभिचार हो, जैसे 'नीलकमल' में कमल का नील विशेषण सार्थक है। अग्नि का विशेषण शीतल नहीं होता; क्योंकि शीतल अग्नि का होना सम्भव नहीं है। अग्नि का उष्ण भी विशेषण नहीं हो सकता, कारण कि अग्नि के उष्ण होने में कहीं भी व्यभिचार नहीं है। अर्थात्, ऐसी कोई भी आग नहीं है, जो उष्ण न हो या शीतल हो, इसे ही आचार्यों ने कहा है—

सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्।
न शीतेन न चोष्णेन वह्निः क्वापि विशिष्यते॥

अर्थात्, सम्भव और व्यभिचार होने पर ही विशेषण सार्थक होता है। उष्ण और शीत कोई भी अग्नि का विशेषण नहीं होता। प्रकृत सूत्र में 'अस्ति' को सत्ता में प्रत्यय-विधान के लिए मानने में कोई व्यभिचार नहीं होता है। कारण यह है कि कोई भी पदार्थ सत्ता का व्यभिचारी नहीं होता है, सत्ता के विना किसी पद का उच्चारण भी असम्भव है; क्योंकि सत्ता ही सब शब्दों की प्रवृत्ति में निमित्त है। प्रातिपदिक का अर्थ सत्ता ही है। इसलिए, 'अस्ति' सत्ता का विशेषण किसी प्रकार नहीं हो सकता। प्रश्न का तात्पर्य यही है।

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं—'सत्तायां प्रत्ययो यथा स्यात्', अर्थात् सत्ता में वर्त्तमान और सत्तोपाधिक अर्थ के वाचक शब्द से ही प्रत्यय हो, ऐसा अर्थ होने के लिए ही 'अस्ति' ग्रहण सार्थक होता है। 'न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति' इसपर कैयट का कहना है कि 'यावत् बुद्ध्या पदार्थो न विषयीकृतः तावत् पदस्य प्रयोगाभावः। तस्माद् बुद्धिसत्ता समाविष्टोऽर्थो विधि-निषेधजननादिभिः सम्बध्यते—वृक्षोऽस्ति, वृक्षो नास्ति, वृक्षो जायते इति। अत्यन्ताऽसतोऽपि बहिः शशविषाणादीनर्थान् बुद्ध्या विषयीकृत्य शशविषाणादि-पदप्रयोगः, तस्माद् बुद्ध्यारूढापचरिता सत्ताशब्दप्रयोगाश्रयत्वादव्यभिचारेत्यर्थः। सैव तु बुद्धिसत्ता प्रयोक्तृप्रतिपत्तॄणां वहीरूपतया भासते।'

कैयट के इस कथन पर ध्यान देने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बौद्ध (आन्तर) अर्थ के अस्तित्व में भाष्यकार का कितना विश्वास था। कैयट का तात्पर्य है कि जबतक पदार्थ बुद्धि का विषय नहीं होता, तबतक पद का प्रयोग असम्भव ही है। इसलिए बुद्धि-सत्ता से समाविष्ट अर्थात् बौद्ध अर्थ ही विधि, निषेध और जनन आदि से सम्बद्ध होता है। यहाँतक कि जिसकी बाह्यसत्ता का अत्यन्त अभाव है, उस शश-विषाण आदि अर्थों को बुद्धि का विषय बनाकर शश विषाण आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसलिए, बुद्धि पर आरूढ आरोपित सत्ता ही शब्द, प्रयोग का आश्रय है। इसलिए कोई दोष नहीं आता। वही बुद्धि सत्ता, प्रयोक्ता और प्रतिपत्ता (बोद्धा) दोनों को बाह्य रूप से भासित होती है। एक बात और भी है कि बाह्य सत्ता रहने पर बाह्य सत्ता के समानाधिकरणतया बौद्ध अर्थ भासित होगा, और बाह्य सत्ता की अभावदशा में केवल बुद्धिसत्ता का ही बाह्यरूप से भान होता है। इसीलिए, जिस घर में घड़ा नहीं है, उस घर से 'घटमानय' घड़ा लाओ, कहने पर घड़ा लाने की प्रवृत्ति देखी जाती है। बाद में घड़ा के अभाव का निश्चय होने पर वक्ता के ज्ञान को अयथार्थ माना जाता है। उस समय अन्तःकरण को रागादि दोष से दूषित होने के कारण उस बौद्ध सत्ता का ही यथार्थ के समान भान होता है। यदि सत्ता को ही प्रयोग का नियामक मान लें, तब तो 'वृक्षः अस्ति' यह प्रयोग नहीं हो सकता। कारण यह है कि 'वृक्षः' कहने से ही सत्ता का बोध हो जाने के कारण 'उक्तार्थानामप्रयोगः', जिसका अर्थ उक्त हो जाता है, उसका प्रयोग नहीं होता, इस न्याय से अस्ति का प्रयोग नहीं होना चाहिए। सत्ता के विरोधी होने के कारण 'वृक्षः नास्ति' में नास्ति का भी प्रयोग नहीं हो सकता। 'अङ्कुरो जायते' यहाँ 'जायते' का प्रयोग भी नहीं हो सकता, क्योंकि सत् का जन्म भी नहीं हो सकता है।'

यह बौद्ध अर्थ न्यायाचार्य गौतम को भी मान्य है। गौतम ने लिखा है—'नासत् न सत् न सदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात्' (न्या० सू० ४।१।४८)। इसका तात्पर्य है, उत्पत्ति के पहले कार्य असत् नहीं है; क्योंकि असत् से उत्पत्ति असम्भव है। असत् से उत्पत्ति मानने पर शशविषाण की उत्पत्ति होने लगेगी और सिकता से तैल भी उत्पन्न होने लगेगा। उत्पत्ति के पहले कार्य को सत् भी नहीं कह सकते; क्योंकि सत् की उत्पत्ति होती ही नहीं। दूसरी बात यह है कि सत् की उत्पत्ति मानने पर पुनः-पुनः उत्पत्ति की धारा चलती रहेगी और अनवस्था दोष आपतित होगा। सत् और असत् उभयात्मक भी नहीं मान सकते; क्योंकि सत् और असत् दोनों के वैधर्म्य होने से समानाधिकरण नहीं हो सकता।

इस आपत्ति को हटाने के लिए न्यायभाष्यकार ने कहा है कि उत्पत्ति के पहले कार्य असत् ही है 'उत्पादव्ययदर्शनात्' (न्या० सू० ४।१।४३)। इसका तात्पर्य है कि कार्यमात्र का उत्पाद (उत्पत्ति) और विनाश प्रत्यक्ष देखा जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि उत्पत्ति के पहले कार्य असत् होता है। ऐसा मानने से शशविषाणादि की उत्पत्ति होने लगेगी, इस आशंका के समाधान में न्यायसूत्रकार लिखते हैं—'बुद्धिसिद्धन्तु तदसत्' (न्या० सू० ४।१।५०)। अर्थात्, कार्य की उत्पत्ति के पहले और नाश के बाद कार्य के असत् होने पर भी बुद्धि के विषय होने से सिद्ध ही है। न्यायदर्शन के इन सूत्रों और भाष्यों को देखने से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि बौद्ध अर्थ के स्वीकार करने में नैयायिकों की भी सम्मति है।

बौद्धार्थनिरूपणपूर्वक भ्रमज्ञान का निरूपण

बौद्ध अर्थ वेदान्तियों को भी मान्य है। 'जन्माद्यस्य यतः' (वे० सू० १।१।२) इस वेदान्तसूत्र के ऊपर 'अस्य जगतः' इस प्रतीक को लेकर वाचस्पति मिश्र ने भामती में कहा है—"चेतनो हि बुद्धावालिख्य नामरूपे घट इति नाम्ना रूपेण च कम्बुग्रीवादिना बाह्यं घटं निष्पादयति, अत एव घटस्य निर्वर्त्यस्यापि अन्तःसंकल्पात्मना सिद्धस्य कर्मकारकभावो घटं करोतीति यदाहुः बुद्धिसिद्धन्तु तदसत्।"

इसका तात्पर्य यह है कि, चेतन पुरुष (कुलाल आदि) नाम और रूप को अपनी बुद्धि में स्थापित कर, अर्थात् घट इस नाम और रूप से बुद्धि का विषय बनाकर बाह्य घट का निर्माण करता है। नाम और रूप को बुद्धि के विषय किये बिना वह घट आदि किसी भी वस्तु को नहीं बना सकता। इसी कारण निर्वर्त्य (जो संकल्पात्मना अन्तःकरण में सिद्ध है) घट आदि को भी कर्मकारक भाव होता है। अन्यथा (बुद्धिस्थ न मानने से) निर्वर्त्य की कर्म संज्ञा नहीं हो सकती, क्योंकि क्रियाजन्य फल का आश्रय वह नहीं है।

कर्म के तीन प्रकार

निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य भेद से कर्म तीन प्रकार के होते हैं। क्रिया (व्यापार) करने के पहले जिसकी बाह्य सत्ता नहीं रहती, उसे 'निर्वर्त्य' कर्म कहते हैं। जैसे—'घटं करोति, घड़ा बनाता है, यहाँ बनाने (क्रिया) के पहले घट की बाह्य सत्ता नहीं है, इसलिए घट निर्वर्त्य कर्म है। 'विकार्य' कर्म उसको कहते हैं, जो कर्म क्रिया के पहले से ही वर्त्तमान हो जैसे—'सुवर्णं कुण्डलं करोति,' 'सुवर्णं भस्म करोति'। यहाँ कुण्डल या भस्म बनाने के पहले से ही सुवर्ण वर्त्तमान है, क्रिया

से केवल उसमें (सुवर्ण में) कुण्डल और भस्म-रूप विकार होता है। जिस कर्म में क्रिया चलते कुछ विशेषता न हो, वह प्राप्य कर्म है। जैसे —'सूर्यं पश्यति', सूर्य को देखता है, यहाँ देखने रूप क्रिया से सूर्य में कुछ विकार नहीं होता, अतः सूर्य प्राप्य कर्म है।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कर्मकारक वही होता है, जो क्रियाजन्य फल का आश्रय हो। प्रकृत में जो क्रिया के पहले भी वर्त्तमान हैं, ऐसे विकार्य और प्राप्य में किसी प्रकार क्रिया के आश्रय होने से कर्म संज्ञा हो सकती है। परन्तु, जो अभी बाह्य रूप से सिद्ध नहीं है, ऐसे निर्वर्त्य कर्म को तो क्रियाजन्य फल के आश्रय होने से किसी प्रकार भी कर्म संज्ञा नहीं हो सकती है। कारण यह है कि जिस घट को कर्म संज्ञा दी जा रही है, वह तो अभी बाह्य रूप से असत है, अतः वह फल का आश्रय किस प्रकार हो सकता है ? फल के आश्रय न होने से वह कर्म भी नहीं हो सकता। यदि बौद्ध अर्थ माना जाता है, तब तो बाह्य घट के अभाव में भी बुद्धि परिकल्पित (बौद्ध) घट के रहने से घट का फलाश्रय होना सुगम हो जाता है।

दृष्टान्त द्वारा घट आदि का बुद्धिस्थत्व-निरूपण

जिस प्रकार नदी या तालाब आदि का जल छिद्र से निकलकर नहर के द्वारा खेत में बनाये गये केदारों में प्रवेश करता है, उस समय बनाये गये केदारों के अनुसार ही त्रिकोण या चतुष्कोण आदि रूपों में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार अन्तःकरण (चित्त) भी नेत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा बाहर घट आदि देश में जाकर घट आदि विषयों के आकार में परिणत हो जाता है।

अन्तःकरण के सम्बन्ध में एक शङ्का

शङ्का इस प्रकार है—अन्तःकरण के निरवयव होने से उसका परिणाम किस प्रकार हो सकता है ? कारण यह है कि परिणाम सावयव पदार्थ का ही होता है, निरवयव का नहीं, इसीलिए इसका परिणाम नहीं हो सकता। इसके उत्तर में कहा जायगा कि यह शङ्का ही भ्रममूलक है। कारण यह है कि वास्तव में अन्तःकरण द्रव्य है और आकाशादि को छोड़कर प्रायः सब द्रव्य सावयव होते हैं, इसलिए उसका परिणाम हो सकता है।

एक और शङ्का

जब अन्तःकरण (चित्त) इन्द्रिय-प्रणालिका से बाहर विषय देश में जाता है, उस समय शरीर निर्जीव क्यों नहीं हो जाता ? इसका उत्तर यह है कि चित्त

के विषय-देश में जाने पर भी शरीर के साथ उसका सम्बन्ध नहीं छूटता है, जिससे वह निर्जीव हो सके। जिस प्रकार चक्षु इन्द्रिय के विषय-देश में जाने पर भी शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं छूटता है। एक बात और है, बुद्धिस्थ विषय के आकार में अन्तःकरण (चित्त) का परिणाम होता है, इसलिए बहिर्देश में चित्त का गमन नहीं होता, ऐसी स्थिति में शरीर के साथ सम्बन्ध छूटने का प्रश्न ही नहीं उठता है। प्रकृत में यह सिद्ध होता है कि अन्तःकरण ही घट आदि विषयों के देश में जाकर घट आदि के आकार में परिणत होता है, अथवा बुद्धिस्थ ही घट आदि के आकार में परिणत होता है।

सांख्य मत में पूर्वपक्ष

सांख्यों का कहना है कि जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में बाह्य मुख आदि का प्रतिबिम्ब पड़ने से मुख आदि का प्रत्यक्ष भान होता है, उसी प्रकार स्वच्छ अन्तःकरण में बाह्य घट आदि विषयों का प्रतिबिम्ब पड़ता है, इसलिए घटादि-विषयक बुद्धि होती है। वास्तव में, वहाँ प्रतिबिम्ब ही भासित होता है, मुख नहीं रहता। इसी प्रकार जड़ जो अन्तःकरण की वृत्ति है उसमें चैतन्य भी संक्रान्त के समान भासित होता है। उस चैतन्य के संक्रमण-विशिष्ट अन्तःकरण की वृत्ति में समस्त विषयों के आकार का समर्पण होता है। यही सांख्यों का मत है।

उत्तर पक्ष

उपर्युक्त सांख्य सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है। सांख्यों के कहने का तात्पर्य यही निकलता है कि इन्द्रियसंयुक्त बाह्य घट, आदि विषयों के प्रतिबिम्ब अन्तःकरण की वृत्ति में पड़ने से विषयों का प्रत्यक्ष होता है। परन्तु, स्वप्न आदि स्थलों में बाह्य विषयों के साथ सम्बन्ध के अत्यन्त अभाव होने से प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। इसलिए, स्वप्न में घटादि का प्रत्यक्ष कदापि नहीं हो सकता। कारण है कि स्वप्न में बाह्य घटादि विषयों का सर्वथा अभाव ही है, इस स्थिति में प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है? इसलिए भ्रम, स्वप्न और मद की अवस्था में चित्तगत बौद्ध अर्थ का ही प्रत्यक्ष भान होता है, बाह्य विषय का नहीं। स्मृतिकारों ने कहा है—

> विप्रपृष्ठ्यादि चित्तस्थं न बहिःस्थं कदाचन।
> स्वप्नभ्रममदाद्येषु सर्वै रेवानुभूयते॥

हे विप्र! पृथ्वी आदि पदार्थ जो बाह्यरूप में भासित होते हैं, वे सब चित्तस्थ ही हैं, बहिःस्थ नहीं। स्वप्न, भ्रम और मदादि की अवस्था में यह सभी अनुभव करते हैं। एक बात और है कि भ्रमस्थल में ज्ञानाकार का ही विषय में आरोप होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार सन्निकृष्ट (बुद्धिस्थ) ज्ञानाकार को छोड़कर असन्निकृष्ट (बहिःस्थ या दूरस्थ) रजतादि के आरोप करने में कोई प्रमाण नहीं है।

अब यहाँ विचार करना है कि जिस प्रकार स्वप्न आदि की अवस्था में असद् विषय ही बुद्धिस्थ रहता है, उसी प्रकार जागरण अवस्था में भी असत् पदार्थ को ही चित्तस्थ मानना आवश्यक होता है। जिस समय बाह्य चक्षु आदि इन्द्रियों की वृत्ति का अभाव रहता है, उस समय केवल मनोमात्र से ही आत्मा के भोक्तृत्व का नाम स्वप्न है। अन्तःकरण से युक्त चैतन्य जब अनादि अविद्या से अभिभूत होता है, तब आत्मस्वरूप के तिरोहित होने से बाह्यरूप में उसका भान होता है, इसी बात को आचार्यों ने कहा है—

अन्तःकरणधर्मस्य भागा बहिरवस्थिताः।

इसका तात्पर्य है अन्तःकरण (चित्त) के भाग (आन्तर पदार्थ) बाह्यरूप से भासित होते हैं। भ्रमस्थल में वृत्ति में बाह्य विषय का प्रतिबिम्ब नहीं होता, किन्तु ज्ञानाकार ही भासित होता है। यहाँ ज्ञान शब्द से चित्तवृत्ति का ही ग्रहण होता है, उसका आकार रजत-रूप में परिणत होना ही है। वह सत्य-स्थल के समान ही भ्रमस्थल में होता है। अब यहाँ यह विचार करना है, अविद्यमान (असत्) रजत तो वृत्ति का विषय कभी हो नहीं सकता, इसलिए उसे प्रतिभासित मानना ही युक्त प्रतीत होता है। शुक्ति और रजत का तादात्म्य भी प्रातिभासिक ही है। इस स्थिति में वहाँ हट्टस्थ (बाजार में रहनेवाला) बाह्य रजत का जो अध्यास मानते हैं, वह भी युक्त नहीं होता है। कारण यह है कि बाह्य हट्टस्थ रजत के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) ही नहीं होता।

कुछ आचार्यों के मत से शुक्ति-रजत-स्थल में रजत की उत्पत्ति होती है परन्तु यह युक्त नहीं है। कारण यह है कि रजतोत्पत्ति के प्रति रजत के अवयव जो कारण होते हैं, उनका अत्यन्त अभाव है। इसलिए वहाँ यही मानना युक्त है कि रोग से दूषित लोचनवालों की चित्तवृत्ति ही पुरोवर्त्ती द्रव्य के संयोग से रजत के आकार में उदित होती है। इस स्थिति में भ्रमस्थल में काचादि दोष से युक्त अविद्या ही रजतादि रूप से परिणत होती है। यही मत वेदान्तियों

तथा वैयाकरणों का है। इन विषयों का पूर्ण विवेचन इस ग्रन्थ के लेखक की पुस्तक 'षड्दर्शन-'रहस्य' की 'भारतीय दर्शन और तत्त्वज्ञान' शीर्षक भूमिका में किया गया है।

भ्रम-स्थल में प्रातिभासिक भान का निरूपण

अब प्रसङ्गवश यह भी बता देना आवश्यक है कि शुक्ति आदि में रजत आदि का जो भान होता है, वह प्रातिभासिक ही है, व्यावहारिक या पारमार्थिक नहीं। कारण यह है कि उत्तर काल में बाध होने से उसे पारमार्थिक नहीं कहते और उस रजत से कुछ व्यवहार भी लोक में नहीं देखा जाता, इसलिए व्यावहारिक भी उसे नहीं कह सकते। इसलिए, परिशेषात् उसे प्रातिभासिक ही मानना पड़ेगा।

असत् पदार्थ का भी भान हमारे पूर्वाचार्यों ने माना है। वैयाकरणों के परमपूज्य महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने सूत्र 'स्त्रियाम्' (पा० सू० ४।१।३) के भाष्य में स्त्रीत्व, पुंस्त्व और नपुंसकत्व की परिभाषा में कहा है—

> स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।
> उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम्॥

अर्थात्, जिसके स्तन और केश (भग) हो, उसको स्त्री कहते हैं और, जिसके लोम (लिङ्ग) हो, उसको पुरुष और जिसमें दोनों का अभाव हो, उन दोनों के अन्तर को नपुंसक कहते हैं। यहाँ केश और लोम का अर्थ कैयट ने क्रमशः भग और लिङ्ग किया है। जहाँ केश-लोम आदि स्त्रीत्व-परिचायक का अभाव है, वैसे अचेतन खट्वा, वृक्षः आदि में स्त्रीत्वबोधक टाप् आदि प्रत्यय कैसे लगेंगे, इसका उत्तर भाष्यकार ने दिया है, 'असत्तु मृगतृष्णावत् गन्धर्वनगरं यथा, 'असत्तु खट्वावृक्षयोर्लिङ्गं द्रष्टव्यम्' इत्यादि। तात्पर्य यह है कि खट्वा, वृक्षः आदि अचेतन पदार्थों में असत् (अविद्यमान) ही लिङ्ग भासित होता है। इसके दर्शन के लिए कहते हैं 'मृगतृष्णावत्'। जिस प्रकार मृग पिपासित होकर सूर्य की मरीचियों में ही जल का अनुभव करता है और उसकी ओर जाता है। परन्तु, उसे वहाँ जल नहीं मिलता; क्योंकि वह असत् ही है, जिसका उसे भान होता है। इसी प्रकार खट्वा, वृक्षः आदि में भी अविद्यमान लिङ्ग का ही भान मानकर स्त्रीत्वबोधक टाप् आदि प्रत्यय लगते हैं। और, जिस प्रकार गन्धर्वनगर दूर से ही देखे जाते हैं, समीप जाने पर नहीं प्राप्त होते, उसी प्रकार अचेतन खट्वा आदि में भी असत् लिङ्ग की ही प्रतीति होती है। जहाँ गगनमण्डल पृथ्वी से

सटा हुआ-सा दीख पड़ता है, उसी को गन्धर्वनगर कहते हैं। उपर्युक्त कथन पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भ्रम-स्थल में शुक्ति आदि अधिष्ठान-देश में बाह्य असत् वस्तु का ही भान होना सिद्ध होता है। इसी के आधार पर भर्तृहरि ने कहा है—

> यथा सलिलनिर्भासो मृगतृष्णासु जायते।
> जलोपलब्ध्यनुगुणाद् बीजाद् बुद्धिर्जलेऽसति॥

मृगतृष्णा में जल का निर्भास असत् जल में ही पूर्व-पूर्व मिथ्याज्ञान जन्य वासनारूप बीज (कारण) से ही उत्पन्न होता है।

भाष्यकार द्वारा ही खण्डन-मण्डन

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि पूर्वोक्त भाष्य के बाद असत् लिङ्ग के भान का प्रतिषेध भाष्यकार ने स्वयं किया है—'आदित्यगतिवत् सन्न', अर्थात् जिस प्रकार आदित्य का गमन सत् है, परन्तु किसी को उसका अनुभव नहीं होता, केवल देशान्तर के सम्बन्ध से उसका अनुमान किया जाता है। उसी प्रकार अचेतन खट्वा आदि में भी लिङ्ग का भान नहीं होता है। इस भाष्य से भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि खट्वा, वृक्ष आदि अचेतन पदार्थों में भी बुद्धि-परिकल्पित (बौद्ध) लिङ्ग अवश्य है। इसीलिए असद्भान का निषेध भाष्यकार ने किया है। इस सन्दर्भ से यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार बौद्ध शब्दवाचक होता है, उसी प्रकार बौद्ध ही अर्थ भी वाच्य होता है। बौद्ध शब्दार्थ का स्वीकार प्रायः सभी शिष्ट आचार्यों ने किया है।

वैखरी वाक् वायु का ही परिणाम है

पूर्व में भी संक्षेप में कहा गया है कि शब्द वायु का परिणाम है। यह एक आचार्य का मत है। कुछ आचार्यों के मत से शब्द अणु का परिणाम है और कुछ के मत में शब्द ज्ञान का परिणाम है। कात्यायन के विचार से वायु की उत्पत्ति आकाश से होती है। शुक्लयजुर्वेद के प्रातिशाख्य में उन्होंने कहा है, 'वायुः खात्' (शु० य० प्रा०, १६), अर्थात् वायु ख (आकाश) से उत्पन्न होता है। कात्यायान ने शब्द को वाय्वात्मक माना है और वायु को शब्द का उपादान कारण।

शब्द के वाय्वात्मक होने और वायु के सर्वगत और व्यापक होने से सर्वत्र सदा शब्द की उपलब्धि नहीं होती। इसके लिए कात्यायन ने लिखा है—'सम्यके

करणैः उपहितो हृदि वायुः वेणुशङ्खादिभिः शब्दीभवति', अर्थात् सम्यक् करणों से उपहित होकर हृदय-प्रदेश में वही वायु वेणु, शंख आदि के संयोग से शब्द हो जाता है। यहाँ 'वायुः शब्दीभवति' कहने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्द वायु का ही परिणाम है। यही वायु संघात आदि को पाकर वाक् हो जाता है—'स संघातादीन् वाक्' (य० वे० प्रा०, १।६)। यहाँ संघात शब्द से पुरुष-प्रयत्न और आदि शब्द से कण्ठ, तालु आदि स्थानों का ग्रहण समझना चाहिए। यहाँ शब्द से ध्वन्यात्मक और वाक् से वर्णात्मक शब्द का ग्रहण होता है। सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि जो पूर्वोक्त करणोपहित वायु, वेणु, शंख आदि के संयोग से अव्यक्त ध्वन्यात्मक शब्द के रूप में परिणत होता है, वही वायु पुरुष के आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्नों की सहायता से कण्ठ, तालु आदि स्थानों में पहुँचकर व्यक्त वर्णात्मक वाक् के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार शब्द वायु का ही परिणाम सिद्ध होता है।

योगसूत्रों का समर्थन

योगसूत्र के भाष्य में भगवान् व्यासदेव ने भी कहा है—'वागिन्द्रियं वर्णेष्वेवार्थवत्, श्रोत्रेन्द्रियञ्च ध्वनिपरिणाममात्रविषयम् इति।' इसका तात्पर्य यह है कि वाक्-इन्द्रिय वर्णों के उच्चारण में ही अर्थवत्, अर्थात् सार्थक होती है, और श्रोत्र का विषय ध्वनि का परिणाम-मात्र ही होता है। ध्वनि शब्द का अर्थ टीकाकारों ने इस प्रकार किया है—'ध्वनिर्नाम वागिन्द्रियादौ उदानवायोरभिघाताज्जायमान उदानवायोः आकाशस्य परमाणूनां वा परिणामभेदः स च वर्णरूपोऽपि अवाचकत्वाद् ध्वनिरित्युच्यते।' तात्पर्य यह है कि वागिन्द्रिय आदि में उदान वायु के अभिघात से जायमान उदान वायु या आकाश अथवा परमाणुओं के परिणामभेद को ध्वनि कहते हैं। वह वर्णरूप होने पर भी अवाचक होने से ध्वनि कहा जाता है। यहाँ ध्वनिरूप वैखरी शब्दों का उदान वायु का परिणाम होना स्पष्ट ही बताया गया है। वर्णरूप होने पर भी अवाचक इसीलिए होता है कि वास्तविक वाचक तो ध्वनि से अभिव्यक्त स्फोट ही होता है, ध्वनि तो केवल स्फोट का अभिव्यञ्जक मात्र है।

जैन सम्प्रदाय का मत

जैनों (आर्हतों) का कहना है कि परमाणुओं का परिणाम ही शब्द है। इसमें वे कारण यह बताते हैं कि वाचक रूप से रहनेवाला शब्द दो प्रकार का होता है—एक सामान्य रूप, दूसरा विशेष रूप। समस्त शब्द-व्यक्तियों में अनुयायी (अनुस्यूत) शब्दत्व ही उसका सामान्य रूप है। उसी शब्दत्व को जाति भी कहते हैं;

और वह एक है। शंख, शाङ्ग आदि वाद्यों का तीव्र, मन्द आदि शब्द हैं, और उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के विशेष भेद होने से जो अनेक प्रकार का भासित होता है, वही उसका विशेष रूप है। इस प्रकार, शब्द का सामान्य और विशेषरूप होना तभी सम्भव है, जब शब्दों को पौद्‌गलिक, अर्थात् परमाणु का परिणाम मानें, अन्यथा वह कभी सामान्य-विशेष रूप नहीं हो सकता। जैनों की यही मान्यता है कि प्रकारभेद उसी वस्तु का हो सकता है जो पौद्‌गलिक (परमाणु का परिणाम) हो। जैनदर्शन में परमाणु को पुद्‌गल ही कहा जाता है। जैनों ने अनेक तर्कों के बल पर शब्द को पौद्‌गलिक माना है।

नैयायिकों के मत का जैनों द्वारा खण्डन

नैयायिकों ने शब्द को आकाश का गुण माना है—'शब्दगुणकमाकाशम्' (तर्कसंग्रह)। इस मत का खण्डन करते हुए जैनों का कहना है कि शब्द आकाश का गुण नहीं हो सकता। कारण यह है कि जो वस्तु हमारे प्रत्यक्ष का विषय है, वह आकाश का गुण नहीं हो सकता। जैसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये रूपादि गुण हमलोगों के प्रत्यक्ष के विषय हैं, परन्तु आकाश के गुण नहीं हो सकते। उनका कहना है कि शब्द आकाश का गुण न होकर भाषावर्गणा का ही गुण है और यह भाषावर्गणा स्पर्शवान् पदार्थ है। इसी प्रकार शब्द परमाणु का परिणाम है, यह सिद्ध है।

वैयाकरण-मत

वैयाकरण कहते हैं कि ज्ञान का परिणाम ही शब्द है। इस मत की पुष्टि में वे 'आख्यातोपयोगे' इस सूत्र के भाष्य का हवाला देते हैं। 'आख्यातोपयोगे' सूत्र के खण्डन के लिए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है—'अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथमुपाध्यायादधीते इति? अपक्रामति तस्मात्तदध्ययनम्। यद्यप-क्रामति किन्नात्यन्तायापक्रामति? सन्ततत्वात्। अथवा ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति' इति।

तात्पर्य यह कि 'आख्यातोपयोगे सूत्र की आवश्यकता 'उपाध्यायादधीते' उपाध्याय से पढ़ता है, यहाँ उपाध्याय से अध्ययन के विभक्त होने के कारण उपाध्याय में अपादान संज्ञा के लिए है। वह विभक्त होनेवाला अध्ययन सदा के लिए विभक्त नहीं होता, बल्कि उसकी धारा पुनः-पुनः चलती रहती है। जैसे, वृक्ष से फल के विभक्त होने पर पुनः वह फल वृक्ष में नहीं देखा जाता,। परन्तु शब्द में ऐसा नहीं देखा जाता। यहाँ तो पुनः-पुनः वहीं शब्द उपाध्याय के

मुख से उच्चरित होता हुआ देखा जाता है। भाष्यकार ने कहा है—'सन्तत्वात्' अथवा 'ज्योतिर्वज् ज्ञानानि भवन्ति' इति।

तात्पर्य यह है कि शब्द के अभिव्यञ्जक जो ध्वनि हैं, वे उपाध्याय द्वारा पुनः-पुनः उत्पाद्यमान और परस्पर भिन्न होते हुए भी सादृश्य से वे ही हैं, इस प्रकार प्रतीत होते हैं। वे ही ध्वन्यमान श्रोताओं के श्रोत्रदेश में पुनः पुनः प्रविष्ट होते हुए व्यक्तिस्फोट-रूप या जातिस्फोट-रूप शब्दों को अभिव्यक्त करते हैं, जिससे अर्थ स्फुटित होता है। अथवा ज्वालारूप ज्योति बिना छिन्न-भिन्न हुए उत्पन्न होती है, और सादृश्य से वही है, इस प्रकार प्रतीत होती है। इसी प्रकार, उपाध्याय के विभिन्न ज्ञान ही विभिन्न प्रकार के शब्दों के रूप में प्रकट होते हैं। यही मत कैयट का भी है।

इन्हीं सब पूर्वाचार्यों के मतों का संकलन कर वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने लिखा है—

> वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दस्यापत्तिरिष्यते।
> कैश्चिद्दर्शनभेदोऽत्र प्रवादेष्वनवस्थितिः॥

इसका तात्पर्य यह है कि कोई आचार्य वायु का, कोई शब्दतन्मात्र परमाणु का और कोई ज्ञान का ही परिणाम शब्द को मानते हैं। इस विषय में शास्त्रकारों का सिद्धान्त व्यवस्थित नहीं है।

विवर्त्तवादी वेदान्तियों के मत में विशुद्ध अन्तःकरण ही मन और वायु आदि के द्वारा शब्द-रूप से भासित होता है। आचार्यों ने लिखा है—

> अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मो वागात्मनि स्थितः।
> व्यक्तये स्वस्वरूपस्य शब्दत्वेन विवर्त्तते॥

अर्थात्, वागात्मा में स्थित सूक्ष्म आन्तरज्ञाता ही अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए शब्दरूप से भासित होता है। शब्दतन्मात्रादि परमाणुओं के शब्दरूप होने में भर्तृहरि की भी सम्मति है—

> स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः।
> अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः॥
>
> (वा० प०, १)

तात्पर्य है कि अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति की अवस्था में शब्दतन्मात्र नाम के परमाणु ही प्रयत्न से प्रेरित होकर मेघ के समान शब्द के रूप में बढ़ते रहते हैं। इसी प्रकार वायु के शब्दरूप से परिणत होने की भी मान्यता भर्तृहरि ने दी है—

लब्धक्रियः प्रयत्नेन वक्तुरिच्छानुवर्त्तिना।
स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते॥
(वा० प०, १।१०६)

तात्पर्य है कि वक्ता के इच्छानुवर्त्ती प्रयत्नों से क्रिया को प्राप्त कर जब वायु का कण्ठ आदि स्थानों में अभिघात होता है, तब वही वायु शब्दभाव को प्राप्त करता है, अर्थात् शब्द के रूप में परिणत होता है। वक्ता के इच्छानुसार ही वायु का शब्दों के रूप में परिणाम होता रहता है।

परमाणु भी शब्दरूप में परिणत होता है, इसे भर्तृहरि ने माना है—

अणवः सर्वशक्तित्वाद् भेदसंसर्गवृत्तयः।
छायातपतमःशब्दभावेन परिणामिनः॥

तात्पर्य है कि भेद और संसर्गरूप व्यापारवाले परमाणु ही सर्वशक्तिमान् होने के कारण छाया, आतप, तम और शब्दरूप में परिणत होते रहते हैं। जिस प्रकार एकरूप पार्थिव परमाणुओं से विलक्षण सम्बन्ध और विलक्षण तेज (पाक) के वश से विभिन्न पार्थिव वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार उन परमाणुओं के विलक्षण सम्बन्ध और विलक्षण पाक के वश से विभिन्न छाया, आतप, तम और शब्दरूप में परिणत होना सिद्ध होता है।

पाणिनीय शिक्षा का सिद्धान्त

'वायोरणूनां ज्ञानस्य' इत्यादि वाक्यपदीय और 'आख्यातोपयोगे' सूत्र के भाष्य से, वैयाकरणों के मत में शब्द को ज्ञान का परिणाम होना बताया गया है। यह शिक्षा के वचनों के विरुद्ध है। शिक्षा कहती है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतम्।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥

इन कारिकाओं का तात्पर्य है—आत्मा = अन्तःकरण संस्कार-रूप से स्वगत अर्थों को एक बुद्धि के विषय बनाकर कहने की इच्छा से मन के साथ योग करता है। अर्थ-बोधन की इच्छा से युक्त मन कायाग्नि को आहत करता है। वह कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है और वही प्रेरित वायु ऊपर की ओर जाती है। ऊपर जाकर शिर के कपाल से आहत होकर नीचे की ओर आकर कण्ठ, तालु आदि स्थानों के स्पर्श से भिन्न-भिन्न वर्णों को अभिव्यक्त करती है।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि ऊपर की कारिकाओं के किसी शब्द से भी शब्द को ज्ञान का परिणाम होना सूचित नहीं होता, प्रत्युत वायु का ही तत्-तत् स्थानों में आघात होकर तत्-तत् शब्दों के रूप में परिणाम होता है। इसी स्थिति में शिक्षावचन और भाष्यवचनों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है।

इस विरोध का परिहार 'वायोरणूनां ज्ञानस्य' में 'ज्ञानस्य' प्रतीक को लेकर नागेशभट्ट ने मञ्जूषा में इस प्रकार किया है—'ज्ञानस्य = वक्तृज्ञानस्य पराशक्ति-साहित्येन च तत्परिणामः।' अर्थात्, पराशक्ति के साहित्य (सहयोग) से उस ज्ञान का शब्दरूप में परिणाम होता है। इससे यही अभिप्राय सूचित होता है कि ज्ञान के शब्दरूप में परिणत होने में पराशक्ति का साहित्य, अर्थात् सहयोग अनिवार्य है।

अथवा शिक्षा में उक्त मारुत मूलाधार से उद्गत होकर नाभि से ऊपर जाकर और मूर्धा से अभिहत हो जब तत् तत् स्थानों का स्पर्श करता है, तभी परा, पश्यन्ती आदि रूपों में अन्तःस्थित शब्दों को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार, शिक्षा का अर्थ करने से कुछ विरोध नहीं होता।

वास्तव में, वैयाकरण तो पराशक्ति को ही सकल वाङ्मय जगत् का उपादानकारण मानते हैं। यह पहले बताया जा चुका है। पराशक्ति ही तो चित्कला है। वही चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्मरूप स्फोट-तत्त्व है। वही सकल प्रपञ्च का विवर्त्तोपादान भी है। इसी स्फोट-तत्त्व को 'अनादिनिधनं ब्रह्म' इत्यादि कारिकाओं से वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने सूचित किया है। इस स्थिति में ज्ञान का शब्द-रूप में भासित या परिपूर्ण होना युक्त ही है। इसमें कोई विरोध या आपत्ति नहीं है। इसका विवेचन इस ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध के उपक्रम में कर दिया गया है।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में वायु, परमाणु आदि का शब्द-रूप में परिणत होना जो बताया है, वह उनका अपना सिद्धान्त नहीं है। वह दूसरों के मत का दिग्दर्शन-मात्र है। उनका सिद्धान्त है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

इसका विवरण पहले दिया जा चुका है।

वर्णों में पौर्वापर्य-व्यवहार का बुद्धिस्थत्व

वर्णों में यह पूर्व है, यह पर है, इस प्रकार जो पौर्वापर्य का व्यवहार होता है, वह भी बुद्धिस्थ ही है। 'परः सन्निकर्षः संहिता', इस सूत्र के भाष्य में उच्चरितप्रध्वंसी वर्णों में सन्निकर्ष या पौर्वापर्य का व्यवहार नहीं हो सकता; क्योंकि द्वितीयादि वर्णों के उच्चारण-काल में पूर्व-पूर्व वर्ण प्रध्वस्त (नष्ट) रहेंगे। जो वर्ण सह-अवस्थित हैं, उन्हीं वर्णों में पूर्वापर का व्यवहार युक्त हो सकता है। अन्तिम वर्ण के उच्चारण-काल में पूर्व-वर्णों के स्थित न रहने से सह-अवस्थान के अभाव में पूर्वापर या सन्निकर्ष का व्यवहार किस प्रकार हो सकता है? इस शङ्का में पतञ्जलि ने कहा है—

बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्त्ता धीरस्तत्त्वन्नीतिः।
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्॥

तात्पर्य यह है कि पूर्व और पर वर्णों के अत्यन्त सन्निकर्ष रहने पर ही संहिता-संज्ञा का विधान 'परः सन्निकर्षः संहिता' सूत्र से पाणिनि ने किया है। इसपर भाष्यकार ने शङ्का उपस्थित की है—'पूर्वापराभावात् संहितासंज्ञा न प्राप्नोति। नहि वर्णानां पौर्वापर्यमस्ति', अर्थात् पूर्वापर के अभाव होने से संहिता-संज्ञा की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि वर्णों का पौर्वापर्य नहीं है। इस शङ्का का समाधान भी भाष्यकार ने किया है यह कहकर कि **एकवर्त्तित्वाद्वाचः, उच्चरितप्रध्वंसित्वाच्च वर्णानाम्**, अर्थात् वाक्-इन्द्रिय एकवर्णवृत्ति है और वर्ण उच्चरितप्रध्वंसी होता है। तात्पर्य यह है कि एक-एक वर्ण में रहनेवाली वागिन्द्रिय एक काल में दो या तीन वर्णों का इसलिए उच्चारण नहीं कर सकती कि वह एकवर्णवृत्ति है, अर्थात् एक ही वर्ण में रहती है। 'गौः' में जिस समय वागिन्द्रिय गकार का उच्चारण करेगी, उसी समय औकार या विसर्ग का नहीं। और विसर्ग के उच्चारण-काल में गकार या औकार का उच्चारण नहीं कर सकती। कारण यह है कि वर्ण उच्चरितप्रध्वंसी होते हैं, वे उत्तर वर्ण के उच्चारण-काल में स्वयं नष्ट रहेंगे, गकार और औकार विसर्ग के उच्चारण-काल में स्वयं नष्ट ही रहेंगे, तब उनका उच्चारण किस प्रकार हो सकता है।

इस स्थिति में पौर्वापर्य के सन्निकर्ष न होने से संहिता संज्ञा की प्राप्ति नहीं होती। इसीलिए, भाष्यकार ने कहा है 'बुद्धौ कृत्वा' इत्यादि।

पूर्वोक्त कारिका में आये हुए 'तत्त्वन्नीति' पद का व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने कहा है—बुद्धिविषयमेव शब्दानां पौर्वापर्यम्। य एव मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति अस्मिन्नर्थेऽयं शब्दः प्रयोक्तव्यः अस्मिँश्च शब्देऽयं तावद्वर्णः ततोऽयं ततोऽयमिति (म० भा० १।४।१०६)। इसका तात्पर्य यह है, शब्दों में यह पूर्व है, यह पर है, इस प्रकार का पौर्वापर्य-व्यवहार बुद्धिस्थ शब्दविषयक ही है। प्रेक्षापूर्वकारी मनुष्य यह देखता है कि इस अर्थ में प्रयोग करना चाहिए और इस शब्द में पहले यह वर्ण है, उसके बाद यह। प्रेक्षा शब्द का अर्थ है सदसद्विवेकशालिनी बुद्धि। बुद्धिस्थ शब्दों में ही पौर्वापर्य-व्यवहार मानकर शब्दों का प्रयोग होता है। शास्त्र की प्रवृत्ति भी वक्ता के उद्देश्य से ही मानी गई है और धर्म का फल भी वक्ता को ही सुना जाता है। 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति—एक ही शब्द को यदि अच्छी तरह समझकर शुद्ध उसका प्रयोग किया जाय, तो वह स्वर्ग और इस लोक में भी यथेष्ट काम देनेवाला होता है।

इसमें सुप्रयोक्ता के लिए ही धर्मफल का प्रतिपादन किया गया है। इसी कारण वक्ता के ही बुद्धिस्थ होने का उपपादन किया गया है:—'य एवं प्रेक्षापूर्वकारी' इत्यादि। अस्मिन्नर्थेऽयं शब्दः प्रयोक्तव्यः—इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करना चाहिए, यह कहने से स्पष्ट सूचित होता है कि शब्दों के समान ही अर्थ को भी बुद्धि के देश में देखना, अर्थात् बुद्धिस्थ मानना अत्यावश्यक हो जाता है।

ज्ञानगत पौर्वापर्य

किसी-किसी का विचार है कि एक वर्ण-विषयक ज्ञान के बाद अपर वर्ण-विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। उसी वर्ण-विषयक ज्ञान को वर्णों में आरोप कर यह पूर्व है, यह पर है, इस प्रकार का व्यवहार उत्पन्न होता है। परन्तु, यह मत भी युक्त नहीं प्रतीत होता है। कारण यह है, वर्णों के समान ही वर्णगत बुद्धि भी अनित्य है।

शब्दों को बुद्धि मानने पर उनमें प्रकृति-विकृतिभाव की उपपत्ति इस प्रकार होती है—जिस प्रकार सत्कार्यवाद-सिद्धान्त में कार्य-कारण में अभेद होने से

बुद्धिस्थ होने के कारण प्रकृतित्व और बाह्य रूप से विकृतित्व माना जाता है, उसी प्रकार बुद्धि परिकल्पित ही पौर्वापर्य माना जायगा। तात्पर्य यह है कि प्रकृति-विकृतिभाव भी वस्तुतः तात्त्विक नहीं है, अपितु वहाँ बुद्धि का ही परिणाम माना जाता है। जैसे—इकार-बुद्धि के प्रसंग में यकार बुद्धि-करनी चाहिए, यह 'इको यणचि' सूत्र का तात्पर्य माना जाता है। शब्दों में प्रकृति-विकृतिभाव में या पौर्वापर्य में बुद्धि का परिणाम होता है। 'स्थानिवत्' सूत्र के भाष्य से यह स्पष्ट हो जाता है। शब्दों को नित्य मानने से स्थान्यादेशभाव अनुपपन्न हो जाता है; क्योंकि एक शब्द को नष्ट कर ही उसके स्थान में दूसरे शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस स्थिति में शब्द अनित्य हो जाता है। इसपर भाष्यकार ने कहा है—'कार्यविपरिणामाद्वासिद्धम्', अर्थात् कार्य-बुद्धि के विपरिणाम से ही सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि स्थान्यादेश-भाव में शब्दों का नाश नहीं होता, केवल वहाँ बुद्धि का ही विपरिणाम हो जाता है। जैसे इकार-बुद्धि के प्रसंग में यकार बुद्धि (इको यणचि)। सर्वत्र स्थान्यादेश-भाव में इसी प्रकार बुद्धि का ही विपरिणाम होता है, शब्दों में हेर-फेर नहीं।

ऊपर पूरे सन्दर्भ से निष्कर्ष यही निकलता है कि शब्दों का परिणाम न होकर बुद्धि का ही परिणाम होने से शब्द में अनित्यत्व दोष नहीं आता। भाष्यकार के विवेचन से यही सिद्ध होता है कि शब्द तो नित्य है, उसमें धातु, प्रत्यय, आगम और आदेश आदि की जो कल्पना की गई है, वह केवल बुद्धि का ही खेल है। इसी अभिप्राय से व्याकरण का लक्षण करते हुए आचार्यों ने लिखा है 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' अर्थात् 'शब्दे सिद्धे अर्थे सिद्धे तयोश्च वाच्यवाचकभावसम्बन्धे सिद्धे सिद्धानामन्वाख्यानं व्याकरणम्। तात्पर्य यही है कि शब्द सिद्ध (नित्य) है, अर्थ भी नित्य है और उन (शब्द और अर्थ) का वाच्यवाचकभाव रूप सम्बन्ध भी सिद्ध अर्थात् नित्य है, केवल सिद्ध (नित्य) शब्द का अन्वाख्यान ही व्याकरण है। अन्वाख्यान शब्द का अर्थ है बुद्धि से प्रकृति-प्रत्यय आदि की कल्पना करना।

इस प्रकार, उपर्युक्त प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि शब्दों में पौर्वापर्य का व्यवहार बुद्धि-परिकल्पित ही है, वास्तविक नहीं। स्फोटात्मक शब्द तो एक, अखण्ड, नित्य, परिपूर्ण, एकरस और ब्रह्म-स्वरूप ही है। केवल व्यञ्जक उपाधि के भेद से भिन्न-सा प्रतीत होता है।

आकाश-देश ही शब्द है, वह नित्य, एक तथा व्यापक है

ध्वनि से अभिव्यङ्ग्य स्फोटात्मक, व्यापक और वाचक शब्द हृदयदेश-स्थित आकाश में रहता है, और सर्वसमष्टि-स्वरूप जो विराट् ब्रह्म है और उसका हृदयरूपी जो बाह्याकाश है, उसमें भी रहता है। अनेक प्रकार के वृक्ष-समूहों में यह वन है, इस प्रकार की एकता-बुद्धि को समष्टि कहते हैं। माया से लेकर सकल भुवन-पर्यन्त विराट् ब्रह्म का शरीर है। स्थूल देह की समष्टि का नाम विराट् है। उस विराट् ब्रह्म के हृदय-देश का ही नाम बाह्याकाश है। इस बाह्याकाश और हृदयाकाश दोनों में स्फोट-स्वरूप शब्द-ब्रह्म का निवास है। शब्द-ब्रह्म के व्यापक होने के कारण दोनों देशों में रहना विरुद्ध नहीं होता।

उन दोनों देशों (हृदयाकाश और बाह्याकाश) में रहनेवाला स्फोटात्मक शब्दब्रह्म एक ही माना जाता है और वह व्यापक है। जिस प्रकार एक श्वेत द्रव्य में रूप व्यापक होता है, उसी प्रकार स्फोटात्मक शब्द भी दोनों आकाशों के समस्त अवयवों में समवेत, अर्थात् समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध रहता है।

रूप के व्यापक होने पर भी सर्वत्र उसकी उपलब्धि न होने का कारण जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के साथ रूप के संयोग का अभाव है, उसी प्रकार शब्द के व्यापक होने पर भी कर्णशष्कुलीयुक्त आकाश के साथ शब्द के संयोग का अभाव है। इसी से सर्वत्र उसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

शब्द के व्यापकत्व में भाष्य-प्रमाण

'स्वरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (पा० सू० १।२।६४) इस सूत्र के भाष्य में 'इतीन्द्रवद्विषयः' इस वार्तिक के व्याख्यान में भाष्यकार ने कहा है—"एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपात् सर्वत्र भवति; एक ही इन्द्र शब्द अनेक सौ यज्ञों में प्रादुर्भूत होकर एक ही काल में सर्वत्र उपस्थित होता है। मीमांसकों के मत में चतुर्थ्यन्त पद को ही देवता माना गया है। वैयाकरणों ने भी शब्द और अर्थ में तादात्म्य माना है, इसलिए उनके मत में भी शब्दों का देवता-रूप होना प्रायः सिद्ध ही है। देवताओं को शरीरी मानकर उनका कर्म में अधिकार भी मीमांसकों ने बताया है; क्योंकि शब्दों का अर्थपरक होना औत्सर्गिक ही माना गया है। इस स्थिति में अनुष्ठान-काल में प्रयोग-समवेत जो अर्थ है, उसका तात्पर्य स्मृति (स्मरण) में ही है, अज्ञात देवताओं के शरीर आदि में उसका तात्पर्य नहीं है। यही मन्त्राधिकरण का आशय मीमांसाशास्त्र में बताया गया है।

एक काल में अनेक यज्ञों में देवताओं का उपस्थित होना तभी सम्भव है, जब देवताओं को मन्त्रस्वरूप और शब्दों को व्यापक और नित्य माना जाय, अन्यथा नहीं। इसी अभिप्राय से प्रादुर्भूतः का अर्थ अभिव्यक्तः (प्रकट) होना माना गया है। वह नित्य और व्यापक शब्द ध्वनिगतकत्व आदि के आरोप से अभिव्यक्त होकर श्रोत्र-इन्द्रिय से ग्राह्य होता है। 'पदेन वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च' पद—में वर्ण नहीं होते और वर्णों में अवयव नहीं हैं, इस सिद्धान्त के अनुसार पदों में वर्ण नहीं रहने से बुद्धि-परिकल्पित पदत्व आदि रूप से ही बुद्धि-ग्राह्य होता है। शब्द के आकाश-देश या आकाश के गुण होने में भाष्य ही प्रमाण है।

'अइउण्' सूत्र के भाष्य में लिखा है कि 'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः' इति,—अर्थात्-श्रोत्र-इन्द्रिय से जिसकी उपलब्धि (ज्ञान) हो, बुद्धि से जिसका ग्रहण हो और प्रयोग से जो अभिज्वलित (प्रकाशित) हो, ऐसा आकाश-देश ही शब्द है। यहाँ 'श्रोत्रोपलब्धि' इस विशेषण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार का अभिप्राय शब्द को आकाश-देश या आकाश का गुण मानने में ही है। कारण यह है कि जिस इन्द्रिय की उत्पत्ति जिस भूत-विशेष से हुई है, वह इन्द्रिय उसी भूत-विशेष के विशेष गुण को ग्रहण करने में समर्थ होती है। जैसे, घ्राण-इन्द्रिय भूत-विशेष पृथिवी से उत्पन्न है, इसीलिए वह पार्थिव है, और पृथिवी के ही विशेष गुण गन्ध को ग्रहण करने में समर्थ है। रसना-इन्द्रिय जलीय, अर्थात् जल से उत्पन्न है, इसलिए वह जल के विशेष गुण रस का ही ग्रहण करने में समर्थ होती है। चक्षु-इन्द्रिय तैजस (तेज से उत्पन्न) है, इसलिए तेज के विशेष गुण रूप को ही ग्रहण करने में वह समर्थ होती है। इसी प्रकार श्रोत्र-इन्द्रिय भी आकाशीय (आकाश से उत्पन्न) है, इसी कारण आकाश के एक देश गुणरूप शब्द को ग्रहण करने में समर्थ होती है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शब्द आकाश का गुण या आकाश देश ही है। अन्यथा उसका ग्रहण श्रोत्र इन्द्रिय से नहीं हो सकता।

आकाश-देश और श्रोत्र-इन्द्रिय का परस्पर क्या सम्बन्ध है, इसका स्पष्टीकरण नीचे की पंक्तियों में किया जाता है।

चक्षु, रसना, घ्राण आदि इन्द्रियों को नियमित रूप, रस, गन्ध आदि विषयों के ग्रहण करने के कारण ही भौतिक माना गया है। कारण यह है कि जो इन्द्रिय जिससे उत्पन्न है, वह उसी के विशेष गुण को ग्रहण करती है, यह अनुभवसिद्ध है। इस स्थिति में श्रोत्र भी केवल शब्द को ही ग्रहण करता है, और वह शब्द आकाश का ही गुण है, दिक् का नहीं। कारण यह है कि पञ्चभूतों के ही शब्द-

स्पर्शादि ये पाँच विशेष गुण होते हैं। इसलिए, श्रोत्र को भौतिक मानना भी आवश्यक हो जाता है। और इसीलिए देश में आकाश का अन्तर्भाव नहीं होता, बल्कि आकाश में ही देश का अन्तर्भाव हो जाता है। यही युक्त भी प्रतीत होता है। कारण यह है कि शब्द को भूत का गुण मानना आवश्यक है और दिक् भूत नहीं है।

भाष्य-वाक्यगत विशेषणों की विशेषता

पूर्वोक्त भाष्य के वाक्यगत 'श्रोत्रोपलब्धि', 'बुद्धिनिर्ग्राह्य' और 'प्रयोगेणाभिज्वलितः' इन विशेषणों की उपयोगिता यही है कि आशुतर तिरोहित होनेवाले घटादि शब्दों में घकार, टकार आदि अनेक वर्णों से युक्त ही घट, कलश आदि शब्दों का प्रत्यक्ष होना सम्भव होता है। घट, कलश आदि शब्दों का स्वरूपतः, अर्थतः हर प्रकार से प्रत्यक्ष अन्त्यवर्ण-विषयक बुद्धि से ही होता है। वह अन्त्यवर्णविषयक बुद्धि पूर्व-पूर्व ध्वनियों से उत्पन्न स्फोट की अभिव्यक्ति से उत्पन्न संस्कार परम्परा का सहयोग पाकर स्वरूपतः, अर्थतः हर एक प्रकार से घट, कलश आदि शब्दों को ग्रहण करती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वोक्त संस्कार विशिष्ट अन्तःकरण से संयुक्त और पूर्वोक्त संस्कारयुक्त अन्त्यवर्ण से सम्बद्ध श्रोत्र से वर्णसमुदाय में प्रतिबिम्ब के समान अखण्ड स्फोट-रूप पद आदि का प्रत्यक्ष होता है। आकाश के व्यापक होने के कारण सर्वत्र शब्द की उपलब्धि नहीं होती; क्योंकि आकाश के व्यापक होने पर भी जहाँ ध्वनि या उच्चारण से अभिव्यक्त होकर श्रोत्र के साथ शब्द का सम्बन्ध होता है, वहीं शब्द का प्रत्यक्ष होता है, सर्वत्र नहीं। 'आकाशदेशः शब्दः' यहाँ शब्द में एकवचन का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि स्फोटात्मक शब्द एक, नित्य और अखण्ड है। जिस प्रकार एक फूल में एक प्रकार का गन्ध या रस मिलता है, उसी प्रकार एक आकाश में एक ही शब्द भी रहता है, अतएव भिन्न देश में उसकी उपलब्धि नहीं होती।

जिस प्रकार एक ही आकाश में उपाधि-भेद से घटाकाश, मठाकाश आदि अनेक प्रकार के भेद लोक में प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार एक शब्द में भी उपाधि-भेद से यह पूर्व है, यह पर है इत्यादि भेद-व्यवहार उत्पन्न हो जाता है।

शब्द अनित्य है : पूर्वपक्ष-समाधान

शब्द को अनित्य माननेवालों के मत में कदम्बगोलकन्याय या वीचितरङ्गन्याय से शब्दों की उत्पत्ति मानी जाती है। कदम्ब के समान दसों

दिशाओं में शब्द उत्पन्न होते हैं। उन शब्दों का श्रोत्र से सम्बन्ध होने पर ही उनका प्रत्यक्ष होता है, अन्यथा नहीं। जिस प्रकार वीचि (तरङ्ग) चारों ओर एक ही पहले उत्पन्न होती है, बाद में प्रथम वीचि दूसरी वीचि को तथा दूसरी वीचि तीसरी वीचि को उत्पन्न करती हुई तीर से टकराकर स्वयं विलीन हो जाती है, उसी प्रकार शब्द से शब्दान्तर की उत्पत्ति होती रहती है। परन्तु, इस प्रकार उनकी उत्पत्ति और विनाश मानने से शब्द की उत्पत्ति के पहले प्रागभाव और बाद में प्रध्वंसाभाव भी मानना पड़ेगा। इस अवस्था में अत्यन्त गौरव हो जाता है, इसलिए शब्द को एक और व्यापक मानना ही आवश्यक हो जाता है।

जिस प्रकार शब्द को अनित्य माननेवालों के मत में शब्द की उत्पत्ति नियत देश-पर्यन्त ही मानी जाती है, उसी प्रकार शब्द को नित्य और व्यापक मानने पर भी शब्द की अभिव्यक्ति नियत देश पर्यन्त ही मानी जाती है। शब्द को व्यापक मानने पर ही कर्णशष्कुली से युक्त आकाश-रूपी श्रोत्र-इन्द्रिय से उनका ग्रहण होना सम्भव होता है, अन्यथा शब्दों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। कारण यह है कि स्वसमवेत गुणों का ही इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है। जैसे—घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है, इसलिए पृथ्वी में समवेत (समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध) गन्ध का ही उससे प्रत्यक्ष होता है, रूप आदि का नहीं। इसी प्रकार शब्द भी श्रोत्र-इन्द्रिय से ही ग्राह्य है; क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय आकाशीय है। इसलिए, आकाश का ही समवेत गुण उससे गृहीत हो सकता है; इसलिए भी शब्दों को आकाश का गुण माना जाता है।

आकाश में द्रव्यत्व : शब्द में गुणत्व

आकाश को जब द्रव्य सिद्ध किया जायगा, तभी शब्द आकाश का गुण हो सकता है। नैयायिकों ने प्रबल तर्क और युक्ति के बल पर शब्द का गुण होना सिद्ध किया है और उस शब्द की स्थिति द्रव्य-आकाश में मानी है। आकाश को नवम द्रव्य माना गया है; क्योंकि पृथ्वी आदि आठ द्रव्यों का तो गुण शब्द नहीं हो सकता। शब्द का विशेष गुण होना जब सिद्ध है, तब उस शब्द का आश्रय भी अवश्य होना चाहिए; क्योंकि गुण का द्रव्याश्रित होना स्वभाव है। और यह भी बात है कि गुण द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से ही रहते हैं—'गुणगुणिनोः समवायः।' समवाय-सम्बन्ध नित्य होता है, अर्थात् वह द्रव्य से विलग नहीं रहता, न द्रव्य ही गुण से रहित रह सकता है। इस स्थिति

में शब्द यदि गुण है, तो उसका आश्रय भी अवश्य कोई द्रव्य होगा, यह अनुमान से सिद्ध होता है, और शब्द का जो भी आश्रय है, वही आकाश है। इस प्रकार, अनुमान के बल पर आकाश शब्द का आश्रय है, यह सिद्ध होता है। यहाँ अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होता है—'शब्दः द्रव्यसमवेतः, गुणत्वात्, रूपवत्।' अर्थात्, शब्द (पक्ष) द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध से, रहनेवाला है साध्य) गुण होने के कारण (हेतु, रूप के समान (दृष्टान्त)। इस प्रकार, अनुमान के द्वारा जब शब्द का गुण होना और द्रव्य के आश्रित होना सिद्ध हो जाता है, तब जिस द्रव्य में शब्द समवाय-सम्बन्ध से रहेगा, उसी का नाम आकाश होगा।

शङ्का और नैयायिक का उत्तर

शब्द का गुणत्व या द्रव्याश्रितत्व सिद्ध हो जाने पर भी पृथ्वी आदि आठ द्रव्यों में ही किसी द्रव्य-विशेष में शब्द का आश्रयत्व मान लें, तो क्या आपत्ति है? बल्कि इसमें नवम द्रव्य आकाश की कल्पना नहीं करनी पड़ती, यह लाघव भी है। इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि शब्द स्पर्शवान् पृथ्वी आदि चार द्रव्यों का गुण नहीं हो सकता। इसमें कारण यही है कि अग्नि-संयोग जिसका असमवायी कारण न हो और अकारणगुणपूर्वक जिसका प्रत्यक्ष होता हो, इस प्रकार का गुण स्पर्शवान् द्रव्य (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) का नहीं हो सकता। 'यथा सुखम्' यह दृष्टान्त है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सुख का असमवायी कारण अग्नि-संयोग नहीं है और वह अकारण गुणपूर्वक और प्रत्यक्ष का विषय भी है, अतएव वह पृथिवी आदि स्पर्शवान् द्रव्य का गुण नहीं होता है। इसी प्रकार शब्द का भी असमवायी कारण अग्नि-संयोग नहीं होता और वह अकारण गुणपूर्वक और प्रत्यक्ष का विषय भी है, इसी कारण वह (शब्द भं) पृथ्वी आदि स्पर्शवान् द्रव्यों का गुण नहीं हो सकता। विभिन्न तर्क और अनुमान से पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन स्पर्शवान् द्रव्यों का गुण शब्द नहीं होता। बाकी रहे—दिक्, काल और मन। इनका भी शब्द गुण नहीं होता है।

इसका अनुमान-प्रकार इस प्रकार है—शब्द (पक्ष) दिक्, काल और मन का गुण नहीं है (साध्य), विशेष गुण होने के कारण (हेतु), जो-जो विशेष गुण हैं, वे दिक् काल और मन के गुण नहीं होते (व्याप्ति), रूप के समान (दृष्टान्त)। तात्पर्य यह है कि जो विशेष गुण है, वह दिक्, काल और मन का गुण नहीं होता। इसी प्रकार, शब्द भी विशेष गुण है, इसी कारण यह शब्द भी दिक्, काल और मन का गुण नहीं हो सकता। अब शेष बचा आत्मा, इसका भी गुण शब्द नहीं हो सकता।

इसका अनुमान-प्रकार इस प्रकार है—शब्द (पक्ष) आत्मा का गुण नहीं है (साध्य), बहिरिन्द्रिय से ग्राह्य होने के कारण (हेतु), जो-जो-बहिरिन्द्रिय-ग्राह्य हैं, वे आत्मा के गुण नहीं हो सकते (व्याप्ति), रूप, रस आदि के समान (दृष्टान्त)। मनोभिन्न इन्द्रिय का नाम बहिरिन्द्रिय है। आत्मा के गुण सुख-दुःख आदि केवल मन से ही गृहीत होते हैं, बहिरिन्द्रिय चक्षु आदि से नहीं। शब्द बहिरिन्द्रिय श्रोत्र से गृहीत होता है, इसी कारण वह आत्मा का भी गुण नहीं हो सकता।

ऊपर के अनुमान-प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि शब्द पृथिवी, जल आदि आठ द्रव्यों का गुण नहीं हो सकता, और गुण होने के कारण किसी द्रव्य का ही आश्रित होगा। इसलिए, यह मानना पड़ेगा कि शब्द-रूप विशेष गुण के आश्रय होने से इसका आश्रयी (गुणी) आकाश नवम द्रव्य के रूप में मानना ही पड़ेगा।

आकाश-गुण शब्द नहीं

नैयायिकों की मान्यता के विपरीत मान्यता रखनेवालों का कहना है कि शब्द आकाश का गुण नहीं है। यह स्पर्शवान् द्रव्य वायु का ही गुण है। वायु के अवयवों में ही सूक्ष्म शब्द-क्रम से वायु में ही कारण-गुणपूर्वक शब्दों की उत्पत्ति होती है। इसलिए, स्पर्शवान् वायु का गुण शब्द है, यह सिद्ध हो जाता है।

नैयायिक द्वारा खण्डन

शब्द को यदि वायु का गुण माना जायगा, तो उसके अयावद् द्रव्य भावी (अपने आश्रय-मात्रवृत्ति) होने से अपने आश्रय के अतिरिक्त स्थल में उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु ये स्पर्शवान् द्रव्य हैं, इनके गुण गन्ध आदि हैं, ये आश्रय से अन्यत्र उपलब्ध नहीं होते। पृथिवी के गुण गन्ध की उपलब्धि जो जल और वायु में होती है, उसका कारण यह है कि उनमें सूक्ष्म पृथिवी परमाणु ही वर्त्तमान है, जिससे उसका गुण गन्ध की उपलब्धि होती है। इस स्थिति में शब्द को यदि वायु का गुण मान लिया जाय, तो अपने आश्रय के अतिरिक्त स्थल में जो शब्द की उपलब्धि होती है, वह नहीं हो सकती। इस स्थिति में पृथिवी में कड़कड़ा, जल में बुदबुद आदि शब्दों की उपलब्धि, जो सर्वानुभव और शास्त्र सिद्ध है, वह नहीं होनी चाहिए। इसलिए, शब्द को आकाश का ही गुण मानना आवश्यक है।

उपर्युक्त मत पर आपत्ति और परिहार

शब्द को वायु का परिणाम या गुण माननेवालों का कहना है कि यह नियम 'स्पर्शवान् द्रव्य का गुण आश्रय के अतिरिक्त स्थल में नहीं रहता', प्रत्यक्ष-प्रमाण-विरुद्ध है, अतः अमान्य है। कारण यह है, प्रत्यक्ष देखा जाता है कि पुष्पों की गन्ध वायु और जल में भी उपलब्ध होती है। पुष्पों के सूक्ष्म अवयव वायु में आ जाते हैं, यह मानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने से पुष्पों के परिमाण में लघुता आ जानी चाहिए, जो नहीं आती। अवयवों से अवयवान्तर की उत्पत्ति भी नहीं मानी जा सकती। इससे समुचित यही है कि अनन्त अवयवों की उत्पत्ति मानने की अपेक्षा स्वाश्रय के अतिरिक्त स्थल में भी उस शब्द की उपलब्धि मान लेने में ही लाघव है। इस प्रकार, शब्द को वायु का गुण मान लेने में भी आश्रय से अन्यत्र उसकी उपलब्धि होने में कोई भी बाधा या आपत्ति नहीं है।

एक बात और भी है कि शब्द को आकाश का गुण माननेवालों के मत में भी अन्य देशों में होनेवाले शब्दों की उपलब्धि अन्य देश में होती ही है। जैसे गृहाकाश में होनेवाले शब्द की उपलब्धि कर्णशष्कुली से युक्त आकाश में होती ही है। इस अवस्था में 'स्वाश्रय से अन्यत्र शब्द की उपलब्धि नहीं होती' है, यह नियम बाधित होने से अप्रामाणिक हो जाता है। इसलिए, शब्द को वायु के गुण मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

जो शब्द को आकाश का गुण मानते हैं, वे एक आपत्ति और भी देते हैं कि द्रव्य की ग्राहक इन्द्रियों के ग्राह्य विशेष गुणों के आश्रय होना स्पर्शवान् द्रव्य (पृथिवी, जल, तेज और वायु) का स्वभाव है। जैसे, घट-रूप द्रव्य का ग्राहक चक्षु-इन्द्रिय है, इसलिए चक्षु ही स्वसंयुक्त समवाय-सम्बन्ध से रूप का भी ग्राहक होता है और उसके विशेष गुण रूप का आश्रय घट है, इसलिए श्रोत्रेन्द्रिय यदि वायु का गुण होती, तभी उसके विशेष गुण के ग्राहक हो सकती थी। परन्तु, ऐसा होता नहीं। कारण यह है कि श्रोत्रेन्द्रिय का ग्राह्य गुण केवल शब्द-मात्र है, अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय केवल शब्द का ही ग्रहण करती है, वायु का नहीं, इसलिए शब्द को स्पर्शवान् वायु का गुण नहीं मान सकते।

मीमांसक का उत्तर

उपर्युक्त कथन पर मीमांसकों का कहना है कि यद्यपि त्वगिन्द्रिय से वायु का ग्रहण नहीं होता, परन्तु वायु के गुण स्पर्श का तो ग्रहण होता ही है।

इसी वासना से उक्त नियम की कल्पना की गई है। इससे यह सिद्ध होता है कि एक का गुण अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।

पतञ्जलि का मत

आकाश का गुण शब्द नहीं है, इसी अभिप्राय से भाष्यकार पतञ्जलि ने भी 'आकाशदेशः शब्दः'—आकाश-देश ही शब्द है, यही कहा है, 'आकाशगुणः शब्दः' नहीं। आकाश-देश को शब्द कहकर भाष्यकार ने स्पष्ट सूचित किया है कि शब्द आकाश का गुण नहीं है। इस स्थिति में शब्द आकाश का गुण सिद्ध नहीं होता, तो आकाश की सिद्धि शब्द के गुणी होने से जो सिद्ध की जाती है, यह नैयायिकों का कहना युक्त नहीं है। इस प्रकार, जब आकाश किसी प्रकार भी द्रव्यान्तर सिद्ध नहीं होता, तब पुनः शब्द का असत् वस्तु का गुण होना कैसे सिद्ध हो सकता है?

आकाश-साधन

नैयायिकों का कहना है कि आकाश की सिद्धि न होने पर ही आकाश को असत् कहा जा सकता है, परन्तु सकल समष्टि के आधार होने के कारण आकाश की सिद्धि में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। जिस प्रकार नक्षत्र आदिकों का आधार आकाश सिद्ध होता है, उसी प्रकार पृथिवी पर रहनेवाले सकल पदार्थों का भी मुख्य आधार आकाश ही होता है। यह मानी हुई बात है कि जितने सावयव पदार्थ संसार में प्रसिद्ध हैं, उन सबकी अपने द्वारा विश्रान्ति परमाणु में ही होती है, और परमाणुओं का आधार आकाश ही होता है। इसलिए, घट, पट आदि सकल पदार्थों का मुख्य आधार आकाश ही है। आकाश को मुख्य आधार इसलिए कहा जाता है कि सकल संयोगी पदार्थों में विद्यमान रहनेवाली आधारशक्ति का उपजीव्य (कारण) आकाश ही है। इसी अभिप्राय से भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

> आकाश एव केषाञ्चिद्देशभेदप्रकल्पनात्।
> आधारशक्तिः प्रथमा सर्वसंयोगिनामयम्॥
>
> इदमत्रेति भावानामभावानाञ्च कल्पते।
> व्यपदेशस्तमाकाशनिमित्तं तु प्रचक्षते॥
>
> कालात् क्रियाः विभज्यन्ते आकाशात् सर्वमूर्त्तयः।
> एतावानेव भेदोऽयमभेदोपनिबन्धनः॥

इनका अर्थ यह है, किसी-किसी के मत में यह आकाश ही समस्त संयोगी पदार्थों का प्रथम, अर्थात् मुख्य आधारशक्ति है।

यह वस्तु यहाँ है, यह वस्तु यहाँ नहीं है, इस प्रकार का व्यपदेश, अर्थात् व्यवहार जो लोक में प्रसिद्ध है उसका निमित्त आकाश को ही वृद्धलोग बताते हैं।

काल से ही क्रिया का विभाग होता है, और आकाश से समस्त मूर्त्त पदार्थों का विभाग होता है। इन दोनों (काल और आकाश) में भेद व्यावहारिक ही है। यह व्यावहारिक भेद भी अभेदोपनिबन्धन, अर्थात् भेद-रहित अद्वितीय ब्रह्म-प्रयुक्त ही है। कारिकाओं का शब्दार्थ यही है। तात्पर्य यह है—

यह नक्षत्र यहाँ है, यह यहाँ नहीं है, इस प्रकार नक्षत्रों के भाव और अभाव रूप का व्यवहार, जो लोक में सर्वानुभवसिद्ध है, इसका आधार पृथिवी आदि निर्दिष्ट वस्तुओं में कोई भी नहीं हो सकता, और निराधार किसी भी वस्तु की कल्पना भी असम्भव ही है। इस अवस्था में उक्त व्यवहार का आधार आकाश-तत्त्व मानना ही होगा। यहाँ पक्षी है, इस प्रकार का व्यवहार भी आकाश को आधार मानने पर ही सिद्ध हो सकता है। एक बात और भी द्रष्टव्य है। वस्तु दो प्रकार ही है—सिद्ध-स्वरूप और साध्य-स्वरूप। सिद्ध-स्वरूप वस्तुओं का आधार आकाश है और साध्य-स्वरूप वस्तुओं का आधार काल; क्योंकि वे अभी सिद्ध नहीं हैं। इसी अभिप्राय से भर्तृहरि ने कहा है—'कालात् क्रिया विभज्यन्ते आकाशात् सर्वमूर्त्तय इत्यादि। अर्थात्, काल ही आधार होने के कारण क्रिया का विभाजक (भेदक) होता है, और आकाश आधार होने के कारण सकल मूर्त्त पदार्थों का विभाजक होता है। आकाश और काल वस्तुतः अभिन्न पदार्थ हैं, केवल इनमें अभेदोपनिबन्धन व्यावहारिक भेद प्रतीत होता है, अर्थात् आकाश और काल ये दोनों ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं हैं, अपितु अभिन्न हैं, केवल उपाधि के भेद से व्यावहारिक भेद भासित होता है। इसीलिए, दीधितिकार ने लिखा है—'दिक्कालौ नेश्वरादतिरिच्येते, मानाभावात्': दिक् और काल ईश्वर से भिन्न नहीं हैं; क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है।

ऊपर के सन्दर्भ का निष्कर्ष यही है कि सकल पदार्थों की आधारशक्ति का आश्रय आकाश ही है। पृथिवी आदि का भी परमाणुओं के द्वारा आकाश ही आधार होता है।

पूर्व की कारिकाओं में ईश्वर के साथ आकाश और काल को अभिन्न बनाया गया है, इससे आकाश के नवम द्रव्य होने में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती और उसे सबका आधार होना भी सिद्ध हो जाता है। इस स्थिति में सबके अन्तर्गत शब्द के भी होने से आकाश का गुण (एकदेश) होना सिद्ध ही है। शब्द के आकाश का गुण होने से ही आकाश-रूप श्रोत्रेन्द्रिय से उसका ग्रहण भी होता है। कारण यह है कि जिस इन्द्रिय की जिस भूत से उत्पत्ति होती है, उसी भूत का गुण वह इन्द्रिय ग्रहण करती है। इस प्रकार, आकाश तथा उसका गुण शब्द है, यह सिद्ध हो जाता है।

इन्द्रियों के आहंकारिकत्व और परमाणु-परिणामत्वतथा प्राप्य-प्रकाशकारित्व का विवेचन

पहले श्रोत्र-इन्द्रिय को आकाश का परिणाम बताया गया है। परन्तु बौद्ध लोग श्रोत्र को आकाश का परिणाम नहीं मानते। उनका कहना है कि कर्णगोलक ही श्रोत्र है और नेत्रगोलक ही चक्षु है, और वह अप्राप्यकारी है। इसके विपरीत नैयायिक इन्द्रियों को प्राप्य प्रकाशकारी मानते हैं। इसका तात्पर्य है, इन्द्रियों का विषयप्रदेश में जाकर वस्तु को प्रकाशित करना। अर्थात्, इन्द्रियाँ अपने देश (अधिष्ठान) में रहकर ही वस्तु को प्रकाशित नहीं करती हैं, किन्तु विषयदेश में जाकर ही वस्तुओं को प्रकाशित करती हैं। नैयायिकों का यह मत बौद्धों को मान्य नहीं है। इनका आक्षेप यह है कि यदि इन्द्रियों का विषय-देश में जाना मान लें, तो अपने परिमाण से अधिक परिमाणवाले पदार्थों को वे ग्रहण नहीं कर सकती हैं।

जिस प्रकार परशु आदि हथियारों से काटने योग्य वृक्ष को नहरनी (नख काटने का औजार) से नहीं काट सकते, उसी प्रकार पर्वत आदि विशाल वस्तुओं का ग्रहण परमाणु-स्वरूप चक्षु-इन्द्रिय नहीं कर सकती। इसलिए इन्द्रियों को अप्राप्यकारी ही मानना चाहिए प्राप्य प्रकाशकारी नहीं। एक बात और है कि यदि इन्द्रियों को प्राप्यकारी, अर्थात् विषय-प्रदेश में जाकर वस्तुओं को प्रकाशित करना स्वभाव मान लें, तो वृक्ष की शाखाओं से ढके हुए चन्द्रमा और शाखा का एक काल में जो ग्रहण होता है, वह नहीं हो सकता। कारण यह है कि जिस काल में चन्द्रमा के पास इन्द्रिय जायगी, उस काल में शाखा से उसका सम्बन्ध नहीं रहेगा। इस स्थिति में चन्द्रमा और शाखा का एक काल में प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिए, अप्राप्य-प्रकाशकारी होने से गोलक को ही चक्षु मान लेना आवश्यक है।

परन्तु, अन्य दार्शनिक गोलक को चक्षु नहीं मानते। उनका कहना है कि ये गोलक आदि तो इन्द्रियों के अधिष्ठान-मात्र है, इन्द्रिय नहीं। इन्द्रियाँ तो प्रत्यक्ष देखे जानेवाले अधिष्ठानों के अतिरिक्त परम सूक्ष्म, अतीन्द्रिय पदार्थ हैं। इनका किसी भी इन्द्रिय से ज्ञान नहीं होता। ये विषय-प्रदेश में जाकर ही विषय को प्रकाशित करती हैं। बौद्धों का कहना है कि इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानने पर वे अपने परिमाण से अधिक परिमाणवाली वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकतीं, यह युक्त नहीं है। कारण यह है कि चक्षु-इन्द्रिय के तैजस होने के कारण प्रदीप की कलिका के समान गोलक से निकलते हुए चक्षु का भी अग्रभाग उत्तरोत्तर वर्द्धमान ही रहता है, इसलिए बड़ी-से-बड़ी वस्तुओं का ग्रहण करना उसका स्वभाव ही है। इसलिए, प्राप्यकारी होने के कारण गोलक के अतिरिक्त ही चक्षु है, यह सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार, श्रोत्र-इन्द्रिय भी अपने अधिष्ठान कर्णगोलक के अतिरिक्त ही होती है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय अपने अधिष्ठान के अतिरिक्त ही है।

इन्द्रियों का आहंकारिकत्व और भौतिकत्व

सांख्यों के मत में इन्द्रियाँ आहंकारिक, अर्थात् अहंकार के परिणाम हैं। श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ आकाशादि भूतों के परिणाम हैं, ऐसा नैयायिक मानते हैं, पर सांख्य नहीं। इनका कथन है कि श्रोत्र-इन्द्रिय को यदि आकाश माना जाय, तब तो आकाश के नित्य होने के कारण रोग आदि से उसका नाश जो देखा जाता है, वह नहीं हो सकता। इस प्रकार, किसी का भी बधिर होना असम्भव हो जायगा।

इसपर इन्द्रियों को भौतिक माननेवालों का कहना है कि हम केवल निर्विशेष आकाश को ही श्रोत्रेन्द्रिय नहीं मानते, किन्तु एक खास धर्मविशेष-विशिष्ट आकाश को श्रोत्रेन्द्रिय मानते हैं। इस अवस्था में उस धर्मविशेष (भूत-विकार-विशेष) का रोग आदि से अभिभव और औषध आदि से पुनः उसका उद्भव होना सम्भव है, असम्भव नहीं।

इसपर सांख्यों का कहना है कि धर्मविशेष-विशिष्ट आकाश में श्रोत्रेन्द्रिय की कल्पना करने की अपेक्षा विशेषणीभूत आहंकारिक धर्ममात्र में ही श्रोत्रेन्द्रिय की कल्पना करने में लाघव है। उस आहंकारिक धर्म-विशेष का अधिष्ठान आकाश ही है। इस धर्मीभूत आकाशरूप अधिष्ठान में आहंकारिक धर्मविशेष को ही श्रोत्रेन्द्रिय मानना युक्त प्रतीत होता है। इसी प्रकार, पृथ्वी-रूप अधिष्ठान में आहंकारिक धर्मविशेष को घ्राणेन्द्रिय, जलरूप अधिष्ठान में आहंकारिक धर्म-

विशेष को रसनेन्द्रिय, तेजोरूप अधिष्ठान में आहंकारिक धर्मविशेष को चक्षुरिन्द्रिय और वायुरूप अधिष्ठान में आहंकारिक धर्मविशेष को त्वगिन्द्रिय मानना ही समुचित है। यही सांख्यों का सिद्धान्त है।

आहङ्कारिक होने के कारण ही योगियों की इन्द्रियाँ अति दूरदेशस्थ विषयों के ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। इन्द्रियों को यदि भौतिक विकार मानें, तब तो भूतों का उतनी दूर जाना अशक्य होने से दूरस्थ विषयों का ज्ञान होना असम्भव हो जायगा। अहंकार तो अन्तःकरण (बुद्धि) का ही परिणाम है, इसलिए उसका अतिदूर देश तक जाना सर्वानुभवसिद्ध होने से सर्वसम्मत है। इसलिए, अहङ्कार के धर्मविशेष-रूप इन्द्रियों का भी अपनी प्रकृति-वृत्ति धर्मों का अनुगमन करना समुचित ही है।

एक बात और भी समझ लेनी चाहिए। जिस प्रकार इन्द्रियों के अधिष्ठान तत्-तत् भूत हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों से ग्राह्य तत्-तद् भूत गुणों का भी अधिष्ठान वे भूत ही हैं। जैसे, घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान पृथ्वी है, उसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय-ग्राह्य गुण गन्ध का भी अधिष्ठान पृथिवी ही है। इसी कारण श्रोत्रेन्द्रिय के अधिष्ठान आकाश का गुण शब्द श्रोत्रेन्द्रिय से ही ग्राह्य होता है। इसलिए, शब्द आकाश का ही गुण है, वायु का नहीं, यह भी सिद्ध हो जाता है।

यहाँ यह सन्देह होता है कि इन्द्रियों का सम्बन्ध तो अपने अधिष्ठानभूतों के ही साथ है, उनके गुण, गन्ध आदि के साथ नहीं, इस स्थिति में इन्द्रियों से असम्बद्ध गन्धादि गुणों का प्रत्यक्ष किस प्रकार हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि इन्द्रिय और गुणों के साथ समवाय आदि सम्बन्ध नहीं है, तथापि समानाधिकरण सम्बन्ध तो दोनों का है ही, इसलिए समान अधिकरण होने के कारण गन्धादि गुणों के भी प्रत्यक्ष होने में कोई बाधक नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिस पृथिवी में गन्ध गुण रहता है, उसी में घ्राणेन्द्रिय भी रहती है; क्योंकि घ्राणेन्द्रिय का अधिष्ठान पृथिवी ही है। इसलिए घ्राण और गन्ध दोनों का अधिकरण एक होने से तत्-तत् इन्द्रियों से गन्धादि गुणों का भी प्रत्यक्ष होता ही है।

इनके मत में इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी जाती है, और उत्पत्तिशील पदार्थ व्यापक नहीं होते। इस स्थिति में दूरस्थ शब्दों का जो ग्रहण होता है, वह नहीं हो सकता। इसीलिए इन्द्रियों को आहंकारिक माना जाता है। आहंकारिक मानने पर ही अन्तःकरण (चित्) इन्द्रियों के द्वारा विषय-प्रदेश में जाकर विषयों का ग्रहण करता है। अथवा श्रोत्रेन्द्रिय ही विषय-देश में जाकर विषयों का ग्रहण

करती है। एक बात और भी समझ लेनी चाहिए कि विषयदेश में जानेवाली इन्द्रियाँ चित् से सहकृत ही विषयदेश में जाती हैं। तार्किकों के मत में मन भी ज्ञान का हेतु माना गया है। इसलिए, मन से संयुक्त ही श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ शब्दादि विषय-प्रदेश में जाकर विषयों का ग्रहण करती हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियों का विषय-देश में जाना यदि न मानें, तो 'ग्रामान्तरे शब्दः श्रूयते'--दूसरे गाँव में शब्द सुना जाता है, इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, वह नहीं हो सकती।

इन्द्रियों की परमाणुस्वरूपता

इन्द्रियों को आहंकारिक नहीं मानने पर भी उन्हें परमाणु-स्वरूप तो मानना ही पड़ेगा। इस स्थिति में परमानु-स्वरूप श्रोत्र-इन्द्रिय ही गोलक से बाहर शब्द-प्रदेश में जाकर शब्द को ग्रहण करती है, यही मानना समुचित होगा। वीचितरंग न्याय से श्रोत्रदेश में आये हुए शब्दों को श्रोत्रेन्द्रिय ग्रहण करती है, यह मानना समुचित नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि भेरी का शब्द सुन रहा हूँ, शंख का शब्द सुन रहा हूँ, मृदङ्ग का शब्द सुन रहा हूँ इत्यादि वाद्य-विशेष की जो प्रतीति होती है, वह विषय-देश में श्रोत्रेन्द्रिय के गये बिना सम्भव नहीं है। क्योंकि, शंख आदि वाद्य तो श्रोत्रदेश में नहीं जाते, इस अवस्था में वाद्यविशेष का ज्ञान होना दुर्घट ही है। इस ज्ञान को भ्रम मानने में भी कोई प्रमाण नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि सांख्यों के मत में आहंकारिक होने से इन्द्रियाँ ही विषय-प्रदेश में जाकर विषयों को ग्रहण करती हैं और तार्किकों के मत में भी इन्द्रियों के परमाणु-स्वरूप होने से विषय-प्रदेश में जाकर ही वे विषयों को प्रकाशित करती हैं। यही इन्द्रियों का प्राप्य-प्रकाशकारित्व है।

इन्द्रियों के सम्बन्ध में तार्किकों का मत

तार्किकों का कहना है कि इन्द्रियाँ किसी प्रकार भी आहंकारिक (अहंकार के परिणाम) नहीं हो सकती हैं। कारण यह है कि इन्द्रियों को अहंकार का परिणाम मान लेने पर भी उनके अधिष्ठान का नियमन होना दुर्वच हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों का तत्-तत् भूतों के शब्दादि विशेष गुणों का ग्रहण करना स्वभाव या नियम है। इसीलिए, सांख्यों ने भी इन्द्रियों का अधिष्ठान (आश्रय) भूतों को ही माना है। यह इसलिए कि शब्दादि विषयों के साथ इन्द्रियों का साक्षात् कोई सम्बध न होने पर भी अधिष्ठानभूत भूतादि के द्वारा समानाधिकरण-सम्बन्ध होने से गन्धादि गुणों का प्रत्यक्ष होता है।

जिन आकाशादि भूतों में अहंकार का श्रोत्रादि इन्द्रियों के रूप में परिणाम होता है, वे ही आकाशादि भूत शब्द आदि गुणों के भी अधिष्ठान (आश्रय) हैं। इसलिए, इन्द्रिय और गुणों का समान (एक) अधिकरण होना मानकर विषयों का ग्रहण-नियम किसी प्रकार माना जाता है। परन्तु, यह युक्त नहीं प्रतीत होता। कारण यह है कि सांख्यों के मत में शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध, इन पञ्च तन्मात्राओं की उत्पत्ति अहङ्कार से ही मानी गई है। इस अवस्था में श्रोत्र-इन्द्रिय केवल शब्द को ही ग्रहण करे, गन्ध आदि को नहीं, यह क्यों? जिस प्रकार आहंकारिक श्रोत्र-इन्द्रिय अहंकार से उत्पन्न शब्द को ग्रहण करती है, उसी प्रकार अहंकार से ही उत्पन्न गन्धादि को भी ग्रहण करना चाहिए। परन्तु, ऐसा होता नहीं।

इन्द्रियों की भौतिकता

जब इन्द्रियों को भौतिक मानते हैं, तब तो जिन भूतों से जो इन्द्रिय उत्पन्न होती है, वह इन्द्रिय उसी भूत-विशेष के गुण का ग्राहक होती है, इस नियम से इन्द्रियों के विषय-ग्रहण का नियम सम्यक् उपपन्न हो जाता है, इसलिए इन्द्रियों को भौतिक मानना ही युक्त प्रतीत होता है, आहंकारिक नहीं। इसी अभिप्राय से दर्शनसिद्धान्तमञ्जूषा में लिखा गया है—

> यस्य भूतविशेषस्य गुणं गृह्णाति यत् पुनः।
> इन्द्रियं तत्तदीयं हि प्रोच्यते शास्त्रवित्तमैः॥

अर्थात्, जो इन्द्रिय जिस भूत-विशेष के गुण का ग्राहक होती है, वह इन्द्रिय उसी भूत-विशेष का परिणाम है, ऐसा शास्त्र मर्मज्ञों का कहना है।

अणु में सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता

किसी आचार्य का मत है कि अणु सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होता है। सर्वव्यापक होने के कारण ही आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी के परमाणुओं का विषयदेश-पर्यन्त इन्द्रियों के तत्तद् विषयों के उन्मुख होने पर तत्तत् इन्द्रियों के रूप में परमाणुओं का ही परिणाम होता है। इसलिए, तत्-तत् देशों में विषयों का प्रत्यक्ष होना भी विरुद्ध नहीं होता।

इन्द्रियों को परमाणु-स्वरूप मानने में असन्निकृष्ट वस्तुओं का भी प्रत्यक्ष होना चाहिए; क्योंकि परमाणुओं के सर्वव्यापी होने के कारण सर्वदा सब जगह इन्द्रिय-रूप से उसका परिणाम होता रहेगा। यह कथन युक्तिसह नहीं है। कारण

कि उन चक्षु आदि इन्द्रियों के शब्दादि विषयों के उन्मुख होने पर ही तत्तत् इन्द्रियों के रूप में उनका परिणाम होता है, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है कि विषयदेश ही परमाणुओं का इन्द्रिय-रूप से परिणाम होता है।

अब यह विचारना है कि इन्द्रियों को आहंकारिक या भौतिक दोनों के माननेवालों के मत में शब्द के आकाश का गुण होने में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं है, अर्थात् दोनों का ऐकमत्य है। परन्तु, इन दोनों के मत में वाचक (शब्द) सावयव, अनेक और अनित्य सिद्ध होता है। इनके अतिरिक्त वैयाकरण और मीमांसकों के मत में एक, नित्य और निरवयव माना गया है। यद्यपि मीमांसक और वैयाकरण इन दोनों के मत में शब्द नित्य माने गये हैं, परन्तु इनमें भी शब्द के स्वरूप के विषय में बहुत मतभेद है। मीमांसकों का कहना है कि जिसका श्रावण प्रत्यक्ष होता है, वही वर्णात्मक शब्द नित्य और अखण्ड है। परन्तु, वैयाकरणों के मत में ये वर्णात्मक शब्द नित्य और अखण्ड नहीं हैं, अपितु इनके अतिरिक्त और इन्हीं ध्वन्यात्मक वर्णों से अभिव्यक्त निरवयव स्फोट को ही शब्द माना गया है। ये वर्णात्मक वैखरी ध्वनि तो केवल उस स्फोट का अभिव्यञ्जक-मात्र है, और अनित्य है।

स्फोट का एकत्व-समर्थन और सांख्यादि मतों का निराकरण

शब्दों के एक मानने में दूरवर्त्तित्व का अनुभव अनुपपन्न नहीं होता। दूर पर होने वाले शब्द और पास में होनेवाले शब्दों में भी दूरवर्त्तित्व और पार्श्वर्वात्तित्व का अनुभव सिद्ध ही है, क्योंकि भिन्न-भिन्न देश में होनेवाली अभिव्यक्तिवाले शब्दों का ही श्रोत्रदेश में अनुभव होता है। तात्पर्य यह है कि अभिव्यक्ति ही दूर देश को व्याप्त करती है। इसलिए, जिस देश में उसकी अभिव्यक्ति होगी, उसी देश में उसका अनुभव भी होगा, इसलिए शब्द को एक मानने में किसी प्रकार का विरोध नहीं होता।

शब्द के एकत्व में शङ्का

शब्द को यदि एक माना जाय, तब तो उस शब्द में जाति (सामान्य) का लक्षण घटित नहीं होता। जाति का लक्षण है 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्', अर्थात् जो नित्य होते हुए अनेक में समवाय-सम्बन्ध से रहता हो, वही जाति है। यह जाति का लक्षण शब्दत्व में नहीं घटता; क्योंकि शब्द एक है, अनेक नहीं। इसलिए अनेकवृत्ति नहीं होने से शब्दत्व-जाति की सिद्धि नहीं होती। इस स्थिति में 'आकृतिग्रहणात् सिद्धम्' यह पतञ्जलि का भाष्य असङ्गत हो जाता है।

इस वार्त्तिक में आकृति शब्द का अर्थ जाति ही है। इस प्रकार, शब्दत्व-जाति की सिद्धि के लिए शब्द को अनेक मानना आवश्यक हो जाता है।

शङ्का का समाधान

जिस प्रकार आकाश के एक होने पर भी घट आदि उपाधि के भेद से घटाकाश, मठाकाश इत्यादि अनेक प्रकार का व्यवहार होता है, और एक ही चेतन पदार्थ का माया, अविद्या आदि उपाधियों के भेद से जीव, ईश्वर, प्राज्ञ आदि अनेक प्रकार का औपाधिक भेद माना जाता है, उसी प्रकार शब्द के एक होने पर भी वर्ण आदि उपाधियाँ लगने से उसमें भेद प्रतीत होता है। इसी लोकशास्त्र-सम्मत औपाधिक भेद को मानकर 'आकृतिग्रहणात् सिद्धम्' ऐसा भाष्यकार ने कहा है। वास्तव में तो भाष्यकार के मत में भी जाति मानना अभीष्ट नहीं है, इसीलिए इस उत्तर से असन्तुष्ट होकर स्वयं भाष्यकार ने ही दूसरा उत्तर दिया है— 'रूपसामान्याद्वा सिद्धम्'। इसका तात्पर्य है—शरीर के अवयवों के सन्निवेश (संगठन) विशेष का नाम रूप है। उस रूप, अर्थात् अवयवों के संगठन-विशेष के एक-सा होने के कारण सिद्ध हो जाता है। उक्त वार्तिक का यही तात्पर्य है। गो व्यक्ति (गाय) को ही लीजिए, कोई दुबली-पतली है, कोई मोटी है, कोई बड़ी है, कोई छोटी, कोई नाटी है, कोई लम्बे आकार की है। इस प्रकार, गो व्यक्ति के परस्पर विभिन्न प्रकार के होते हुए भी अवयवों के सन्निवेश (संगठन-विशेष) के एक समान होने के कारण ही यह गाय है, यह भी गाय है, वह भी गाय है इत्यादि रूप के सादृश्य से ही एकाकार व्यवहार होता है। उसी प्रकार अकारादि वर्णव्यक्तियों के परस्पर विभिन्न प्रकार के होने पर भी रूप के सादृश्य से एकाकार व्यवहार होता है।

अकारादि वर्णों के एकत्वानेकत्व का विवेचन

'अ इ उ ण्' सूत्र के भाष्य में अकारादि वर्ण प्रत्येक एक हैं अथवा अनेक, इस शङ्का के समाधान के बाद 'एकत्वादकारस्य सिद्धम्' इस वार्त्तिक से वर्णों के एकत्व-पक्ष का ही समर्थन भाष्यकार ने किया है। इसके बाद भी अनेकत्ववादी के मत के समर्थक अन्तिम वार्तिक लिखते हैं—'अान्यभाव्यन्तु कालशब्दव्यवायात्।' नानात्ववादी के दिखाये गये दोषों के परिहार होने पर भी तर्क के बल से वर्णों के नानात्व-साधन करने के लिए इस वार्त्तिक का उल्लेख है। इसका तात्पर्य यह है कि अकार व्यक्ति का अान्यभाव, अर्थात् अन्यत्व (भिन्नता) है, यह प्रतिज्ञावाक्य है। अर्थात्, व्यक्ति भिन्न-भिन्न अनेक हैं। इसमें हेतु है काल और शब्द का व्यवधान।

तात्पर्य यह है कि व्यवधान किन्हीं दो वस्तुओं के बीच में ही होता है, एक में नहीं। इस स्थिति में जहाँ काल और शब्द दोनों का व्यवधान रहेगा, उसको भिन्न अवश्य माना जायगा। सन्धि नहीं करने पर अ इ उ में काल का व्यवधान देखा जाता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि काल और शब्द का जहाँ व्यवधान होता है, वहाँ भेद अवश्य है। अ और इ दोनों में भेद है, इसीलिए हरि में ह में अ और र में इ इन दोनों के बीच र का व्यवधान है। इसीलिए, अ व्यक्ति से इ व्यक्ति भिन्न माना जाता है। इसी प्रकार, दति में द में अ और त में इ व्यक्ति भिन्न हैं, इसीलिए दोनों के बीच त का व्यवधान है। एक में किसी का व्यवधान नहीं होता। जैसे केवल अ में किसी का व्यवधान नहीं है, केवल अ का ही उच्चारण होता है। परन्तु दण्ड + अग्रम्, यहाँ ण्ड में अकार और अग्रम् के पहला अ में काल का व्यवधान है, और दण्ड में दो अकार हैं एक द में और दूसरा ड में। यहाँ दोनों अकार के बीच ण और ड का व्यवधान है। इसी प्रकार, गिरि में दोनों इकार के बीच र का व्यवधान है। इस प्रकार काल और शब्द के व्यवाय (व्यवधान) होने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि अकार, इकार आदि प्रत्येक वर्ण भिन्न-भिन्न अनेक हैं।

वर्णों के अनेक होने में दूसरा कारण यह है—'युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनात्'; एक काल में पृथक्-पृथक् देखे जाने से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वर्ण अनेक हैं। यहाँ देश शब्द का अर्थ अर्चा आदि शब्दों का अर्थ समझा जाता है। यह वार्त्तिक इस बात का भी निषेध करता है कि वर्ण व्यापक हैं। कारण यह है कि वस्तु का पृथक्-पृथक् रहना व्यापकत्व का बाधक होता है। व्यापक का अर्थ ही है सर्वदा सर्वत्र रहना, और जो पृथक्-पृथक् रहेगा, उसका सब जगह रहना नहीं बन सकता है। इन भाष्य-वार्त्तिकों से वर्णों के अनेक होने में ही कारण बताये गये हैं एक काल का व्यवधान होना, दूसरा शब्द का व्यवधान होना और तीसरा एक काल में पृथक्-पृथक् देखा जाना। इन तीनों कारणों से सिद्ध होता है कि वर्ण अनेक, अनित्य तथा अव्यापक, अर्थात् परिच्छिन्न हैं।

वर्णों में अनेकत्व का खण्डन : एकत्व का समर्थन

ऊपर प्रतिपादित वर्णों में अनेकत्व के विरोध में एकत्व-समर्थन के लिए भाष्यकार वार्त्तिक लिखते हैं—'यदि पुनरिमे वर्णाः शकुनिवत् स्युः', अर्थात् ये वर्ण शकुनि (पक्षी) के समान हों ? तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शकुनि आशुगामी होने के कारण आगे से उड़ा हुआ पीछे देखा जाता है, उसी प्रकार द में देखा गया अकार ही ण्ड में जाकर देखा जाता है। इसका रहस्य है कि वर्णों की अभिव्यञ्जक ध्वनियों में काल और शब्द का व्यवधान होता है, अभिव्यङ्ग्य स्फोटात्मक वर्णों

में नहीं। स्फोटात्मक वर्ण तो नित्य, विभु और एक हैं। यही वर्णस्फोटवादी का मत है। वर्णों के एक, विभु और नित्य मानने पर सर्वत्र सर्वदा उसकी उपलब्धि नहीं होती; क्योंकि वर्णों के नित्य होने पर भी उनके अभिव्यञ्जक ध्वनिस्थल में ही होती है, अन्यत्र नहीं। दूसरे शब्दों में कहा जायगा कि अभिव्यञ्जक ध्वनि के सन्निधान में ही वर्णों की अभिव्यक्ति होती है, असन्निधान में नहीं।

अनेकत्ववादी के आक्षेप का उत्तर

वर्णस्फोटवादी के उक्त अभिप्राय को न समझकर वर्णों के अनेकत्वादी का कहना है कि इस प्रकार वर्णों को शकुनि के समान आशुगामी मानने से वर्णों का कूटस्थ होना सिद्ध नहीं होता, बल्कि वे अनित्य होने लगेंगे। यदि द में देखा गया अकार वड में चला जाय, तब तो गमनशील होने से वह कूटस्थ नहीं होता, और वर्णों का कूटस्थ होना आपका परम सिद्धान्त है। भाष्यकार ने स्वयं लिखा है— 'कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः।' अर्थात्, वर्णों को अपाय (नाश) और उपजन (आगम)–विकार से रहित कूटस्थ नित्य होना चाहिए।

व्यक्तिस्फोटवादी के मत में दोष दिखाते हुए जातिस्फोटवादी कहते हैं कि जाति (सामान्य) एक और नित्य है, व्यक्ति अनन्त और अनित्य। आप (व्यक्तिस्फोटवादी) तो जाति मानते नहीं; क्योंकि आपके मत में व्यक्ति को ही एक और नित्य माना गया है। परन्तु, यह वर्णों का एकत्व और नित्यत्व युक्त नहीं होता। कारण यह है कि दण्ड में एक अकार उदात्त और एक अनुदात्त है। इस प्रकार एक वस्तु में विरुद्ध दो धर्म रह नहीं सकते। यदि एक ही अ व्यक्ति उदात्तत्व का परित्याग कर अनुदात्त, या अनुदात्तत्व का परित्याग कर उदात्त हो गया, ऐसा मान लें, तब तो रूपान्तर का परिग्रह करने से वह अनित्य होने लगेगा। इसलिए, वर्णों को अनित्य मानना ही युक्त प्रतीत होता है। इस स्थिति में 'सोऽयं गकारः' वही यह गकार है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा जाति प्रयुक्त ही माननी होगी। इस प्रकार, यहाँ भाष्यकार ने जातिस्फोट का ही व्यवस्थापन किया है। पुनः इसके बाद एकत्व और नित्यत्व-व्यवस्थापन के लिए भाष्यकार दूसरा वार्त्तिक कहते हैं—

'यदि पुनरिमे वर्णा आदित्यवत् स्युः,' अर्थात् ये वर्ण यदि आदित्य के समान हैं, ऐसा मान लें—जैसे एक ही आदित्य एक ही काल में विभिन्न देशों में पृथक्-पृथक् भासित या उपलब्ध होता है, उसी प्रकार एक ही अ व्यक्ति अश्व, अर्क आदि अनेक देशों में एक ही समय में प्रतीत होगा, इसलिए वह एक और

नित्य है, ऐसा माना जाता है। यदि एक समय अनेक देश में उपलब्ध होने के कारण ही अनेक और अनित्य माना जाय, तब तो सूर्य को भी ऐसा होने से अनित्य और अनेक माना जा सकता है, जो अभीष्ट नहीं है। इसपर जाति-स्फोटवादी, जो वर्णों को अनेक मानते हैं, का कहना है कि यह भी युक्त नहीं है। कारण यह है कि एक ही द्रष्टा अनेक अधिकरण में एक ही समय नहीं देखता है और अकार को अश्व, अर्क आदि अनेक स्थानों में एक ही द्रष्टा एक ही समय भी देखता है। इससे यही प्रतीत होता है कि यह आदित्य का दृष्टान्त वर्णों के एकत्व का साधक नहीं हो सकता है। इन वर्णों के एकत्व माननेवाले व्यक्तिस्फोटवादी कहते हैं—"अकारमपि नोपलभते? किं कारणम्? श्रोत्रोपलब्धिबुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः। एकञ्च पुनराकाशम्।"

शब्द का एक ही अधिकरण है आकाश, इसलिए उसका अनेक अधिकरण होना अयुक्त-सा प्रतीत होता है। उपर्युक्त भाष्य का तात्पर्य यह है कि एक द्रष्टा अनेक देश में अकार को भी नहीं देखता। इसमें कारण है 'श्रोत्रोपलब्धिः'—श्रोत्र ही में जिसकी उपलब्धि होती है, अर्थात् जिसका ज्ञान (प्रत्यक्ष) श्रोत्र ही में हो, वही शब्द है। आकाशात्मक श्रोत्र में ही शब्द का प्रत्यक्ष होने के कारण आकाश देश को ही भाष्यकार ने शब्द कहा है। इसका कारण यह भी है कि कर्णशष्कुली-रूप उपाधि से युक्त आकाश ही श्रोत्र है और चक्षु आदि इन्द्रियों के समान श्रोत्र को भी भौतिक मानना आवश्यक है। कारण यह है कि इन्द्रियों का स्वभाव ही है अपने सम्बद्ध विषयों का ग्रहण करना। अतः, शब्द को आकाश-देश माना जाता है।

शब्द आकाश-देश है या आकाश-गुण?

कुछ वादियों का कहना है कि 'आकाशदेशः शब्दः' में देश शब्द का अर्थ दिशा है और उसका ही गुण या परिणाम शब्द है। परन्तु, यह कथन युक्तिसह नहीं है; क्योंकि दिशा आकाश से कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। यहाँ यह सन्देह उठाया जाता है कि शब्द को आकाश का परिणाम या गुण इसलिए माना जाता है कि आकाश भूत है, और इन्द्रियाँ तत्-तत् भूतों के ही गुणों के ग्राहक होती हैं। यदि दिक् का गुण शब्द माना जाय, तो आकाश के परिणामभूत श्रोत्र इन्द्रिय से उसका ग्रहण नहीं हो सकता है। इसलिए, शब्द को आकाश का ही गुण माना जाता है, दिक् का नहीं। यद्यपि, यह देखा जाता है कि घट आदि पृथ्वी का रूप तैजस नहीं है, तथापि तैजस इन्द्रिय चक्षु

से घट-रूप का ग्रहण होता है। इस स्थिति में जब अन्य के गुणों का ग्राहक अन्य इन्द्रियाँ भी होती हैं, तब क्या कारण है कि आकाशीय श्रोत्र-इन्द्रिय दिक् के गुण शब्द का ग्राहक नहीं हो सकती है ?

इसका प्रतिपक्षी उत्तर यह होता है कि इन्द्रियों से विषयों का जो ग्रहण होता है, वह असम्बद्ध विषयों का भी ग्रहण होता है अथवा सम्बद्ध विषयों का ही ? पहला पक्ष तो नहीं मान सकते; क्योंकि दिल्ली आदि नगरों में होनेवाले शब्दों का प्रत्यक्ष पटना में नहीं होता है। जब रेडियो या टेलीफोन आदि यन्त्रों के द्वारा उनका सम्बन्ध जोड़ा जाता है, तभी शब्द का प्रत्यक्ष होता है, अन्यथा नहीं। द्वितीय पक्ष में भी यह विकल्प होता है कि श्रोत्र के विषय-क्षेत्र में जाने से सम्बन्ध होता है अथवा शब्द का ही श्रोत्रदेश में जाने से ? इन दोनों पक्षों में किसी में भी किसी का गमन नहीं मान सकते। कारण यह है कि श्रोत्र और शब्द, दोनों ही आकाश-देश होने से व्यापक और निष्क्रिय हैं इसलिए इनका गमन कहीं नहीं हो सकता है। दूरदेशस्थ शब्दों का ग्रहण नहीं होता है। इसमें कारण यह है कि दूरत्वादि दोष के प्रतिबन्धक होने से श्रोत्रदेश में शब्दों की अभिव्यक्ति होती ही नहीं। जब शब्दों को आकाशदेश-रूप मानते हैं, तब तो आकाश के समान ही शब्द को भी व्यापक मानना आवश्यक हो जाता है। इस स्थिति में श्रोत्रदेश में ही शब्द की अभिव्यक्ति होना सम्भव है और तभी उसका प्रत्यक्ष भी हो सकता है।

सांख्यों के मत में भी यद्यपि इन्द्रियाँ आहंकारिक मानी गई हैं, तथापि अपने अधिष्ठान पृथिवी आदि भूतों के गुणों का ग्रहण करना इन्द्रियों का स्वभाव होता है। इस कारण भी शब्द को आकाशदेश-रूप मानना आवश्यक है, जिससे उसका श्रावण प्रत्यक्ष हो।

शब्द-एकत्व में शङ्का और समाधान

यहाँ शङ्का इस प्रकार है—शब्द को एक मानने में यह पूर्व है, यह पर है, यह शब्द देवदत्त के घर में है, यह एकनाथ के, इस प्रकार देशभेद का प्रतिभास कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि देश-भेद से शब्दों का प्रतिभास शब्द-भेद प्रयुक्त नहीं होता है, किन्तु विभिन्न देशों में अवस्थित पुरुषों से उच्चारित अभिव्यञ्जक ध्वनि से शब्दभेद का प्रतिभास होता है। यह औपाधिक भेद शब्द के एकत्व का बाधक नहीं हो सकता है। जैसे—घट, मठ आदि उपाधि आकाश के एकत्व का बाधक नहीं होती, उसी प्रकार शब्द के औपाधिक भेद भी शब्द के वास्तविक एकत्व का बाधक नहीं होते। 'आकाश-

देशः शब्दः', यहाँ भाष्यकार ने 'शब्दः' में एकवचन का प्रयोग करके यह सिद्ध किया है कि स्फोटात्मक शब्द एक और अखण्ड है ।

शब्दों का नानात्व

भाष्यकार कहते हैं—'आकाशदेशा अपि बहवः । यावता बहवः तस्माद् आन्यभावमकारस्य ।' इसका तात्पर्य यह है कि आकाशदेश भी अनेक हैं। जैसे, पृथिवी के एक होने पर भी काशी, प्रयाग, मथुरा, गया, अयोध्या आदि देश-भेद का व्यवहार होता है, उसी प्रकार आकाश-देश का भी संयोगी घट, मठ, आदि औपाधिक भेद का व्यवहार होता ही है। यह औपाधिक भेद ही व्यवहार का उपयोगी होता है। प्रदेशान्तर में उत्पन्न होनेवाले शब्दों का श्रोत्र के साथ सम्बन्ध वीचीतरङ्गन्याय अथवा कदम्बमुकुलन्याय से हो जाता है।

इस प्रकार, व्यक्तिस्फोट में दोष दिखाकर उसका निराकरण करने के बाद नानात्व-पक्ष में दोषवारण के लिए भाष्यकार वार्तिक लिखते हैं--'आकृति-ग्रहणात् सिद्धम्' (भा० प्र०, अ इ उ ण् सू०)।

इसके ऊपर भाष्य इस प्रकार है—'अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः तथोवर्णाकृतिः ।' इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के नाना मानने में जो दोष दिखाया गया है, वह जाति-ग्रहण से सिद्ध हो जाता है, अर्थात् सब प्रदेशों में अकार की आकृति (जाति) का ही निर्देश किया गया है। तात्पर्य यह है कि वार्तिककार ने अकारादि व्यक्ति को अनन्त मानकर वर्ण-समाम्नायस्थ 'अ इ उ ण्' सूत्र में जो अकार है, उसी का विवृतोपदेश किया, धातु आदि में अकार का नहीं। इस स्थिति में प्रयोगों में रहनेवाले अकारों का वर्णसमाम्नाय में रहनेवाले अकार से ग्रहण नहीं हो सकता। इस अभिप्राय से वर्ण-समाम्नाय में रहनेवाले वर्णों से प्रयोगस्थ अकारादि वर्णों का ग्रहण करने के लिए भाष्यकार ने जाति-पक्ष का आश्रयण किया है। अकारादि जाति को ही विवृत मानकर उक्त दोष का निवारण भी किया है। 'अस्य च्वौ' इत्यादि स्थलों में तो विवृत होने पर भी अनण् (अण् से भिन्न) होने के कारण 'समस्त अवर्णों का ग्रहण नहीं होगा' इस दोष का परिहार जाति-निर्देश से ही भाष्यकार ने किया है। जातिपक्ष के मानने से ही 'अणुदित्' सूत्र में अण्-ग्रहण का प्रत्याख्यान भी सूचित होता है। इसके अनन्तर सिद्धान्त का साधक दूसरा वार्तिक भी भाष्यकार ने लिखा है—'तद्वच्च तपरकरणम्' 'एवञ्च कृत्वा तपराः क्रियन्ते—आकृतिग्रहणेनाति-प्रसक्तमिति ।'

स = आकृतिपक्षः अस्ति यत्र तत् तद्वत्—वह आकृति-पक्ष हो जिसमें, वह है 'तद्वत्'—इस कैयटोक्त व्युत्पत्ति से आकृति (जाति) पक्ष मानने पर ही सर्वत्र तपर-करण चरितार्थ होता है, अन्यथा नहीं। अथवा 'तद्वत्' में 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र से वति प्रत्यय करने पर यह अर्थ होता है कि जिस प्रकार 'अस्य च्वौ' इत्यादि स्थलों में आकृति-ग्रहण से समस्त अकार व्यक्ति का ग्रहण होता है उसी प्रकार तपरस्थल में भी आकृति-ग्रहण से ही प्राप्त समस्त अकार व्यक्ति का ग्रहण हो जायगा। इसीलिए तपरकरण चरितार्थ होता है।

जातिपक्ष में भी विवृतत्व की प्रतिज्ञा इसी कारण अवश्य माननीय होती है कि 'अकः सवर्णे दीर्घः' इस सूत्र से दण्डानतिः, दण्डाढकम् इत्यादि प्रयोगों में दीर्घ हो, अन्यथा अकार से आकार का ग्रहण नहीं होने से उक्त स्थलों में दीर्घ नहीं हो सकता। 'त्यद दीनामः' इत्यादि विधेयस्थल में आकृति ग्रहण से प्राप्त सब अकारों के वारण के लिए ही अप्रत्यय पर्युदास चरितार्थ होता है। 'अणुदित्' सूत्र से प्राप्त सवर्णग्रहण के निषेध के लिए अप्रत्यय पर्युदास नहीं है; क्योंकि, 'अणुदित्' सूत्र में अण्ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया है। स्वयं भाष्यकार ने ही कहा है—'प्रत्याख्यायते तत्, आकृतिग्रहणात् अनन्यत्वाच्चेति' अर्थात्, 'अणुदित्' सूत्र में अण्ग्रहण नहीं करना चाहिए; क्योंकि आकृति ग्रहण से सिद्ध हो जाता है, अथवा अकार व्यक्ति के अनन्य अर्थात् एक होने के कारण 'अनन्यत्वाच्च' इस हेतु-वाक्य से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यक्ति-पक्ष में भी वर्ण एक ही है।

आकृति-पक्ष की अनिवार्यता

आकृति-पक्ष अवश्य आश्रयणीय है, इसकी पुष्टि के लिए भाष्यकार लिखते हैं—'झलग्रहणेषु च' किम्? 'आकृतिग्रहणात् सिद्धमित्येव।' इसका तात्पर्य यही है कि व्यक्ति-पक्ष में एक ही किसी तकार की झल् संज्ञा होगी, उसके अतिरिक्त दूसरे किसी तकार की नहीं। इस स्थिति में 'अवाताम्' प्रयोग में वस् धातु के लुङ् लकार में तस् के ताम्, सिच्, अनुबन्ध-लोप, 'सस्यार्ध धातुके' सूत्र से सकार के तकार, 'वद व्रज' इत्यादि सूत्र से वृद्धि करने पर 'अवात् स् ताम्' इस अवस्था में 'झलोझलि' सूत्र से सकार का लोप (जो इष्ट है) नहीं हो सकता। कारण यह है कि एक ही किसी तकार की झल् संज्ञा हुई है। यदि पहला त् को झल् मानेंगे, तो पर में रहनेवाला दूसरा तकार झल् न मिलेगा। यदि दूसरे त् को झल् मान लें तो झल् से परे स के न होने से सकार का लोप (जो इष्ट है) नहीं हो सकता।

सूत्र के आरम्भ-सामर्थ्य से वहाँ स का लोप हो जायगा, यह कहना भी ठीक नहीं होगा, कारण यह है कि 'अभित्थाः' में भिद् धातु के लुङ् के थास् में

'अभिद् स् थास्' इस अवस्था में स् का लोप करने के लिए सूत्र चरितार्थ है, व्यर्थ नहीं। इसलिए, सूत्र के आरम्भ-सामर्थ्य से 'अवाताम्' में सकार का लोप नहीं कर सकते। इसलिए, तकार-मात्र में झल् संज्ञा के लिए जाति-पक्ष का आश्रयण करना अत्यावश्यक हो जाता है, यही भाष्यकार का तात्पर्य है।

जाति-पक्ष के नहीं मानने पर भी इष्ट की सिद्धि हो जायगी, इस अभिप्राय से भाष्यकार दूसरा वार्त्तिक लिखते हैं: 'रूपसामान्याद्वा सिद्धम्'। इस वार्त्तिक पर भाष्य का तात्पर्य यह है कि—

जिस प्रकार छोटे, बड़े, दुबले, मोटे आदि अनेक प्रकार के गो व्यक्तियों में तथा अनेक प्रकार के छोटे-बड़े घट व्यक्तियों में व्यक्ति के भेद होने पर भी रूप (अवयवों का संगठन) के समान होने से यह गौ है, यह भी गौ है, यह घट है, यह भी घट है इत्यादि व्यवहार रूपसामान्य से लोक में देखा जाता है, उसी प्रकार रूप की समानता होने के कारण ही 'सोऽयं गकारः'—वह यही गकार है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा से दोनों में अभेद-व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है। जैसे—वही चावल खा रहा हूँ, जो मगध में खाया था; वही यह रुपया है, जो आपसे पटना में हमने लिया था इत्यादि स्थलों में अन्य अन्य वस्तुओं में भी रूप की समानता होने से 'तदेवेदम्'—वही यह है, इस प्रकार का व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार व्यक्ति के भेद होने पर भी रूप के सादृश्य से 'वही यह तकार है, जो वर्ण-समाम्नाय में है इत्यादि व्यवहार होता है। इन पूर्वापर भाष्य-व्याख्यानों पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यक्ति के अतिरिक्त जाति को चाहे मानें, या न मानें, दोनों अवस्थाओं में प्रयोगस्थ (प्रयोग में रहनेवाले) अकारादि वर्णों का प्रत्याहारस्थ (प्रत्याहार में रहनेवाले) अकारादि वर्णों से ग्रहण हो ही जायगा। भाष्य का यही रहस्य है।

रूप-सादृश्य और स्फोट का एकत्व

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए कि रूप-सादृश्य से जो प्रत्यभिज्ञा बताई गई है, वह स्फोट के अभिव्यंजक ध्वनिकृत ही है, अभिव्यंग्य स्फोटकृत नहीं। कारण यह है कि स्फोट के निरवयव होने के कारण उसका सादृश्य ध्वनि (वर्णों) में हो ही नहीं सकता। इससे प्रकृत में यही निकला कि वर्णों के नानात्व होने पर भी उन वर्णों से अभिव्यक्त स्फोट के एकत्व का बाध नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि वर्णों के अतिरिक्त घट, कलश इत्यादि रूप का एक, अखण्ड, विभु और नित्य स्फोटतत्त्व है। यह 'स्फुट्यते वर्णैः-

रभिव्यज्यते' इस व्युत्पत्ति से सिद्ध होता है। जिस प्रकार कम्बुग्रीव आदि अवयवों के अतिरिक्त घट आदि अवयवी सिद्ध होता है, उसी प्रकार वर्णों के अतिरिक्त स्फोट नाम का शब्द सिद्ध होता है। वह पद नाम का शब्द है, जो अर्थ के स्फुटीकरण से ही स्फोट कहा जाता है।

सांख्यों का मत

स्फोट की सिद्धि हो जाने पर भी सांख्यों ने इसका खण्ड करने की चेष्टा की है। उनका सूत्र है—'प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः'। इसका तात्पर्य यह है कि जिन वर्णों को आप (स्फोटवादी) अभिव्यञ्जक मानते हैं, वे गृहीतसंकेत (जिनका संकेतज्ञान हो चुका है) अभिव्यञ्जक हैं, अथवा अगृहीत-संकेत? गृहीत संकेत वर्णों को अभिव्यञ्जक मानने की अपेक्षा उन वर्णों को ही वाचक मान लेने में लाघव है, स्फोट की कल्पना व्यर्थ है। अगृहीतसंकेतवाले वर्णों को अभिव्यञ्जक मानने पर सबको अर्थबोध होना चाहिए, जो होता नहीं है। भाव यह है कि वर्णसमुदाय को स्फोट का बोधक मानने पर वर्णसमुदाय ही अर्थ का वाचक हो सकता है, स्फोट की कल्पना व्यर्थ ही है। यदि वर्णसमुदाय से अनभिव्यक्त स्फोट को बोधक मानें, तब तो अज्ञात स्फोट का बोधक होना असम्भव ही है। इस स्थिति में भी स्फोट की कल्पना व्यर्थ ही है। इस प्रकार सांख्य लोग स्फोट का खण्डन करते हैं।

स्फोटवादियों द्वारा सांख्यमत का खण्डन

स्फोटवादियों का कहना है कि सांख्यों का उपर्युक्त कथन अनर्गल-मात्र है। इसका कारण इस प्रकार है—स्फोटवादी कहते हैं कि अगृहीतसंकेतवाले वर्णों से भी स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, अन्यथा 'इदमेकं पदम्', यह एक पद है, इस प्रकार का सर्वजनीन अनुभव नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि जहाँ अगृहीतसंकेत-वाले वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ केवल पद का ही प्रत्यक्ष होता है, वहाँ अर्थ का बोध नहीं होता और जहाँ गृहीतसंकेतवाले वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ पद आदि का प्रत्यक्ष और अर्थबोध भी होता है, यही दोनों में विशेषता है।

स्फोटवाद में वाचस्पतिमिश्र की सम्मति

वर्णसमुदाय पद नहीं हो सकता; क्योंकि वर्णों के आशुतरविनाशी होने के कारण उनका समुदाय होना असम्भव है, इस प्रकार की आशङ्का में वाचस्पतिमिश्र ने 'तत्त्वबिन्दु' नामक ग्रन्थ में लिखा है—"स्यादेतत् अनवयवमेव

हि वाक्यं वाक्यार्थस्य वाचकम्, न च वर्णा एवानुभूयन्ते न तदतिरिच्यमानशरीरमपि वस्त्विति वाच्यम्, पदमिति, वाक्यमिति, च्चानुपसंहारबुद्धौ अभिन्नस्य वस्तुन उपारोहात्। न खलु इयं बुद्धिः अभिन्नवस्तुनिर्भासा, परस्परव्यतिरिच्यमानात्मनो वर्णानेव गोचरयितुमर्हति, एकत्वनानात्वयोरेकत्रासम्भवात्। न च वर्णात्मनस्त-त्समवायिनो वाक्यस्य कुतस्तदुपरागवती प्रख्या? इति वाच्यम्, तदतिरिच्यमानमूर्त्तीनां परमार्थसतां वर्णानामभावात्।'—अर्थात् ठीक है, परन्तु वाक्यार्थ का वाचक शब्द (वाक्य) वर्णों के अतिरिक्त निरवयव है। अनुभव तो वर्णों का ही होता है, वर्णों के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष भान नहीं होता है, यह नहीं कहा जा सकता। अनुपसंहारबुद्धि (साहित्यावगाही ज्ञान) में यह पद है, यह वाक्य है, इस प्रकार की अभिन्न एक वस्तु के उपारोह (भान) से यह स्पष्ट होता है कि वर्णों से भिन्न एक तत्त्व अवश्य है, जो वाक्यार्थ का बोधक होता है। यह पद है, यह वाक्य है, इस प्रकार की भिन्न बुद्धि परस्पर विभिन्न वर्णों को ही विषय करती है, किसी दूसरे को नहीं, यह भी नहीं कह सकते। एकत्व और नानात्व इन दोनों का एकत्र समवाय हो नहीं सकता; क्योंकि ये दोनों शीतत्व और उष्णत्व के समान परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, इनका एक काल में एक आश्रय में रहना असम्भव है। वाक्यों के वर्णात्मक होने से वर्णात्मक में यह वाक्य है इस प्रकार की बुद्धि का यह कारण है,कि वाक्यों के अतिरिक्त मूर्त्तिवाले परमार्थसत् कोई वर्ण है ही नहीं। इस प्रकार की उक्ति-प्रत्युक्ति से मिश्रजी ने स्पष्ट ही वाक्यस्फोट को मान्यता दी है। स्फोट को नहीं मानने पर 'वाक्यादतिरिच्यमानमूर्त्तीनां परमार्थसतां वर्णानामभावात्'—वाक्य के अतिरिक्त परमार्थसत् वर्णों का अभाव ही है, इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र का कहना बिलकुल असंगत हो जाता है। एक बात और है—'अ इ उ ण्' सूत्र के भाष्य में 'आकाशदेशः शब्दः' में एकवचन-प्रयोग के स्वारस्य से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आद्य (प्रथम) ध्वनि से अन्तिम ध्वनि-पर्यन्त प्रत्येक ध्वनि से उत्तरोत्तर अधिक प्रकाशमान एक ही स्फोटतत्त्व अभिव्यक्त होता है। इसलिए, स्फोट का एकत्व और अखण्डत्व स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

इसपर पुनः एक आशङ्का होती है—'आकाशदेशः शब्दः' में एकवचन के प्रयोग से उसका विषय वर्णों के अतिरिक्त पद या वाक्य होता है, वर्ण नहीं, यही भाष्यकार का आशय सूचित होता है। इस स्थिति में एकवचन के स्वारस्य से एक अखण्ड स्फोट की कल्पना व्यर्थ सिद्ध होती है। यह आशङ्का भाष्य का आशय न समझने से ही हुई है। कारण यह है कि 'अकारमपि नोपलभते' इस उपक्रम-ग्रन्थ से विरोध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि 'नैको द्रष्टा आदित्यमनेकाधिकरणस्थं युगपद्देशपृथक्त्वेनोपलभते। अकारं पुनरुपलभते।' इस ग्रन्थ से नानात्व की शंका कर

'अकारमपि नोपलभते' यह उत्तर भाष्यकार ने दिया है कि अकार की भी उपलब्धि नहीं होती है। अनुपलब्धि के कारण की जिज्ञासा में भाष्यकार ने कहा है—'श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः।' यहाँ 'अकारमपि-नोपलभते' इस उक्ति के स्पष्ट सूचित है कि 'आकाशदेशः शब्दः' में एकवचन के प्रयोग से एकत्व का विषय पद या वाक्य नहीं है, किन्तु स्फोट है। क्योंकि, पद और वाक्य में तो अकारादि वर्णों की उपलब्धि होती ही है। पद या वाक्य को एकवचन का विषय मानने पर 'अकारमपि नोपलभते' यह वाक्य ही असंगत हो जाता है। इस भाष्य-सन्दर्भ और 'तत्त्वबिन्दु' में उल्लिखित पंक्तियों पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्ण आदि से भिन्न एक, नित्य और अखण्ड स्फोट-तत्त्व ही अर्थ का वाचक होता है, वर्ण या वर्णात्मक पद या वाक्य नहीं। वर्ण आदि तो उसके अभिव्यञ्जक-मात्र हैं।

शब्द के विषय में मीमांसकों और नैयायिकों के विचार

शब्द के स्वरूप के विषय में वैयाकरण और मीमांसकों में परस्पर मतभेद होने पर भी ये दोनों शब्द को नित्य मानते हैं। मीमांसक यद्यपि स्फोट नहीं मानते, तथापि वे लोग शब्द को नित्य-निरवयव और अखण्ड मानते ही हैं, केवल स्फोट-रूप शब्द को नहीं मानते। इनके मत में वर्णात्मक शब्द ही नित्य, निरवयव और अखण्ड है। इन दोनों के अतिरिक्त वैशेषिक, जैन और बौद्ध आदि तार्किक शब्द को अनित्य ही मानते हैं। वैमत्य का कारण यह है कि मीमांसकों के मत में शब्द में अर्थबोधकत्व शक्ति और अर्थों के साथ उसका सम्बन्ध दोनों स्वाभाविक हैं। स्वाभाविक का अर्थ है नित्य। इसपर नैयायिक वैशेषिकों का यह आक्षेप होता है कि सम्बन्ध नित्य तभी हो सकता है, जब सम्बन्धी नित्य हो। इसी प्रकार धर्मी के नित्य होने पर ही उनका धर्म भी नित्य हो सकता है। इस स्थिति में शब्द का अर्थबोधकत्व धर्म तभी नित्य हो सकता है, जब उसका धर्मी शब्द नित्य हो। परन्तु, शब्द तो आशुविनाशी होने के कारण अनित्य है। इसलिए, शब्द का अर्थबोधकत्व धर्म स्वाभाविक नहीं हो सकता। शब्द में अर्थ-प्रत्यायकत्व धर्म यदि स्वाभाविक हो, तो प्रथमश्रुत शब्द (जिसका शक्तिग्रहण नहीं हुआ है) से भी अर्थ का बोध हो जाना चाहिए, जो होता नहीं है। तात्पर्य यह है कि—

शब्द यदि नित्य अविनश्वर हो, तभी किसी प्रकार वृद्ध-परम्परा से पूर्वपूर्वतन जनों द्वारा उस शब्द का अर्थज्ञान होना भी सम्भव है। इस स्थिति में उसका अर्थबोधकत्व होना स्वाभाविक मान सकते हैं। परन्तु, शक्तिज्ञान-रहित पहले-पहल सुना गया शब्द अर्थबोधक नहीं होता; क्योंकि शक्तिज्ञान का

अभाव है। इससे यही प्रतीत होता है कि शब्द का अर्थ-प्रत्यायक धर्म स्वाभाविक नहीं है, किन्तु पुरुषकृत संकेत ही समझना चाहिए।

एक बात और भी है कि शब्द में अर्थबोधकत्व धर्म को यदि स्वाभाविक नित्य माना जाय, तब तो शक्ति का ज्ञान (जो शब्दबोध में कारण होता है) व्यर्थ हो जायगा; क्योंकि अर्थबोधकत्व शब्द का स्वाभाविक धर्म होने से शक्ति-ज्ञान के विना भी शब्द के श्रवणमात्र से उसका अर्थबोध हो जायगा। परन्तु, बात यह है कि शक्तिज्ञान के विना शब्द-श्रवणमात्र से उसका अर्थबोध नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि शब्द का अर्थबोधकत्व धर्म स्वाभाविक नहीं है।

नैयायिक-मीमांसकों के मत

नैयायिकों का कहना है कि शब्द के नित्य होने पर ही उसका अर्थबोधकत्व धर्म स्वाभाविक हो सकता है। परन्तु, शब्द तो अनित्य है, इसलिए उसका अर्थबोधकत्व धर्म भी स्वाभाविक नहीं है। इसपर मीमांसक कहते हैं कि शब्द के अनित्य होने में कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए शब्द और उसकी अर्थबोधकत्व-शक्ति और अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध नित्य है, अनित्य नहीं।

शब्द-नित्यत्व के विरोध में नैयायिक मत

मीमांसक-मत के विरोध में नैयायिकों का कहना है कि प्रत्यक्ष और अनुमान-प्रमाणों के बल पर शब्द को अनित्य ही माना जायगा। यह तो प्रत्यक्ष ही देखा जाता है कि प्रथम शब्द के उच्चारण के बाद द्वितीय शब्द के उच्चारण-काल में प्रथम शब्द नष्ट हो जाता है। अनुमान भी है कि जो वस्तु प्रयत्न के पहले उपलब्ध न हो और प्रयत्न के बाद ही उसकी उपलब्धि होती हो, वह अनित्य ही होती है। जैसे—घट, पट आदि। कुलाल के व्यापार के पहले घट उपलब्ध नहीं होता, कुलाल-व्यापार के बाद ही घट उपलब्ध होता है, इसलिए वह अनित्य है। जो वस्तु प्रयत्न-विशेष के बाद ही उपलभ्यमान हो, प्रयत्न के पहले नहीं, वह अनित्य ही होती है। इसी प्रकार शब्द भी प्रयत्न-विशेष के बाद ही उपलब्ध होता है, उसके पहले नहीं। इसलिए, प्रयत्न-विशेष से उत्पन्न होने के कारण शब्द भी अनित्य ही सिद्ध होता है।

शब्द अभिव्यक्ति-मात्र नहीं है

मीमांसक शब्द को प्रयत्न-जन्य न मानकर अभिव्यक्ति-मात्र मानते हैं। अभिव्यक्ति पूर्वसिद्ध वस्तु की ही होती है, अतः शब्द पूर्वसिद्ध ही रहता है। इस-

पर नैयायिकों का कहना है कि शब्द को यदि प्रयत्न से अभिव्यक्त माना जाय, उत्पन्न नहीं, तब तो प्रयत्नों के पहले भी शब्द का किसी प्रकार ज्ञान हो सकता है। परन्तु, प्रयत्न के पहले उसका ज्ञान नहीं होता। इसलिए, शब्द की अभिव्यक्ति न होकर उत्पत्ति ही होती है। उत्पत्ति अनित्य वस्तु की ही होती है, नित्य की नहीं। अतः, शब्द अनित्य है।

इसपर पुनः मीमांसक कहते हैं कि शब्द को प्रयत्नजन्य मानने पर ही शब्द अनित्य हो सकता है, अन्यथा नहीं, ऐसा है नहीं। प्रयत्न से शब्द उत्पन्न नहीं होता, केवल अभिव्यक्त होता है। जिस प्रकार अन्धकारावृत गृह में वर्त्तमान घट का भी प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रदीप आदि के आ जाने से उसका प्रत्यक्ष होने लगता है। यहाँ प्रदीप घट का उत्पादक नहीं होता, किन्तु अभिव्यञ्जक ही। इसी प्रकार, ध्वनि से नित्य वर्त्तमान शब्द की अभिव्यक्ति-मात्र होती है, उत्पत्ति नहीं। ध्वनि उसका अभिव्यञ्जक-मात्र है, उत्पादक नहीं। इस स्थिति में शब्द को नित्य मानना ही युक्त प्रतीत होता है।

उपर्युक्त मीमांसक-मत का खण्डन करने के लिए तार्किक कहते हैं कि पूर्वोक्त कथन तर्कविरुद्ध है। कारण यह है कि किसी वस्तु की अभिव्यक्ति दो ही प्रकार से हो सकती है—एक तो प्रतिबन्धक के निराकरण से, दूसरा संस्कार के उत्पादन से। जैसे, परदे के भीतर वर्त्तमान घट आदि पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिबन्धक परदे के निराकरण से घट आदि की अभिव्यक्ति होती है और उनका प्रत्यक्ष होने लगता है। संस्काराधान से अभिव्यक्ति जैसे, म्लान दर्पण में प्रतिबिम्ब की उपलब्धि नहीं होती। जब भस्म आदि से उसका संस्कार कर दिया जाता है, तब प्रतिबिम्ब की उपलब्धि होने लगती है। ये ही दो अभिव्यक्ति के कारण हैं। इसमें प्रतिबन्धक का निराकरण तो कह नहीं सकते; क्योंकि प्रतिबन्धक के रहने पर ही उसका निराकरण सम्भव है, अन्यथा नहीं। परन्तु, यहाँ कोई प्रतिबन्धक नहीं है, जिसके निराकरण करने से शब्द की अभिव्यक्ति मानी जाय। इसलिए, शब्द की उत्पत्ति मानना ही युक्त है।

मीमांसक का उत्तर

प्रतिबन्धक नहीं है, ऐसा तार्किकों का कहना ठीक नहीं है। श्रोत्र में रहनेवाले स्तिमित (स्थिर) वायु-रूप अभिव्यक्ति के प्रतिबन्धक का निराकरण करना ही प्रतिबन्धक का निराकरण है, जो प्रयत्नजन्य कोष्ठोद्भूत (कोष्ठ से उत्पन्न) वायु से होता है। जब प्रयत्न से उत्थापित वायु के द्वारा श्रोत्र के आच्छादक प्रतिबन्धकी-

भूत श्रोत्रगत विस्तृत वायु का निराकरण हो जाता है, तब शब्द की अभिव्यक्ति होने लगती है।

तार्किकों का कथन

इनका कहना है कि मीमांसकों का कथन युक्त नहीं है। कारण यह है कि आप (मीमांसकों) के मत में वर्णों के व्यापक होने के कारण वर्णात्मक शब्द भी व्यापक ही होते हैं। इस स्थिति में एक श्रोत्र में सब शब्दों की स्थिति माननी ही होगी, इस अवस्था में प्रयत्न से उत्थापित कोष्ठवायु से जब श्रोत्र के आच्छादक प्रतिबन्धक वायु का निराकरण हो जायगा, तब एक काल में ही सब शब्दों का श्रवण होना चाहिए, जो होता नहीं है। इसलिए, प्रतिबन्धक के निराकरण से शब्द की अभिव्यक्ति नहीं मान सकते।

अब बाकी रहा संस्काराधान। यह भी युक्त नहीं प्रतीत होता। कारण है कि संस्काराधान भी तीन प्रकार से हो सकता है। शब्द का संस्कार, श्रोत्र का संस्कार अथवा दोनों (शब्द और श्रोत्र) का संस्कार। यदि कोष्ठोद्भूत वायु से शब्द का संस्कार मान लें, तो शब्द के एक और व्यापक होने के कारण समस्त देशों में उसका श्रवण होना चाहिए, जो होता नहीं है। काशी के संस्कृत-शब्दों का कोष्ठवायु से मथुरा आदि दूरस्थ देशों में भी श्रवण होना चाहिए, जो नहीं होता। सकल शब्दों का संस्कार नहीं हुआ है, अतः सर्वत्र सब शब्दों का श्रवण नहीं होता, यह भी नहीं कह सकते। क्योंकि, सकल शब्दों का संस्कार न मानने पर भी उनके अवयवों का ही संस्कार मानना पड़ेगा, परन्तु वह हो नहीं सकता। कारण यह है कि आप (मीमांसकों) के मत में शब्द निरवयव है, इसलिए अवयव-शून्यता की दशा में अवयवों का संस्कार कैसा? इसलिए कोष्ठवायु से शब्द-मात्र का संस्कार मानना ही होगा और सर्वत्र उपलब्धि-रूप दोष बना ही हुआ है। यही कुमारिलभट्ट ने पूर्वपक्षीय वार्त्तिक में कहा है—

> सा हि स्याच्छब्दसंस्कारादिन्द्रियस्योभयस्य वा।
> तत्र सर्वैः प्रतीयेत शब्दः संस्क्रियते यदि॥
> निर्भागस्य विभोर्न स्यादेकदेशे हि संस्क्रिया।
> न चास्याधारभेदेन संस्कारनियमो भवेत्॥
> यतः शब्दो निराधारो व्योमात्मादिवदेव च। इत्यादि

इसका तात्पर्य यह है कि शब्द की अभिव्यक्ति संस्काराधीन मानने पर यह आशङ्का होती है कि किसके संस्कार से अभिव्यक्ति होती है, शब्द के या श्रोत्र के अथवा उभय (शब्द और श्रोत्र) के संस्कार से ? शब्द का संस्कार मानने पर सर्वत्र सबकी उपलब्धि होनी चाहिए। यदि यह कहा जाय कि सर्वत्र सब शब्दों का संस्कार नहीं हुआ रहता है, इसलिए जहाँ संस्कार है, उससे अन्यत्र उपलब्धि नहीं होती, तो निर्विभाग शब्द के एक देश (अवयव) के नहीं होने से एकदेश का संस्कार कह नहीं सकते। आप (मीमांसकों) के मत में आधार-भेद से शब्द का संस्कार भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि शब्द तो आकाश और आत्मा के समान निराधार ही माना गया है। इसलिए शब्द का संस्कार नहीं मान सकते। श्रोत्र के संस्कार मानने पर भी वे ही पूर्वोक्त दोष आ जाते हैं। जैसे काणादों के मत में श्रोत्र को आकाशरूप, सांख्यों के मत में अहङ्काररूप और मीमांसकों के मत में दिक्रूप, माना गया है। इस अवस्था में आकाश, अहङ्कार और दिक् के व्यापक तथा एक होने के कारण श्रोत्र को भी व्यापक और एक ही मानना पड़ेगा। इस स्थिति में एक श्रोत्र में संस्कार होने से सकल श्रोत्र का संस्कार मानना ही होगा, इसलिए सर्वत्र सबको एक काल में शब्द का प्रत्यक्ष होना चाहिए। दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है—

कणाद, कपिल और मीमांसक इन तीनों के मत में क्रमशः आकाश, अहङ्कार और दिक्रूप श्रोत्र को माना गया है, और वह श्रोत्र आकाश आदि के समान ही सर्वगत, अनवयव और एक ही सिद्ध होता है। इस अवस्था में एक देश में होनेवाली ध्वनि से उस व्यापक श्रोत्र के संस्कृत हो जाने पर सर्वत्र सबको शब्द की उपलब्धि अनिवार्य हो जाती है। कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्त्तिक में कहा है—

> आकाशश्रोत्रपक्षे च विभुत्वात् प्राप्तितुल्यता।
> दूरभावेऽपि शब्दानामिति ज्ञानं प्रसज्यते॥
> श्रोत्रस्य चैवमेकत्वं सर्वप्राणभृतां भवेत्।
> तेनैकश्रुतिवेलायां शृणुयुः सर्व एव ते॥
> तस्यानवयवत्वाच्च न धर्माधर्मसंस्कृतः।
> नभोदेशो भवेच्छ्रोत्रं व्यवस्थाद्वयसिद्धये॥
> वैशेषिकादिसिद्धान्तेष्वेवं तावत् प्रसज्यते।
> कापिलेऽपि विभुत्वेन श्रोत्रादेरियमेव दिक्॥

इस सन्दर्भ में यही दिखाया गया है कि श्रोत्र और शब्द को एक मानने पर सब प्राणियों को एक काल में शब्द का प्रत्यक्ष होने लगेगा, जो होता नहीं है।

श्रोत्र-संस्कार पक्ष में दोष

इस पक्ष में एक दोष दिखाया गया है एक किसी शब्द की उपलब्धि के लिए श्रोत्र-इन्द्रिय के संस्कृत हो जाने पर समस्त शब्दों का बोध होने लगेगा। कारण यह है कि श्रोत्र संस्कृत है और उसका विषय समस्त शब्द है। जिस प्रकार घट को देखने के लिए उन्मीलित नेत्र समीपस्थ पटादि वस्तुओं को भी देख लेता है, उसी प्रकार किसी शब्द की उपलब्धि के लिए संस्कृत श्रोत्र-इन्द्रिय सब शब्दों का एक काल में बोध करा सकती है। कुमारिलभट्ट ने कहा है—

> सकृच्च संस्कृतं श्रोत्रं सर्वशब्दान् प्रबोधयेत्।
> घटायोन्मीलितं चक्षुः पटं न हि न बुध्यते॥

शब्द-संस्कार-पक्ष में भी दोष

श्रोत्र-संस्कार-पक्ष में जो यह दोष दिखाया गया है कि सब शब्दों की उपलब्धि सबको होने लगेगी, यह दोष शब्द-संस्कार-पक्ष में भी है। कारण यह है कि समस्त शब्द व्यापक होने से श्रोत्रदेश में अवस्थित रहते हैं। उनमें एक के भी संस्कार के समय बलात् सबका संस्कार हो जायगा। क्योंकि, समान देश में रहनेवाले और समान इन्द्रियों से ग्राह्य पद-पदार्थों में किसी का संस्कार हो और किसी का न हो, इसमें कोई व्यवस्था नहीं है। श्लोकवार्त्तिक में कुमारिलभट्ट ने कहा है—

> एतदेव प्रसक्तव्यं विषयस्यापि संस्कृतौ।
> समानदेशवर्त्तित्वात् संस्कारोऽप्यविशेषतः॥
> स्थिरवाय्वपनीत्या च संस्कारोऽस्य भवन् भवेत्।
> दृष्टं वाऽऽवरणापाये तद्देशाऽन्योपलम्भनम्॥
> संस्कृताऽसंस्कृतत्वे च शब्दैकत्वे न सिध्यतः।

इसका तात्पर्य यह है कि श्रोत्र संस्कार और शब्द-संस्कार-पक्षों में समान रूप से यह दोष आता है कि सब शब्दों की सर्वत्र उपलब्धि होने लगेगी। कारण यह है कि शब्द की उपलब्धि के प्रतिबन्धक स्थिर वायु के अपनयन (निराकरण) से जो संस्कार होगा, वह समान देश में रहनेवाले समस्त शब्दों का अविशेषतः

होगा। क्योंकि, किसी का संस्कार हो और किसी का न हो, ऐसा कोई नियम नहीं। प्रतिबन्धक आवरण के नाश होने पर उस देश में रहनेवाले अन्य पदार्थों का भी उपलम्भन, अर्थात् साक्षात्कार होना देखा गया है। एक बात और है कि शब्द को यदि एक निरवयव मानते हैं, तो एक ही वस्तु संस्कृत और असंस्कृत दोनों कैसे हो सकती ? इस प्रकार, श्रोत्र और शब्द इनमें किसी एक के संस्कार में दोष हो जाने से उभय संस्कार-पक्ष में भी वे सब दोष आ जाते हैं, जो प्रत्येक संस्कार-पक्ष में बताये गये हैं।

तीनों का निष्कर्ष

इस प्रकार श्रोत्र, शब्द और उभय इन तीनों में किसी के संस्कार मानने में दोष आ जाने से यही सिद्ध होता है कि शब्द प्रयत्न का अभिव्यंग्य नहीं है, किन्तु उससे जन्य है। यदि प्रयत्न से शब्द की अभिव्यक्ति सिद्ध होती, तो किसी प्रकार शब्द को नित्य भी मान सकते थे, परन्तु ऐसा है नहीं। प्रयत्न से शब्द की उत्पत्ति होती है, यही मानना युक्त होता है। जब उक्त युक्ति से शब्द का जन्य, अर्थात् उत्पत्तिशील होना सिद्ध हो जाता है, तब उसी जन्यत्व (उत्पत्तिशीलत्व) हेतु से उसका अनित्य होना भी सिद्ध हो जाता है। शब्द के अनित्यत्व का साधक अनुमान इस प्रकार होता है—शब्दः (पक्ष) अनित्यः (साध्य), कार्यत्वात् (हेतु), घटवत् (दृष्टान्त) जो-जो कार्य, अर्थात् उत्पत्तिशील है, वह अनित्य है (व्याप्ति)। इस प्रकार, जब शब्द का अनित्य होना सिद्ध हो जाता है, तब उसका प्रादेशिक होना भी सिद्ध ही है। क्योंकि, जो अनित्य होता है, वह प्रादेशिक भी अवश्य ही होता है। शब्द के प्रादेशिक मानने पर ही कोई किसी शब्द को सुनता है, कोई नहीं सुनता, या एक बार सबको सब नहीं सुन पड़ते, इस प्रकार का लोकप्रसिद्ध प्रत्यक्षानुभूत नियम भी उत्पन्न होता है। और, श्रोत्र इन्द्रिय भी कर्ण-शष्कुली को ही मानना युक्त प्रतीत होता है। श्रोत्र को आकाश, दिक् आदि स्वरूप मानने पर उसको व्यापक मानना ही होगा। इस स्थिति में यह राम का श्रोत्र है, वह श्याम का इत्यादि श्रोत्र की व्यवस्था नहीं हो सकती।

शब्द के व्यापकत्व में अन्यान्य दोष

शब्द को यदि व्यापक मानते हैं, तो इस शब्द को इसने सुना और इसने नहीं सुना इत्यादि शब्द की व्यवस्था ठीक नहीं होती और पूर्वोक्त अव्यवस्था तो बनी ही है। साथ-साथ एक बात और है कि शब्द को यदि नित्य और

एक माना जाय, तो नाना देशों में रहनेवाले नाना व्यक्तियों द्वारा उच्चारित शब्द नाना देश में उपलब्ध नहीं हो सकता। शबरस्वामी ने अपने भाष्य में इसी बात को स्पष्ट किया है—'नानादेशेषु च युगपच्छब्दमुपलभामहे, तदेकस्य नित्यस्याऽनुपपन्नम्'—अर्थात्, नाना देशों में एक समय शब्दों का श्रावण प्रत्यक्ष हमें होता है, यदि शब्दों को नित्य और एक मानते हैं, तो यह अनुपपन्न हो जाता है। इस भाष्य को उदाहरण-रूप में देते हुए पार्थसारथिमिश्र ने शास्त्रदीपिका में लिखा है—'तत्र शब्दस्याऽनुपपन्नमिति प्रतिज्ञा, एकस्येति हेतुः, नित्यो हि असौ एकः स्यात् एकस्य च अनुपपन्नं नानादेशेषूपलम्भनमिति।' अर्थात् इस भाष्य-वाक्य में 'नित्यस्य अनुपपन्नम्' यह प्रतिज्ञा है, और 'एकस्य' यह हेतु है। नित्य होने से ही शब्द एक सिद्ध होता है, और एक का नानादेश में एक समय उपलम्भन (प्रत्यक्ष) होना असम्भव है। यहाँ प्रतिज्ञा और हेतु के प्रदर्शन का तात्पर्य यही है कि न्याय के पाँचों अवयव (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन) शब्द के अनित्य होने में समन्वित हो जाते हैं।

साध्यभूत धर्म से युक्त धर्मी के प्रतिपादक वाक्य का नाम प्रतिज्ञा है। अथवा साध्यविशिष्ट पक्ष के निर्देशक वाक्य का नाम प्रतिज्ञा है। न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम ने कहा है—'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा'। जैसे—शब्दः अनित्यः, पर्वतो वह्निमान्—शब्द अनित्य है, पर्वत अग्निमान् है, यह प्रतिज्ञावाक्य है। लिङ्ग-प्रतिपादक वाक्य हेतु है, जैसे धूमवत्त्वात्—धूमवान् होने से। यह अग्नि का साधक हेतु है। शब्दः अनित्यः—शब्द अनित्य है, इस प्रतिज्ञा का साधक कृतकत्वात् या कार्यत्वात्—उत्पत्तिशील या कार्य होने से, यह हेतु है। व्यक्ति के साधक दृष्टान्तवचन को उदाहरण कहते हैं। जैसे—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है, इस व्याप्ति के साधकवचन को उदाहरण कहते हैं, जैसे महानस (रसोईघर), यह उदाहरण है। हेतु के उपसंहार-वचन को उपनय कहते हैं। जैसे, उसी प्रकार यह पर्वत भी धूमवान् है। पक्ष में साध्य के उपसंहार-वचन को निगमन कहते हैं। जैसे, उसी प्रकार यह पर्वत भी अग्निमान् है।

इस प्रकार के पञ्चावयव अनुमान से भी यही सिद्ध होता है कि शब्द अनित्य और अव्याप्यवृत्ति है।

इसका अनुमान इस प्रकार होता है—'शब्दः अनित्यः'—शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), कृतकत्वात्—उत्पत्तिशील होने के कारण (हेतु), जो-जो कृतक हैं, वे, सब अनित्य हैं, जैसे घट आदि (उदाहरण), उसी प्रकार यह शब्द भी कृतक (उत्पत्तिशील) है (उपनय), इसलिए शब्द अनित्य है (निगमन)। इन पञ्चावयव-वाक्यों से युक्त अनुमान द्वारा यही सिद्ध होता है कि शब्द भी घटादि के समान

अनित्य—प्रादेशिक है। जो शब्द को एक, नित्य और व्यापक मानते हैं, वह युक्त नहीं है; क्योंकि अनुमानविरुद्ध हो जाता है।

शब्द के नित्यत्व में आशङ्का

जो नित्य होता है, वह एक ही होता है, ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है, जिसके बल पर नित्य शब्द को एक ही माना जाय, और एक होने पर नाना देश में उपलब्धि को अनुपपन्न और अयुक्त माना जाय। इस स्थिति में हो सकता है कि आकाशादि शब्द नित्य होने पर भी अनेक हों। जब गकारादि शब्दों को नित्य और अनेक मान लेते हैं, तब नाना देश में उनका एक काल में प्रत्यक्ष होना अनुपपन्न (अयुक्त) नहीं होता। इसलिए, शब्द को नित्य मानने पर भी अनेक होना मान लें, तो क्या आपत्ति है ?

पूर्वोक्त आशङ्का का समाधान

किसी विशेष कारण के विना नित्य वस्तु को अनेक नहीं मान सकते, यह सिद्धान्त सर्वजनप्रसिद्ध है। शास्त्रकारों ने भी लिखा है—'असति विशेषे नित्यस्य नानेकत्वम्'—कोई विशेष कारण न होने से नित्य वस्तु अनेक नहीं हो सकती। यदि विशेष कारण के विना भी नित्य को अनेक माना जाय, तो आकाश अनेक क्यों नहीं हो ? यदि यह कहा जाय कि अनेक देश में सकल शब्दों की उपलब्धि होती है, यही एक विशेष कारण है, जिससे शब्द को नित्य होने पर अनेक मान सकें। यह कथन ठीक नहीं है। शब्द को अनित्य मानने पर भी अनेक देश में शब्दों की उपलब्धि हो सकती है और नित्य मानने पर भी व्यापक होने से हो सकती है, इसलिए यह (अनेक देश में उपलब्धि) कोई विशेष कारण नहीं हो सकता, जिससे नित्य शब्द को अनेक मान सकें। दूसरी बात यह है कि मीमांसक लोग 'स एवायं गकारः'—वही यह गकार है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा को शब्द के नित्यत्व में सबसे बढ़कर प्रमाण मानते हैं। एकत्व का अवगाहन करनेवाली बुद्धि को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।

'स एवायं गकारः'—वह यही गकार है, इस प्रत्यभिज्ञा से गकार की एकता सिद्ध होने पर ही शब्द को नित्य सिद्ध कर सकते हैं। यदि उक्त प्रत्यभिज्ञा से वर्णों की एकता सिद्ध न हो, तो शब्द का नित्य होना भी सिद्ध नहीं होता; क्योंकि पूर्व में सुने गये गकार के नष्ट हो जाने पर यह दूसरे ही गकार का श्रवण हो रहा है, इस प्रकार की भी कल्पना हो सकती है। इसलिए, जो शब्द को नित्य मानते हैं, उन्हें वर्ण को एक मानना ही पड़ेगा।

एक बात और है कि जिस प्रकार एक काल में नाना व्यक्तियों से उच्चारित गकारादि व्यक्तियों में प्रतीति की विशेषता नहीं होती, किन्तु 'स एवायम्' वही यह है, इस प्रकार की अविशेषता ही रहती है, उसी प्रकार गत दिन के उच्चारित ग व्यक्ति से आज के उच्चारित ग व्यक्ति में भिन्नता ही है, इस प्रकार का कुछ विशेष ज्ञान नहीं होता, जिससे वर्णों को अनेक माना जाय। पहले कह चुके हैं कि विशेष कारण के न रहने पर नित्य को अनेक नहीं मान सकते। इसी कारण वर्णों को एक ही मानना समुचित प्रतीत होता है।

जिस प्रकार हमारे (नैयायिकों के) मत में सादृश्य मात्र से 'स एवायं गकारः' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है, यहाँ प्रत्यभिज्ञा का विषय एकत्व के गकार में नहीं रहने से प्रत्यभिज्ञा को अप्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार आप (मीमांसकों) के मत में भी गकार के अनेकत्व स्वीकार करने में प्रत्यभिज्ञा शुक्ति में रजत के समान अप्रमाण हो जायगी। परन्तु, यह आपका अभिमत नहीं है। प्रत्यभिज्ञा के अप्रमाण होने पर उस पूर्वोच्चरित गकार के न रहने पर भी उससे भिन्न गकार में 'स एवायम्' इस प्रकार का ज्ञान होता ही है। यहाँ इस गकार का पूर्वकाल के साथ सम्बन्ध न होने से पहले सुना हुआ गकार दूसरा ही था, जो नष्ट हो गया है, और यह दूसरा ही गकार है, यह मानना होगा। इस स्थिति में गकारादि वर्ण स्पष्ट ही अनित्य हो जाते हैं। इस अवस्था में शब्द को नित्य मानना बिलकुल अनुपपन्न हो जाता है। इसलिए शब्द नित्य नहीं है, अपितु अनित्य है, यही युक्त है।

इस प्रकार, जब शब्द का अनित्य होना सिद्ध हो जाता है, तब सादृश्यमूलक प्रत्यभिज्ञा होने में भी कोई आपत्ति नहीं होती है। जिस प्रकार दीप की कलिका (ज्वाला) प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न होती हुई भी 'सैवेयं दीपकलिका' वही यह 'दीप-कलिका है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा सादृश्यमूलक होती है, उसी प्रकार 'स एवायं गकारः,' वही यह गकार है, इस प्रकार की सादृश्यमूलक प्रत्यभिज्ञा होने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसलिए शब्द अनित्य और अव्याप्य वृत्ति है, यह सिद्ध हो जाता है। यही तार्किकों की मान्यता है।

तार्किक के मत पर मीमांसक का कथन

तार्किकों के तर्क पर मीमांसकों का कहना है कि तार्किक प्रयत्नों के बाद शब्द की उपलब्धि होने के कारण ही प्रयत्नजन्य होना समझकर इस जन्यत्व हेतु से शब्द को अनित्य सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं, परन्तु यह युक्त नहीं है। कारण यह है कि आप (तार्किक) प्रयत्न के बाद शब्द की उपलब्धि होने से ही शब्द को

जन्य मानते हैं, यह आपका भ्रम है। कारण यह है कि शब्द प्रयत्न का अभिव्यंग्य है, जन्य नहीं, इस पक्ष को मानने पर भी प्रयत्न के बाद शब्द की अभिव्यक्ति होती है। क्योंकि, सभी अभिव्यंग्य पदार्थों की उपलब्धि अभिव्यञ्जक व्यापार के बाद ही होना नियमसिद्ध है। कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्त्तिक में कहा है —

> प्रयत्नानन्तरं दृष्टेनैकान्त्यात् कार्यता ध्वनेः।
> तदभिव्यङ्ग्यपक्षेऽपि युज्यते तत्र दर्शनम्॥

इसका तात्पर्य यह है कि प्रयत्न के बाद शब्द की उपलब्धि होने मात्र से ही उसे कार्य (उत्पत्तिशील) नहीं मान सकते। क्योंकि, यह तो अभिव्यक्ति-पक्ष में भी प्रयत्न के बाद ही शब्द की उपलब्धि युक्त ही होती है।

तार्किकों का कथन

इसपर तार्किक कहते हैं कि अभिव्यक्ति तो संस्कार के अधीन है और संस्कार श्रोत्र शब्द या उभय का ही होना सम्भव है, और तीनों में किसी का भी उसमें दोष दिखाया जा चुका है —'सबको शब्द की उपलब्धि होनी चाहिए, संस्कार मानें, तो भी या सब शब्दों की एक काल में ही उपलब्धि होनी चाहिए' इत्यादि।

मीमांसकों का कथन

उपर्युक्त तर्क पर मीमांसक कहते हैं कि आकाश या अहङ्कार को श्रोत्र मानने पर ही, उसके व्यापक होने के कारण ही सबको सब शब्दों की उपलब्धि-रूप दोष आप (तार्किक) दिखाते हैं, परन्तु यह युक्त नहीं है। क्योंकि, हम मीमांसकों के यहाँ कर्णशष्कुली को ही श्रोत्र माना गया है और वह प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न है। इसलिए सबका श्रोत्र एक व्यापार से संस्कृत नहीं हो सकता, जिससे सब लोगों को शब्द-श्रवण का प्रसङ्ग-रूप दोष हो सके। एक बात और भी है कि आकाश को श्रोत्र मान लेने पर भी शब्द-श्रवण की समुचित व्यवस्था हो जाती है। जैसे, श्रोत्र-भूत आकाश का यदि साक्षात् संस्कार हो, तभी एक संस्कार से सबके संस्कार की सम्भावना होने से सबको या सब शब्दों के श्रवण-रूप दोष का प्रसङ्ग हो सकता था, परन्तु ऐसा होता नहीं। श्रोत्र-भूत आकाश का संस्कार तो अधिष्ठानभूत कर्णशष्कुली द्वारा ही सम्भव है। इस स्थिति में जिसकी कर्णशष्कुली का संस्कार होता है, वह उस शब्द को सुनता है, दूसरा नहीं। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर कोई भी आपत्ति नहीं उठती।

इसपर पुनः शङ्का होती है कि श्रोत्र के अधिष्ठान यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं, तथापि आकाशस्वरूप व्यापक श्रोत्र-इन्द्रिय तो एक ही है, इस स्थिति में एक किसी अधिष्ठान में इन्द्रिय का संस्कार हो जाने पर समस्त इन्द्रिय का संस्कार हो जाने से सब लोगों को सब शब्दों की उपलब्धि-रूप पूर्वोक्त दोष बना ही रहता है। इसी बात को वार्त्तिककार ने लिखा है—

नन्वेकस्मिन्नधिष्ठाने लब्धसंस्कारमिन्द्रियम्।
बोधकं सर्वदेहेषु स्यादेकेन्द्रियवादिनः॥

अर्थात्, एकेन्द्रियवादियों के मत में एक किसी अधिष्ठान में इन्द्रिय का संस्कार हो जाने पर सकल देहों में वह समस्त शब्दों का बोध करा सकती है।

इस शङ्का का समाधान भी कुमारिलभट्ट ने ही दिया है—

पुंसां देहप्रदेशेषु विज्ञानोत्पत्तिरिष्यते।
तेन प्रधानवैदेश्याद् विगुणा सा तु संस्कृतिः॥

इसका तात्पर्य यह है कि जीव के व्यापक होने पर भी किसी देहविशिष्ट में ही ज्ञान होता है, इसलिए शब्द का ज्ञान भी किसी देहविशिष्ट में ही होगा। इससे यही भाव निकलता है कि जिस देह की कर्णशष्कुली में संस्कार हुआ है, उसी देह में शब्द का श्रवण भी होता है दूसरे देह-विशिष्ट में नहीं। एक बात और भी है कि सगुण (गुणसहित) संस्कार ही ज्ञान आदि का उपकारक हो सकता है और प्रधान (सम्पाद्य) के साथ एकदेश में रहना ही संस्कार का गुण है।

इस स्थिति में देवदत्तीय कर्णशष्कुली का संस्कार यज्ञदत्तीय देह में ज्ञान उत्पन्न करने में भिन्न-देश होने के कारण गुणहीन, अर्थात् विगुण हो जाता है। इसी कारण यज्ञदत्त के शरीर विशिष्ट में ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि, नियम प्रधान (सम्पाद्य) के समान देश में रहना ही अङ्गभूत संस्कार का उपकारक होना है।

एक बात और है कि केवल एक, शुद्ध, अखण्ड आकाश ही श्रोत्र नहीं है, जिससे श्रोत्र को एक ही माना जाय, किन्तु कर्णशष्कुली से युक्त ही आकाश श्रोत्र-इन्द्रिय है और वह प्रतिपुरुष भिन्न-भिन्न है। जिस प्रकार महाकाश के एक होने पर भी घट आदि उपाधिभेद से घटाकाश, मठाकाश आदि परस्पर भिन्न भिन्न अनेक प्रकार के होते हैं, उसी प्रकार कर्णशष्कुली से युक्त आकाशदेश भी परस्पर भिन्न भिन्न ही हैं, एक नहीं। अहङ्कार या दिग् भाग को श्रोत्र मानने में भी व्यवस्था हो

जाती है। पूर्वपक्षी ने जो यह दोष दिया है कि 'सकृच्च संस्कृतं श्रोत्रं सर्वशब्दान् प्रबोधयेत्'—अर्थात् एक बार का संस्कृत श्रोत्र सब शब्दों का बोध करा देगा। इसका परिहार यह होगा—तालु, कण्ठ आदि स्थान-विशेष के सम्पर्क से विजातीय और विलक्षण शक्ति-युक्त ध्वनियों में कोई ध्वनि किसी शब्द के ही अनुरूप संस्कार को उत्पन्न करती है, सर्व साधारण शब्द के संस्कार को नहीं। तात्पर्य यह है कि वक्ता की ध्वनि जब तालुस्थान से संयुक्त होती है, तब उसमें एक ऐसा विलक्षण संस्कार या सामर्थ्य उत्पन्न होता है कि उस ध्वनि से समीपस्थ आदमियों के श्रोत्र का संस्कार होने पर इ चु य और श इन तालव्य वर्णों का ही श्रवण होता है, अन्य वर्णों का नहीं। क्योंकि, तालुस्थान के संयोग से तालव्य वर्णों के श्रवण का ही संस्कार उसमें उत्पन्न हुआ है, अन्यों का नहीं। इसी प्रकार अन्य स्थान और वर्णों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। इसे स्पष्टतः समझने के लिए यों कहा जा सकता है कि, तत्-तत् वर्णों के जनक स्थानविशेष के सम्पर्क से तत्-तत् वर्णों के ही अभिव्यञ्जक संस्कार उत्पन्न होते हैं, जिससे अन्य किन्हीं वर्णों का श्रवण नहीं होता है। इस प्रकार श्रोत्र के संस्कार-पक्ष में व्यवस्था समझ लेनी चाहिए। शब्द-संस्कार पक्ष में भी इसी प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिए।

श्रोत्र-संस्कार और शब्द-संस्कार में विशेषता

इनमें विशेषता यह है कि श्रोत्र संस्कार-पक्ष में श्रोत्र का संस्कार ही शब्दोपलब्धि का व्यवस्थापक होता है, वहाँ शब्द संस्कार की अपेक्षा नहीं रहती। शब्द-संस्कार-पक्ष में शब्द का संस्कार ही शब्दोपलब्धि का व्यवस्थापक होता है, वहाँ श्रोत्र के संस्कार की आवश्यकता नहीं रहती। किसी ध्वनिविशेष से किसी शब्द का ही संस्कार होता है, सबका नहीं। जिन शब्दों की उपलब्धि नहीं होती, समझना चाहिए कि उनका संस्कार नहीं हुआ है। साथ-साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि शब्द का संस्कार होने पर भी वक्ता के समीप में रहनेवालों को ही शब्द का श्रवण होता है, दूर में रहनेवालों को नहीं, क्योंकि इसमें दूरत्व ही प्रतिबन्धक हो जाता है।

पूर्वपक्ष और समाधान

उपर्युक्त कथन पर एक शङ्का होती है कि ध्वनि को शब्द का संस्कार मानने पर उसे सकल शब्दों का संस्कारक और अभिव्यञ्जक मानना पड़ेगा। इस शङ्का का समाधान एक लौकिक दृष्टान्त द्वारा दिया जा सकता है। घट, पट और नक्षत्र आदि सकल दृश्यमान पदार्थ चक्षु-इन्द्रिय के समान रूप से विषय (ग्राह्य) होते हैं, परन्तु अभिव्यञ्जक सूर्य के तेज से घट, पट आदि का तो प्रत्यक्ष होता है, किन्तु

नक्षत्रों का नहीं। कारण यह है कि सूर्य का तेज घटादि का ही अभिव्यञ्जक होता है, नक्षत्रों का नहीं, नक्षत्रों का तो वह तिरोधायक ही होता है। और, जिस प्रकार निम्ब की त्वक् (छाल) चन्दन की गन्ध की ही अभिव्यञ्जिका होती है, दूसरी गन्धों की नहीं, उसी प्रकार किसी ध्वनि से उसी शब्द का ही संस्कार होता है, जिसकी अभिव्यक्ति होती है, किसी दूसरे शब्द का नहीं। शब्द-संस्कार-पक्ष में सबको शब्द की उपलब्धि होनी चाहिए, इस प्रकार की शङ्का का समाधान—

संस्कारक ध्वनि अव्याप्यवृत्ति, अर्थात् प्रादेशिक है। इसलिए, किसी एक देश में ही शब्द का संस्कार होगा, सर्वत्र नहीं। इस अवस्था में संस्कृत शब्द के समीप जिसका श्रोत्र होगा, उसे ही उसका प्रत्यक्ष होगा, सबको नहीं। इसलिए, अन्यदेशस्थ पुरुषों को शब्द का प्रत्यक्ष नहीं होता।

अनेकत्र वस्तु की एक काल में उपलब्धि में जैमिनि का मत

जैमिनि ने लिखा है—'आदित्यवद् यौगपद्यम्', अर्थात् एक ही सूर्य के एक काल में अनेक देशों में प्रत्यक्ष होने के समान एक ही व्यापक गकारादि शब्दों का युगपत् नाना देशों में प्रत्यक्ष होता है। जब सूर्य के प्रादेशिक होने पर भी स्वयं प्रकाश और अतिदूरस्थ होने के कारण युगपत् अनेक देशों में प्रत्यक्ष होता है, तब शब्द के व्यापक होने से इसका अनेक देश में प्रत्यक्ष होना स्वाभाविक ही है। जिस प्रकार अनेक देश में युगपत् प्रत्यक्ष का विषय होने से सूर्य अनेक नहीं होता, उसी प्रकार व्यापक शब्द भी अनेक देश में युगपत् उपलब्ध होने मात्र से अनेक नहीं हो सकता।

सूर्य के दृष्टान्त द्वारा कथन का समर्थन

सूर्य को ही अनेक मानकर अनेक देश में युगपत् उपलब्धि नहीं मानी जा सकती। कारण यह है कि काशी, प्रयाग, मथुरा आदि विभिन्न देशों में रहनेवाले सभी सूर्य को उदयकाल में अपने से पूर्व देखते हैं, मध्याह्न में ऊपर और अस्त के समय अपने से पश्चिम देखते हैं। अब यहाँ यह विचार करना है कि काशी आदि विभिन्न देशों के निवासियों के लिए पूर्व, पश्चिम और ऊपर का भाग स्पष्ट ही भिन्न-भिन्न है। इसप्रकार, तात्कालिक सूर्य के अधिकरण-देश के भिन्न होने पर भी पूर्व आदि देशों में दृश्यमान एक ही सूर्य का विभिन्न देश में प्रत्यक्ष होना स्पष्ट प्रतीत होता है। इसी प्रकार, एक व्यापक शब्द का भी एक समय अनेक देश में प्रत्यक्ष होना विरुद्ध नहीं होता, प्रत्युत शब्द के व्यापक होने से युक्त ही होता है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि भेद केवल देश का ही है, सूर्य का नहीं। पार्थसारथिमिश्र ने लिखा है—

युगपद्देशभेदश्च स्यादेकस्यापि सूर्यवत्।
ये विन्ध्यनिलया ये च कामरूपे व्यवस्थिताः॥
प्राग्भागे ह्यात्मनः सर्वैरुद्यन् भास्वान्निरीक्ष्यते।
प्रत्यग्भागे तथास्तं यन् मध्याह्ने चोपरि स्थितः॥
भिन्नाश्च तेषां प्राग्भागास्तथा प्रत्यक् तथोपरि।
तेष्वस्य दृश्यमानस्य विस्पष्टा भिन्नदेशता॥
(शास्त्रदीपिका)

भावार्थ यह है कि सूर्य के समान शब्द का भी एक काल में देशभेद हो सकता है। जो विन्ध्याचल के या कामरूप के निवासी हैं, वे सभी उगते हुए सूर्य को अपने से पूर्व, अस्त होते हुए सूर्य को पश्चिम और मध्याह्न में ऊपर की ओर देखते हैं। उन सब दर्शकों के पूर्व, पश्चिम और ऊपर के भाग भिन्न-भिन्न हैं और उन विभिन्न देशों में दीख पड़नेवाले सूर्य के देश का भेद स्पष्ट है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य के देशभेद होने पर भी सूर्य में भेद नहीं होता, अर्थात् सूर्य एक ही है, अनेक नहीं। उसी प्रकार व्यापक एक शब्द के विभिन्न देश में उपलब्ध होने से शब्द का भेद नहीं हो सकता।

सूर्य के एकत्व में प्रत्यक्ष प्रमाण

वायुयान द्वारा देहली से यात्रा करते समय जितनी दूरी पर आप सूर्य को देखते हैं, उतनी ही दूरी पर उसी एक सूर्य को कलकत्ता या कराची या बम्बई, कहीं भी जाते समय आप देखते रहेंगे, कहीं भी दूसरा सूर्य आपको नहीं दीख पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भिन्न भिन्न देश में सूर्य की उपलब्धि होने पर भी सूर्य एक ही है, अनेक नहीं। कुमारिलभट्ट ने इसे यों लिखा है—

पश्यन्त्येके च यद्देशावुदयास्तमयौ रवेः।
तावत्येवाभिमन्यन्ते परस्तात्तन्निवासिनः॥
न च भिन्ना निरीक्ष्यन्ते तेन नादित्यभिन्नता।

इसका तात्पर्य यही होता है कि एक आदमी जिस देश में जितनी दूरी पर सूर्य को उगते या अस्त होते देखता है, उतनी दूरी पर रहनेवाले भी उसी देश में

उतनी ही दूरी पर उसे देखते हैं, परन्तु भिन्न सूर्य को कोई भी नहीं देखता। इसलिए सूर्य का भेद नहीं होता।

एकदेशस्थ का युगपत् अनेक देश में प्रत्यक्ष का कारण

यद्यपि एकदेशस्थ सूर्य का अनेक देश में विरोध होने से युगपत् स्थिति नहीं हो सकती, तथापि उस सूर्य के स्थिति-देश को नहीं जाननेवाले पुरुष अपने समीप में ही अध्यास (भ्रम) कर लेते हैं। अर्थात्, अपने सामीप्य के अभाव में भी अपने समीप मान लेते हैं। उसी प्रकार उनके आगे दूर देश में रहनेवाले भी अपने सामीप्य के अभाव में अपने समीप मान लेते हैं। देश-भेद के अभाव में भी देश-भेद मानना, यही अध्यास है। जैसे रज्जु में (जो सर्प नहीं है) सर्पबुद्धि कर लेना ही अध्यास माना जाता है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि सूर्य के सामीप्य का अध्यास होने से नाना देश में उसका प्रत्यक्ष होना युक्त प्रतीत होता है, परन्तु शब्द में ऐसी स्थिति नहीं है, तो शब्द का नाना देश में प्रत्यक्ष कैसे ?

इस शङ्का का समाधान यह है कि शब्द के एक तथा व्यापक होने से अनेक देश में उसका प्रत्यक्ष सम्भव है, कारण कि शब्द की अभिव्यञ्जिका ध्वनि अव्याप्य-वृत्ति है, व्यापक नहीं। इस स्थिति में व्यापक एक शब्द के अभाव होने पर भी अव्याप्यवृत्ति ध्वनि के देश-भेद होने के कारण शब्द का भी देश-भेद भासित होता है।

तार्किकों का आक्षेप

इनका आक्षेप है कि इन्द्रियों के प्राप्यकारी होने से विषयों का इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने पर ही विषय का प्रत्यक्ष होता है, अन्यथा नहीं। इस स्थिति में श्रोत्र-इन्द्रिय जब विषय-प्रदेश में जाकर उसके साथ सम्बद्ध होगी, तभी उस देश का ग्रहण कर सकेगी, अन्यथा नहीं। प्रकृत में दूर देश में जो शब्द का ग्रहण होता है, वह नहीं होना चाहिए। कारण यह है कि उस दूर देश का श्रोत्र के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ है, इसलिए उस देश का श्रोत्र से ज्ञान नहीं होना चाहिए। जब ध्वनि के उत्पत्ति-देश का ही ग्रहण (ज्ञान) नहीं होता है, तब ध्वनि के उत्पत्ति-देश-विशिष्ट शब्द का ग्रहण अनुपपन्न हो जाता है; क्योंकि विशिष्ट बुद्धि में विशेषण का ज्ञान होना अत्यावश्यक है। जैसे—'दण्डी पुरुषः', यहाँ दण्डी (दण्डविशिष्ट) का ज्ञान तबतक नहीं हो सकता, जबतक दण्ड का ज्ञान न हो; क्योंकि दण्ड विशेषण है,

और विशिष्ट बुद्धि में विशेषण का ज्ञान कारण होता है। प्रकृत में उत्पत्ति-देश-विशिष्ट शब्द का ग्रहण होता है। यहाँ उत्पत्ति-देश भी शब्द का विशेषण है, इसलिए शब्द के ज्ञान में उत्पत्ति-देश का भी ज्ञान होना आवश्यक हो जाता है। और उत्पत्ति-देश के साथ श्रोत्र का सम्बन्ध न होने से तद्विशिष्ट शब्द का ज्ञान अनुपपन्न ही है।

मीमांसक द्वारा आक्षेप का समाधान

तार्किकों का आक्षेप तभी युक्त हो सकता था, जब ध्वनि के उत्पत्ति-देश-विशिष्ट शब्द का ग्रहण होता, परन्तु ऐसा है नहीं। यहाँ तो श्रोत्र ही स्वरूप मात्र से शब्द का ग्रहण कराता है। तो भी जिस दिशा से ध्वनि आती है, उस देश-विशिष्ट शब्द का तो ग्रहण होता ही है, और दिशा तो व्यापक होने से श्रोत्र के साथ सम्बद्ध ही है, इसलिए उसका ज्ञान श्रोत्र से होना सम्भव ही है, असम्भव नहीं। यद्यपि दिक् स्वतन्त्रतया श्रोत्र का ग्राह्य (विषय) नहीं है, तथापि शब्द के ग्रहण होने पर उसके विशेषण होने से उसका भी ग्रहण होता ही है।

जैसे, काल किसी इन्द्रिय का विषय (ग्राह्य) नहीं है, तो भी 'तदानीं घट आसीत्', 'इदानीं घटो वर्त्तते'—उस समय घट था, इस समय घट है इत्यादि स्थलों में घट के विशेषण होने से काल-विशिष्ट घट का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। यहाँ कालविशिष्ट ही घट का ग्रहण होता है, केवल घट का नहीं। यदि काल का ग्रहण न हो, तो कालविशिष्ट का ग्रहण कदापि नहीं हो सकता।

इस सम्बन्ध में एक शङ्का

श्रोत्र-इन्द्रिय सम्बद्ध विषयों का ही ग्रहण करती है। इस स्थिति में ध्वनि के उत्पत्ति-देश के दूर होने के कारण श्रोत्र के साथ सम्बन्ध न होने से ध्वनि के उत्पत्ति-देश का श्रोत्र से किस प्रकार हो सकता है?

मीमांसक द्वारा समाधान

समीप देश से आई हुई ध्वनियाँ तीव्र होती हैं और तीव्र शब्द को बोधित करती हैं। इसी प्रकार दूर से आई हुई ध्वनि मन्द, दूरतर से आई हुई मन्दतर और मन्दतम होती जाती है और मन्द, मन्दतर और मन्दतम शब्दों को बोधित करती है। तीव्र शब्द का बोध होने से ध्वनि का उत्पत्ति-देश समीप है; मन्द शब्द का

बोध होने से दूर और मन्दतर शब्द का बोध होने से दूरतर ध्वनि-देश की प्रतीति अनुमान से ही होती है।

अब यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि शब्द का ग्रहण श्रोत्रदेश में ही होता है, कारण यह है कि गृह्यमाण शब्द का परमार्थ देश श्रोत्र ही है। जब शब्द के परमार्थभूत श्रोत्रदेश का ग्रहण नहीं होता और उक्त मन्दत्वादि हेतु से अनुमान द्वारा ध्वनि के उत्पत्ति-देश का ग्रहण होता है और शब्द का भी, उस समय शब्द और उत्पत्ति-देश के परस्पर सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध के भ्रम से पूर्व या पश्चिम दिशा में इतनी दूरी पर शब्द हो रहा है इत्यादि प्रतीति होती है। जिस प्रकार 'इदं रजतम्' इत्यादि स्थल में 'इदम्' का अंश जो पुरोवर्त्ती द्रव्य है, उसका प्रत्यक्ष होने पर और रजत का स्मरण होने पर पुरोवर्त्ती देश और रजत, इन दोनों के सम्बन्ध न रहने पर भी भ्रम से ही यह रजत है, इस प्रकार का दोनों (पुरोवर्त्ती देश और रजत) में सम्बन्ध भासित है। उसी प्रकार यहाँ प्रकृत शब्द और ध्वनि के उत्पत्ति-देश में सम्बन्ध न रहने पर भी भ्रम से ही सम्बन्ध भासित होता है।

शब्द के नित्यत्व, अनित्यत्व और इन्द्रियों के प्राप्यकारित्व आदि का विचार

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि शब्द अनित्य (क्षणिक) है अथवा नित्य ? यदि शब्द को क्षणिक मानते हैं, तो समीप में रहनेवाले को शब्द-ग्रहण होने के बाद ही वह शब्द नष्ट हो जायगा, और दूर रहनेवाले को शब्द का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि समीपस्थ के शब्द सुनने के बाद ही वह शब्द नष्ट हुआ रहेगा। शब्द को नित्य मानने में भी समीपस्थ को चिरकाल-पर्यन्त उसका श्रवण होते रहना अनिवार्य हो जायगा। परन्तु, ऐसा होता नहीं है।

इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है कि शब्द के ग्रहण में दिग्-विशेष के ग्रहण को मीमांसक भ्रम बताते हैं। यहाँ शब्द के अनित्य माननेवाले बौद्धों का यह आक्षेप होता है कि, सति बाधके भ्रान्तित्वं भवति'—बाधक रहने पर ही भ्रान्ति की सम्भावना मानी जाती है। जैसे, 'नेदं रजतम्'—यह रजत नहीं है, इस प्रकार के अन्त में बाधज्ञान होने से ही शुक्ति में रजत ज्ञान को भ्रम माना जाता है, परन्तु प्रकृत में पूर्व दिशा में उतनी दूरी पर शब्द हो रहा है, इस प्रकार की प्रतीति को आप (मीमांसक) भ्रम बता रहे हैं, किन्तु यहाँ किसी बाधक का ज्ञान नहीं होता। इस स्थिति में बाधक-ज्ञान के अभाव में भी भ्रम बताना न्यायविरुद्ध है, अतः अयुक्त हो जाता है।

शब्द के नित्यत्व में विशेषता

शब्द को नित्य और एक यदि माना जाता है, तभी उक्त ध्वनि-देश-प्रतीति को भ्रान्ति मानने की आवश्यकता होती है। अन्यथा नाना देशों में उत्पत्ति-विनाश-शाली नाना शब्दों की उपलब्धि होने के कारण 'पूर्वादि दिशा में इतनी दूरी पर शब्द हो रहा है, इत्यादि प्रतीति भ्रान्ति कदापि नहीं हो सकती। और, शब्द को नित्य मानने पर उसके उत्पत्ति-विनाश न होने के कारण ध्वनि से श्रोत्रदेशस्थ ही शब्द की अभिव्यक्ति माननी होगी, इस स्थिति में ध्वनिदेशस्थ शब्द की अभिव्यक्ति मानने पर ध्वनिदेश के साथ श्रोत्र के सम्बन्ध न होने से शब्द की उपलब्धि नहीं हो सकती। कारण यह है कि श्रोत्र-इन्द्रिय प्राप्यकारी (सम्बद्धग्राही) होती है, अर्थात् सम्बद्ध वस्तु का ही ग्रहण करनेवाली होती है, यह नियम है। इसलिए, इस पक्ष में श्रोत्रदेशस्थ ही शब्द की अभिव्यक्ति माननी होगी, इस स्थिति में श्रोत्रदेशस्थ ध्वनि के उत्पत्ति-देश के साथ सम्बन्ध न होने पर भी वहाँ शब्द हो रहा है, इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, उसको भ्रान्ति मानना पड़ता है।

परन्तु, यह मानना युक्त नहीं होता। कारण यह है कि शब्द का नित्य और एक होना 'स एवायं गकारः', वही यह गकार है, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा से ही सिद्ध होता है, परन्तु वहाँ सादृश्य मानकर प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति सिद्ध हो जाने से प्रत्यभिज्ञा को ही भ्रम क्यों न मान लिया जाय ?, जिससे 'तत्र शब्दः', वहाँ शब्द है, इस प्रतीति को भ्रम न मानना पड़े। इसका तात्पर्य यही है कि दूरदेश में शब्द-प्रतीति को भ्रम तभी मानना पड़ता है, जब शब्द का नित्यत्व और एकत्व सिद्ध हो। शब्द का नित्यत्व और एकत्व उक्त प्रत्यभिज्ञा के अधीन है, और प्रत्यभिज्ञा सादृश्यमूलक है, अभेदमूलक नहीं। इस अवस्था में भेद होने पर भी अभेद मानकर जो प्रत्यभिज्ञा होती है, उसी को भ्रम मानना युक्त प्रतीत होता है। जब अभेदमूलक प्रत्यभिज्ञा का भ्रम होना सिद्ध होता है, तब शब्द का नित्य होना और एक होना भी सिद्ध नहीं होता, इस स्थिति में शब्द अनित्य और अनेक स्वतः सिद्ध हो जाता है। यही शब्द के अनित्य माननेवाले पूर्वपक्षियों की आशङ्का का तात्पर्य है।

मीमांसकों का कथन

उपर्युक्त आशङ्का के उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि यह बात युक्त है कि 'स एवायं गकारः', इस प्रत्यभिज्ञा को जबतक अभ्रान्त न माना जाय, तबतक ध्वनिदेश में शब्द-प्रतीति को भ्रम नहीं मान सकते, परन्तु नाना देश में शब्द की उपलब्धि को भ्रान्ति मानना अपरिहार्य (आवश्यक) हो जाता है। कारण यह है

कि शब्द के अनित्यत्व-पक्ष में भी श्रोत्र के सम्बद्धग्राही होने के कारण श्रोत्रगत शब्द का ही ग्रहण होता है, यही मानना पड़ेगा। इस स्थिति में श्रोत्रगत शब्द का वक्ता के मुखदेश के साथ जो सम्बन्ध प्रतीत होता है, उसको भ्रम मानना आवश्यक हो जाता है। इस अवस्था में प्रत्यभिज्ञा और नाना देश में शब्द की उपलब्धि, इन दोनों को भ्रान्ति मानने की अपेक्षा नाम देश में उपलब्धि को ही भ्रान्ति मानना युक्त प्रतीत होता है। कारण यह है कि श्रोत्र के प्राप्यकारी होने से और वक्ता के मुखगत शब्द का श्रोत्र से किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने से उसको भ्रान्ति मानना युक्त है।

सौगत मत

सौगत मत में इन्द्रियों को प्राप्यकारी माना गया है, इसलिए उनके मत में दूरदेश में शब्द-प्रतीति को भ्रम नहीं माना जाता। बौद्धों का कहना है कि इन्द्रियों के प्राप्यकारी सिद्ध होने पर ही श्रोत्र को सम्बन्धग्राही माना जा सकता है। इस अवस्था में ग्राह्य शब्द का उसके ध्वनिदेश के साथ सम्बन्ध होने पर भी 'उस दिशा में शब्द हो रहा है' इस प्रकार की सम्बन्ध-प्रतीति को भ्रान्ति कहना युक्त हो सकता था, परन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि, इनके मत में इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं। इनके मत में यदि कोई बाह्य पदार्थ होता, तो उसके साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध भी किसी प्रकार हो सकता था, परन्तु बौद्धों के शून्यवादी होने से और इनके मत में बाह्य पदार्थ न होने से उनके साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध किसी प्रकार भी संभव हो सकता है।

एक बात और भी है कि दूरस्थ विषयों का ही इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है, अत्यन्त समीपस्थ का नहीं। विषयों के प्रत्यक्ष-काल में सम्बन्ध का अनुभव होता भी नहीं, जिससे इन्द्रियों की प्राप्यकारिता स्वीकृत की जाय। बल्कि, प्रत्यक्ष यही देखा जाता है कि इन्द्रियों के संयोग होने पर प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे नेत्र में संसक्त काजल की उपलब्धि नहीं होती। इन्द्रियाँ विषय-देश में जाकर उसका ग्रहण करती हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि दूरस्थित वस्तु को वहाँ गये विना ही नेत्र ग्रहण कर लेता है। हाँ, केवल एक बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि रसना और त्वक् ये दो इन्द्रियाँ सम्बद्ध वस्तु को ही ग्रहण करती हैं।

परन्तु, चक्षु और श्रोत्र ये दो इन्द्रियाँ तो असम्बद्ध वस्तु की ही ग्राहक होती हैं, सम्बद्ध की नहीं; जैसे नेत्र में संसक्त काजल को नेत्र ग्रहण नहीं करता। इस स्थिति में ध्वनिदेशस्थ ही शब्द का ग्रहण होने के कारण ध्वनिदेश के साथ ध्वनि-

देशस्थ शब्द का सम्बन्ध यथार्थ ही होगा, भ्रम नहीं। इसलिए, शब्द और ध्वनि-देश के साथ सम्बन्ध को मीमांसकों का भ्रम बताना युक्त प्रतीत नहीं होता। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानने पर ही दूर देश में शब्द-प्रतीति को भ्रम मानना पड़ेगा, और इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानने पर दूर देश में शब्द-प्रतीति यथार्थ ही रहती है, भ्रम नहीं। इसी कारण बौद्ध इन्द्रियों को अप्राप्य-कारी मानते हैं।

मीमांसक-मत : इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी नहीं

बौद्धमत के विरोध में मीमांसकों का कहना है कि इन्द्रियों को अप्राप्यकारी नहीं मान सकते। कारण यह है कि शब्द के अभिव्यक्ति स्थान के समीपस्थ व्यक्तियों को पहले शब्द सुन पड़ता है और दूरस्थ व्यक्तियों को बाद में। इस विभिन्नता का कारण यह है कि समीपस्थ व्यक्ति के श्रोत्र के साथ शब्द पहले सम्बद्ध होता है और दूरस्थ के साथ बाद में। इसी कारण शब्द की प्रतीति क्रमशः होती है, युगपत् नहीं। इसीलिए, इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानना पड़ता है। इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानने पर इस प्रकार क्रमशः शब्द प्रत्यक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती। कहीं-कहीं युगपत् शब्दानुभव का जो भान होता है, वह भ्रममूलक ही है। क्योंकि, क्षण के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसके क्रम का सम्यक् आकलन होना सबके लिए कठिन है। मेधावी व्यक्ति ही अपनी सूक्ष्मेक्षिका से शब्द-प्रत्यक्ष के क्रमिक होने का यथार्थ अनुभव कर सकते हैं, दूसरे नहीं। उपर्युक्त विवेचना का सारांश यही है कि इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी नहीं हैं। श्लोकवार्त्तिक में कुमारिलभट्ट ने कहा है—

> तत्र दूरसमीपस्थग्रहणाग्रहणे समे।
> स्यातां न च क्रमो नापि तीव्रमन्दादिसम्भवः॥

तात्पर्य यह है कि समीपस्थ व्यक्ति के श्रोत्र के साथ शब्द का सम्बन्ध पहले होने से शब्द तीव्र सुना जाता है, दूरस्थ व्यक्ति के श्रोत्र से बाद में सम्बन्ध होने से मन्द शब्द का श्रवण होता है, अतिदूरस्थ को उसकी इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध नहीं होने से शब्द नहीं भी सुन पड़ता है, इस प्रकार की अनुभवसिद्ध व्यवस्था अप्राप्यकारी पक्ष में सिद्ध नहीं होती है। इसलिए, श्रोत्र का सम्बद्धग्राही होना और नाना देश में शब्द की उपलब्धि का भ्रम होना दोनों सिद्ध हो जाते हैं। एक बात और भी है कि जो श्रोत्र आदि इन्द्रियों को अप्राप्यकारी मानते हैं, ऐसे बौद्धों के प्रति यह प्रश्न होता है कि शब्द क्षणिक है अथवा स्थायी? यदि क्षणिक मानते हैं, तो समीपस्थ व्यक्ति को प्रत्यक्ष होकर वह नष्ट हो जायगा, बाद में दूरस्थ व्यक्ति को

प्रत्यक्ष नहीं हो पायगा। यदि इस दोष के निवारण के लिए शब्द को स्थायी मानें, तो समीपस्थ व्यक्ति को चिरकाल तक उसकी उपलब्धि होनी चाहिए, वह क्यों नहीं होती? बौद्ध इसका उत्तर क्या देंगे?

दूसरी बात यह है कि 'सर्वं क्षणिकम्' कहकर बौद्धों ने सभी पदार्थों को क्षणिक माना है, और यदि शब्द को नित्य-स्थायी माना जाय, तो बौद्धों का सिद्धान्त ही भग्न हो जाता है। इन सब कारणों से बौद्ध लोग इन्द्रियों को असम्बद्ध-ग्राही होना सिद्ध नहीं कर सकते। इस स्थिति में नाना देश में शब्द की प्रतीति को भ्रम मानना आवश्यक हो जाता है। दूसरे शब्दों में यदि श्रोत्र का अप्राप्यकारी होना प्रमाण सिद्ध होता तो देशान्तर में शब्द-प्रतीति को किसी प्रकार यथार्थ भी समझ सकते थे, परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए, नाना देश में शब्द-प्रतीति को भ्रान्ति मानना आवश्यक हो जाता है।

एक बात और भी है कि सौगत मत में आन्तर ज्ञान ही बाह्य पदार्थ के रूप में भासित होता है, अन्य स्थायी बाह्य पदार्थ इनके मत में कुछ भी नहीं है। कुछ और बौद्धों के मत में बाह्य ज्ञानमात्र को ही भ्रम माना गया है। इस स्थिति में नाना देश में शब्द-प्रतीति को भ्रम नहीं मानना बौद्धों के लिए अपने ही सिद्धान्त पर कुठाराघात करना है। ये दोष मीमांसकों के मत में नहीं आ सकते। क्योंकि, उनके मत में ध्वनियों के समीप देश, दूर देश और दूरतर देश में क्रमशः जाने के कारण ध्वनियों से अभिव्यक्त होनेवाले शब्दों का क्रम से उपलब्ध होना युक्त ही होता है कि समीपस्थ पहले सुनता है और दूरस्थ बाद में। यहाँ दूर और समीप होने की व्यवस्था ध्वनि के उत्पत्ति-देश से ही समझना चाहिए।

इसी प्रकार, ध्वनियों के गमनशील और विनाशी होने के कारण उनसे अभिव्यक्ति शब्दों का चिरकाल तक श्रवण न होना भी उपपन्न हो जाता है; क्योंकि अभिव्यञ्जक ध्वनि के अभाव में अभिव्यङ्ग्य शब्द का विराम होना भी स्वाभाविक ही है। इसलिए, शब्द को अनित्य नहीं मान सकते, अपितु वह नित्य, निरवयव, व्यापक और एक है।

शब्द के नित्यत्व और एकत्व का साधन

अर्थ-प्रतीति के अन्यथा (शब्द के नित्य माने विना) अनुपपन्न होने से शब्द को नित्य मानना ही युक्त होता है। तात्पर्य यह है कि यदि शब्द को अनित्य मानते हैं, तो वह प्रत्युच्चारण भिन्न भिन्न होगा, और उच्चारण-काल में ही उच्चार्यमाण (जिसका उच्चारण करते हैं) शब्दों का अर्थ के साथ सम्बन्ध का

ज्ञान होना भी असम्भव ही है। विना सम्बन्ध-ज्ञान के शब्द का अर्थ का प्रत्यायक (बोधक) होना भी असम्भव ही है। यह देखा भी जाता है कि शब्द से अर्थ का बोध होता है, इससे सिद्ध होता है कि शब्द नित्य है, अनित्य नहीं। जब शब्द को नित्य मानते हैं, तब एक समय वृद्ध-व्यवहार से अर्थ का शब्द के साथ सम्बन्ध-ज्ञान हो जाने से सर्वदा अर्थ का बोधक होना सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध-ज्ञान हुए विना शब्द से अर्थ का बोध होना असम्भव ही है। देखा जाता है कि बहुत-से शब्द (अर्थ के साथ जिनका सम्बन्ध-ज्ञान नहीं है) सुनने पर भी उससे अर्थ का बोध नहीं होता। कारण यही है कि उनके अर्थ के साथ सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है। शब्द के सम्बन्ध-ज्ञान में व्यवहार ही मुख्य कारण है। अनित्यवादी के मत में उच्चारण-काल में ही वृद्ध-व्यवहार से अर्थ के साथ सम्बन्ध-ज्ञान होना असम्भव है। इससे सिद्ध होता है कि अनित्य मानने पर सम्बन्ध के ज्ञान न होने से अर्थ का बोध जो हो जाता है, वह नहीं हो सकता।

अनित्य-पक्ष में शङ्का-समाधान

यहाँ शङ्का यह होती है कि शब्दों के अनित्य मानने पर भी उन शब्दों में किसी एक शब्द व्यक्ति का अर्थ के साथ सम्बन्ध-ज्ञान हो जाने पर उसी सम्बन्ध-ज्ञान से शब्द को अर्थ का बोधक होना क्यों न मान लिया जाय? इसका समाधान यही है कि गृहीत सम्बन्धवाले किसी एक घटादि व्यक्ति का सम्बन्ध-ज्ञान होने पर उसका अर्थ-बोधक होना युक्त हो, परन्तु उसके अतिरिक्त किसी अन्य घटादि शब्द का बोधक होना असम्भव ही है। अन्यथा, गृहीत सम्बन्धवाले शब्दों के अतिरिक्त अगृहीत सम्बन्धवाले जितने गवादि शब्द हैं, उन सबोंका अर्थबोधकत्व होने लगेगा। इस स्थिति में गो शब्द का सम्बन्ध-ज्ञान होने पर अश्व शब्द भी बोधक होने लगेगा। इसपर बौद्धों का कहना है कि यह ठीक है कि गो शब्द का सम्बन्ध-ज्ञान होने से अश्व शब्द बोधक नहीं हो सकता; क्योंकि, अश्व शब्द गो शब्द के सदृश नहीं है, परन्तु, जो शब्द गृहीत सम्बन्धवाले शब्दों के सदृश हैं, उनके बोधक होने में क्या आपत्ति है? जैसे प्रथम उच्चारित गो शब्द का सम्बन्ध-ज्ञान होने पर उसके सदृश अन्य गो शब्द का भी बोधक होना युक्त ही प्रतीत होता है, अयुक्त नहीं।

मीमांसकों का कथन

उपर्युक्त बात के उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि यदि कोई भी गो या घटादि शब्द मुख्य अर्थवान् होता (जिसका सम्बन्ध-ज्ञान हो चुका हो), तो यह कहना युक्त भी हो सकता था कि उसके सादृश्य से यह भी बोधक हो सकता है, परन्तु इस

प्रकार का कोई भी शब्द अनित्यवादियों के मत में नहीं है, जिसका सम्बन्ध-ज्ञान हो चुका हो। कारण यह है कि शक्ति का ज्ञान अन्वयव्यतिरेक से होता है, और अन्वयव्यतिरेक का ज्ञान दो-चार बार उसकी उपलब्धि के विना असम्भव ही है। अनित्य का तात्पर्य है, उच्चारण के बाद ही नष्ट हो जाना, और जो नष्ट हो गया उसका द्वितीय बार उच्चारण हो नहीं सकता और उच्चारण के विना उसकी उपलब्धि भी नहीं हो सकती। कारण यह है कि शब्द तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है, अतएव अनित्य है, इसलिए अर्थ की उपलब्धि के समय वह रहेगा नहीं, क्योंकि वह नश्वर है। अनेक बार उच्चारण न हो सकने के कारण उसकी उपलब्धि बाधित हो जाती है। इस परिस्थिति में किसी भी गो, घट आदि शब्दों के अर्थ के साथ सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता, जिसके कारण उसके सादृश्य से अन्य गो, घट आदि शब्दों का अर्थ के प्रत्यायक (बोधक) होना सिद्ध किया जा सके। दूसरे शब्दों में यों कहा जायगा—

शब्द को यदि उच्चरितप्रध्वंसी मानें, जैसा कि बौद्ध मानते हैं, तब तो उसकी स्वाभाविक जो अर्थाभिधान करने की शक्ति है, उसका ज्ञान करना अशक्य हो जाता है। कारण यह है कि वृद्ध-व्यवहार में पुनः-पुनः उसका प्रयोग या व्यवहार देखने से ही अस्वार्थ के परिहारपूर्वक स्वार्थ के अभिधान का सामर्थ्य निश्चित किया जाता है और उच्चारित-मात्र नष्ट हो जानेवाले शब्दों का पुनः-पुनः उच्चारण हो नहीं सकता। पुनः-पुनः उच्चारण के अभाव में उनका प्रयोग भी नहीं देख सकते, पुनः-पुनः प्रयोग न देखने से उनके अर्थाभिधान सामर्थ्य का भी ज्ञान नहीं हो सकता और यह ज्ञान न होने से प्रथमश्रुत शब्द के समान ही द्वितीय-तृतीय बार श्रुत शब्द भी अर्थबोध कराने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए, शब्द को नित्य और एक मानना आवश्यक हो जाता है।

शब्द की अनित्यता और अनेकता : पूर्वपक्ष

यहाँ आशङ्का यह होती है कि शक्तिग्रह-काल में ही दो-तीन बार पहले शब्द को सुनने पर उन शब्दों की अर्थ-प्रतीति के साथ ही अन्वयव्यतिरेक से शक्ति-ज्ञान हो जाने पर उनके सदृश श्रूयमाण चतुर्थ गो, घट आदि शब्दों के अर्थ के साथ सम्बन्ध-ज्ञान भी होता है, इसलिए उसका अर्थ-प्रत्यायक होना भी युक्त ही होता है और उसके उत्तरकाल में श्रूयमाण गो, घट आदि शब्दों का उसके सादृश्य होने से ही अर्थ का बोधक होना सिद्ध हो जाता है। इसलिए, शब्द को अनित्य और अनेक मानने में भी कोई दोष नहीं होता। अतः, शब्द अनित्य और अनेक है, यह पक्ष युक्त प्रतीत होता है।

मीमांसकों का उत्तर

इनका कहना है कि जिस पुरुष ने दो तीन बार गो शब्द सुना है, उस पुरुष से चतुर्थ श्रूयमाण गो शब्द अर्थवान् होता है। परन्तु, वही चतुर्थ बार श्रूयमाण गो शब्द, जो पहले-पहल सुन रहा है, उसके प्रति वह गो शब्द अनर्थक ही रहेगा; क्योंकि उसने प्रथम-दो तीन गो शब्द नहीं सुने हैं, जिससे उसको शक्तिज्ञान हो। एक ही शब्द किसी के लिए अर्थवान् और किसी के लिए अनर्थक हो, यह युक्त नहीं हो सकता, अपितु विरुद्ध हो जाता है। इसी बात को वार्त्तिककार ने इस प्रकार कहा है—

> अप्रतीतान्यशब्दानां तत्कालेऽसावनर्थकः।
> स एवान्यश्रुतीनां स्यादर्थवानिति विस्मयः॥

इसका तात्पर्य यही है कि जिस पुरुष ने पहले दो तीन बार गो शब्द नहीं सुना हैं, अर्थात् जो प्रथम बार ही सुन रहा है, उसके लिए वह गो शब्द अनर्थक है, और वही गो शब्द पहले दो-तीन बार सुननेवाले के लिए अनर्थक न हो, अर्थात् अर्थवान् हो, यह विस्मय अर्थात् विरुद्ध है। इससे यह सूचित होता है कि उसके सदृश अन्य गो शब्दों से उन पुरुषों को अर्थबोध नहीं होगा।

पूर्वोक्त कथन पर पुनः शङ्का

यदि यह कहें कि एक ही देवदत्त व्यक्ति अपने पिता का पुत्र और अपने पुत्र का पिता होता है, इस प्रकार निरूपक-भेद होने से एक ही देवदत्त को पिता और पुत्र दोनों होने में विरोध नहीं; क्योंकि इसका निरूपक भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार यहाँ भी निरूपक के भेद होने से एक ही शब्द के किसी के प्रति अनर्थक और किसी के प्रति सार्थक होने में कोई आपत्ति नहीं है।

शङ्का का उत्तर

इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि निरूपक के भेद होने से सम्बन्ध के अविरोध होने पर भी अर्थवत्त्व और अनर्थकत्व इन दोनों में परस्पर विरोध न हो। जो अर्थवान् होगा, वह किसी के प्रति भी अर्थवान् ही रहेगा, अनर्थक नहीं होगा, और जो अनर्थक होगा, वह किसी के प्रति भी अर्थवान् नहीं होगा, सबके प्रति अनर्थक ही रहेगा।

इसपर बौद्ध यह कहते हैं कि जिस गो शब्द को मैंने अर्थवान् सिद्ध किया है, वह गो शब्द तो अर्थवान् ही रहेगा, वह अनर्थक कभी नहीं हो सकता, जिससे विरोध

कहा जाय। केवल अर्थज्ञान के कारणीभूत अन्वयव्यतिरेक के ज्ञान न होने से किसी को अर्थज्ञान नहीं होता है, इसलिए वह अनर्थक नहीं हो सकता। जैसे—विद्यमान घटादि पदार्थों के ज्ञान न होने पर भी उनका असत्त्व (अभाव) नहीं हो सकता, इसी प्रकार शब्दों के अर्थवत्त्व का ज्ञान न होने मात्र से उनका अभाव नहीं हो सकता। इसका उत्तर यह होता है कि ऐसा मानने पर उसके उत्तर काल में होनेवाले शब्दों का भी इसी प्रकार स्वाभाविक अर्थवत्त्व होने लगेगा, उसके सादृश्य से नहीं। इस स्थिति में अन्य शब्दों के उसके सादृश्य से अर्थ का बोधक होना जो बौद्धों के मत में माना गया है, वह असङ्गत हो जाता है। इसी बात को वार्त्तिककार ने कहा है—

अथास्य विद्यमानोऽपि कश्चिदर्थो न गम्यते।
तत्तुल्यमुत्तरस्येति किं सादृश्येन वाचकः॥

इसका तात्पर्य यह है कि उत्तरवर्त्ती गवादि शब्दों के सादृश्यमूलक गौण अर्थवत्त्व जो बौद्धों का अभिप्रेत है, वह किसी प्रकार भी उस उक्त स्थिति में संगत नहीं होता; किन्तु मुख्य अर्थवत्त्व ही उनके मत में भी युक्त हो जाता है, यह अपने सिद्धान्त में ही कुठाराघात है। इस विरोध का परिहार इस प्रकार बौद्धों ने किया है कि दो-तीन बार गो शब्द के सुनने के बाद जिस एक गो शब्द का देवदत्त ने शक्तिग्रह के द्वारा अर्थवत्त्व का निश्चय किया है, उसके और उसके उत्तरवर्त्ती गो शब्द के सम्बन्ध-ग्रहण करनेवाले देवदत्त के प्रति अर्थवत्त्व होने पर भी जिसने सम्बन्ध का ज्ञान नहीं किया, उस यज्ञदत्तादि के प्रति अबोधक होने से अर्थ का बोध नहीं होता, इसलिए अनर्थक ही रहता है, इस स्थिति में विरोध नहीं होता। कारण यह है कि एक ही पुरुष के प्रति अर्थवत्त्व और अनर्थकत्व होने में विरोध की सम्भावना होने पर भी पुरुष-भेद होने से विरोध नहीं होता। पुरुष-भेद होने पर किसी पुरुष के प्रति अर्थवत्त्व और किसी पुरुष के प्रति अनर्थकत्व होना यह स्वाभाविक है। यह बौद्धों की मान्यता है। परन्तु,बौद्धों का इस प्रकार भी परिहार करना युक्त नहीं होता। कारण यह है कि यदि शक्तिग्रह के अनन्तर श्रूयमाण उत्तरवर्त्ती शब्दों का जिसने सम्बन्ध-ज्ञान नहीं किया, उसके प्रति अनर्थकत्व मानें, तब तो आप (बौद्धों) के मत में मुख्य अर्थवाले जो शब्द अभिमत हैं, उनका भी किसी के प्रति अबोधक होने से अनर्थक होना सिद्ध हो जाता है। इस स्थिति में बौद्धों के मत में कोई भी शब्द अर्थवान् सिद्ध नहीं होता। कारण यह है कि किसीके प्रति शक्तिज्ञान होने से अर्थवान् होने पर भी जिसने शक्ति का ज्ञान नहीं किया, उसके प्रति वह अबोधक ही रहेगा और अबोधक होने से अनर्थक ही रहेगा। इसी अभिप्राय से कुमारिलभट्ट ने श्लोक-वार्त्तिक में लिखा है—

अनर्थकत्वमिति स्याद् अथानन्यश्रुतीन् प्रति ।
पूर्वस्मिन्नपि तत्सत्त्वात्सर्वानर्थकता भवेत् ।।

अर्थात्, जिसने अन्य गो शब्द को नहीं सुना है, पहले-पहल सुन रहा है, उसके प्रति उस गो शब्द को यदि शक्तिग्रह न होने के कारण अर्थबोधक न होने से अनर्थक माना जाय, तब तो पूर्ववाले गो शब्द (जिसके सादृश्य से उत्तरवाले गो शब्द को बोधक मानते हैं) को भी अनर्थक मानना होगा, कारण यह है कि उस गो शब्द को भी जिसने पहले-पहल सुना है, उसे शक्तिग्रह न होने से उसके प्रति भी अबोधक होने के कारण वह शब्द भी अनर्थक होने लगेगा। इसका तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष ने पहले दो-तीन गो शब्द सुन रखे हैं, उसी पुरुष को अन्वयव्यतिरेक के द्वारा चतुर्थ गो शब्द के अर्थ के साथ सम्बन्ध का ज्ञान होना बौद्धों की मान्यता है। इसलिए उसी पुरुष के प्रति वह चतुर्थ गो शब्द बोधक होने से सार्थक हो सकता है, उसके बादवाले पञ्चम, षष्ठ आदि गो शब्द तो उसी चतुर्थ आदि शब्द के सादृश्य से ही प्रत्यायक होने से सार्थक होंगे।

इस अवस्था में जिस पुरुष ने पहले दो-तीन गो शब्द नहीं सुने, किन्तु पञ्चम गो शब्द को ही पहले-पहल सुन रहा है, उस पुरुष को तो अन्वयव्यतिरेक के ग्रहण न होने से अर्थ के साथ सम्बन्ध-ज्ञान न होने के कारण उस (जिसने प्रथम गो शब्द नहीं सुना) के प्रति पञ्चम गो शब्द भी अप्रत्यायक होने से अनर्थक ही है। इसी प्रकार जिसने पहला गो शब्द नहीं सुना, उसके प्रति चतुर्थ गो शब्द भी अनर्थक ही रहेगा। इसी प्रकार समस्त गो शब्द किसी के अबोधक होने से अनर्थक ही रहेंगे। कारण यह है कि अगृहीत शक्तिवाले किसी के प्रति वे अप्रत्यायक ही रहेंगे, यही उक्त वार्त्तिक का तात्पर्य है।

इस प्रकार, शब्द को अनित्य और अनेक माननेवालों के मत में अनेक प्रकार के पूर्वोक्त दोष और विरोध हो जाते हैं, इस कारण शब्द को नित्य और एक मानना ही युक्त प्रतीत होता है।

शक्ति का स्वरूप

शक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में भी शास्त्रकारों में मतभेद है। नैयायिकों का कहना है—ईश्वर की इच्छा ही शक्ति है। उनकी परिभाषा है—'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः' अथवा 'इदं पदममुमर्थं बोधयतु इत्याकारा ईश्वरेच्छा एव शक्तिः' अर्थात् इस पद से यह अर्थ समझना चाहिए, अथवा यह पद इस अर्थ का बोध

कराये, इस प्रकार की ईश्वरेच्छा ही शक्ति है। यहाँ एक में शब्दप्रकारक अर्थ-विशेष्यक बोध होता है, और दूसरे में अर्थप्रकारक शब्दविशेष्यक बोध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि नैयायिकों के मत में जो प्रथमान्त रहता है, वही मुख्य विशेष्य होता है, जो किसी का विशेषण नहीं होता। ऐसा मुख्य विशेष्य पहली परिभाषा में 'अर्थः' (प्रथमान्त) और दूसरी में 'शब्दः' (प्रथमान्त) है।

शब्द में शक्ति की कल्पना इसलिए की गई है कि लोक में बहुत-से शब्द सुनने पर भी उनके अर्थों का ज्ञान नहीं होता, इसलिए शब्द में ऐसी एक शक्ति मानी गई, जिससे शब्द से अर्थ-ज्ञान हो। शब्द में रहनेवाली उस शक्ति (चीज) को वृत्ति कहते हैं।

वृत्ति के सम्बन्ध में कुछ विचार

वृत्ति से उपस्थित किया गया ही पदार्थ शाब्दबोध का कारण होता है। जबतक पदार्थ की उपस्थिति नहीं होती, तबतक शाब्दबोध नहीं होता, और वृत्तिज्ञान विना पदार्थ की उपस्थिति के नहीं होती, इसलिए शाब्दबोध में वृत्तिज्ञान आवश्यक है। वृत्ति के सम्बन्ध में गदाधरभट्ट ने अपने शक्तिवाद में लिखा है—'संङ्केतो लक्षणा चार्थे पदवृत्तिः'—पद में रहनेवाली जो अर्थनिरूपित वृत्ति है, वही संकेत और लक्षण है। आकाश, सूर्य, चन्द्र, घट, पट आदि पदों में रहनेवाली आकाश, घट आदि पदार्थ निरूपित वृत्ति संकेत है और तीर आदि निरूपित गङ्गा आदि पदों में रहनेवाली वृत्ति लक्षणा है।

यहाँ 'शक्तिलक्षणा चार्थे पदवृत्तिः' यह न कहकर 'सङ्केतो लक्षण चार्थे पदवृत्तिः' यहाँ जो संकेत पद का ग्रहण किया है, उसका अभिप्राय यह है कि आधुनिक संकेत, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि जो पिता आदि से किया गया है उसका संग्रह-शक्ति पद से नहीं होता। कारण यह है कि शक्ति ईश्वर-संकेत को ही कहते हैं, आधुनिक संकेत को नहीं। इसलिए, दोनों (ईश्वर-कृत और आधुनिक) के संग्रह के लिए संकेत पद का प्रयोग आचार्य ने किया है। मीमांसकों का मत 'अभिधारूप शक्ति शब्दों में स्वाभाविक है, संकेत तो केवल उसका ग्राहक-मात्र होता है' नैयायिकों को मान्य नहीं है। इनके मत में संकेत को ही वृत्ति कहते हैं। वैयाकरण लोग शक्ति-विशेष को ही लक्षणा मानते हैं। इनके मत में लक्षणा पृथक् कोई वृत्ति नहीं मानी जाती। इन दोनों मतों के खण्डन के अभिप्राय से ही 'सङ्केतो लक्षणा च' इन दोनों पदों का वृत्ति-लक्षण में ग्रहण किया गया है।

इन (नैयायिकों) का कहना है कि लक्षणा को यदि वृत्ति न मानें, तो 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा पद से तीर अर्थ की जो प्रतीति होती है, वह नहीं होनी

चाहिए। कारण यह है कि तीर तो गङ्गा पद के अर्थ-प्रवाह का सम्बन्धी-मात्र है, वह गङ्गा पद का शक्य अभिधेय नहीं है। इस स्थिति में लक्षण का ग्रहण नहीं करने से केवल संकेत-मात्र से तीर का बोध नहीं हो सकता; क्योंकि तीर में गङ्गा पद का संकेत नहीं है। इसी अभिप्राय से वृत्ति के लक्षण में लक्षणा पद का भी उपादान आचार्य ने किया है।

वृत्ति का लक्षण

उपर्युक्त वृत्ति का लक्षण वास्तव में वृत्तिपद-व्यवहार्य ही होता है, अन्यथा अर्थनिरूपित ही वृत्ति का लक्षक होगा। इस स्थिति में अन्योन्याश्रय दोष अपरिहार्य हो जाता है। कारण यह है कि वृत्ति-ज्ञान में अर्थ-ज्ञान कारण होगा; क्योंकि-वृत्ति का लक्षण अर्थनिरूपित ही है, और अर्थ-ज्ञान में वृत्ति-ज्ञान कारण होगा; क्योंकि वृत्ति से प्रतिपाद्य को ही अर्थ कहते हैं। इसलिए, वृत्ति-ज्ञान में अर्थ-ज्ञान को कारण होना भी आवश्यक ही है। इस स्थिति में अर्थ-ज्ञान में वृत्ति ज्ञान और वृत्ति-ज्ञान में अर्थ-ज्ञान के कारण होने से अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य हो जाता है। इसलिए, वृत्ति-पद से जिसका व्यवहार किया जाय, वही वृत्ति का लक्षण समझना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि संकेत और लक्षण को उद्देश्य कर वृत्तिपद व्यवहार्यत्व का विधान करना ही 'सङ्केतो लक्षणा चार्थे पदवृत्तिः' का तात्पर्य है। इससे यही सिद्ध होता है कि संकेत और लक्षणा को ही वृत्ति-पद का अर्थ माना जाता है। इसी संकेत और लक्षणा-रूप वृत्ति के ज्ञान न होने से शब्द के सुनने पर भी उसके अर्थ का ज्ञान नहीं होता।

इसलिए शाब्दबोध (शब्दजन्य बोध) में वृत्ति-ज्ञान को कारण माना जाता है। वृत्ति का ही भेद है शक्ति और लक्षणा। शक्ति का ही नाम अभिधा-वृत्ति है। इस शक्ति या अभिधावृत्ति से प्रतिपाद्य अर्थ को शक्य या अभिधेय कहते हैं। शक्य-सम्बन्ध को ही लक्षणा वृत्ति कहते हैं। 'गङ्गायां घोषः' यहाँ गङ्गा पद का शक्य अर्थ प्रवाह है, तीर नहीं। तीर की उक्त वाक्य से जो प्रतीति होती है, वह प्रवाह के सम्बन्ध से ही; इसलिए गङ्गा पद का लक्ष्य अर्थ ही तीर होता है। क्योंकि, गङ्गा पद के शक्यार्थ प्रवाह के सम्बन्ध-रूप लक्षणा से ही तीर की प्रतीति होती है, इसलिए तीर गङ्गा पद का लक्ष्यार्थ माना जाता है।

वैयाकरण और आलङ्कारिक के मत से व्यञ्जना की स्थापना

स्फोटवादी वैयाकरण और आलङ्कारिक ये दोनों उक्त दोनों वृत्तियों के अतिरिक्त व्यञ्जना को भी वृत्ति मानते हैं। गङ्गा में घोष है, यह कहने से घोष में शीतत्व-

पावनत्व की जो प्रतीति होती है, वह व्यञ्जना वृत्ति से ही हो सकती है, अभिधा या लक्षणा से नहीं। और भी देखा जाय—

> गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
> ममापि जन्म तत्रैव भूयात् यत्र गतो भवान्॥

यह उक्ति परदेश जाने को उत्सुक पति के प्रति विरह-सम्भावना से अत्यन्त कातर नायिका की है। वह कहती है—'हे कान्त, यदि जाने की इच्छा ही है, तो जाइए, आपका मार्ग कल्याणप्रद हो। मेरा भी जन्म वहीं हो, जहाँ आप जा रहे हैं। इस कथन से यह अर्थ शक्ति या लक्षणा से नहीं निकलता कि आप न जायँ, जाने से मैं मर जाऊँगी। परन्तु, श्लोक का भाव स्पष्ट प्रतीत होता है कि आपके जाने से मेरा मरण ध्रुव है, इसलिए आप न जायँ। यह मरण या न जाना रूप अर्थ किसी पद का शक्य या लक्ष्य नहीं है, और प्रतीत अवश्य होता है। इससे सिद्ध होता है कि शक्ति और लक्षणा के अतिरिक्त कोई वृत्ति अवश्य है, जिससे मरण आदि अर्थ प्रतीत होते हैं। उसी वृत्ति का नाम व्यञ्जना वृत्ति है। काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि आलङ्कारिक ग्रन्थों में और भूषणमञ्जूषा आदि व्याकरण के ग्रन्थों में इसका पूर्ण विवेचन किया गया है, विशेष जिज्ञासु वहाँ ही देख लें।

वृत्ति के सम्बन्ध में वैयाकरणों का मत

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार वैयाकरणों के मत में तीन वृत्तियाँ सिद्ध होती हैं—शक्ति, लक्षणा और व्यञ्जना। यहाँ नैयायिकों का अभिमत ईश्वरेच्छा-रूप शक्ति वैयाकरणों को मान्य नहीं है। इनके मत में ईश्वरेच्छा के अतिरिक्त सम्बन्धान्तर (सम्बन्ध विशेष) को ही शक्ति माना गया है। इसी सम्बन्ध-विशेष का दूसरा नाम वाच्यवाचक भाव है। यह उक्त ईश्वरेच्छा से भिन्न है, केवल वाच्य-वाचक भाव शब्द से इसका व्यवहार शास्त्रों में पाया जाता है। एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए कि यह वाच्य-वाचक भाव पद लोक में प्रसिद्ध जो वाच्य-वाचक भाव पद है, जिसका अर्थ क्रमशः बोध का विषय और बोध का जनक होता है, वह नहीं है; किन्तु अखण्डोपाधि-रूप पदार्थान्तर ही है।

यह वाच्यवाचक भाव शब्द और अर्थ दोनों में रहता है। लोक-प्रसिद्ध वाच्य शब्द, जिसका अर्थ 'बोध का विषय' होता है, केवल अर्थ में ही रहता है, शब्द में नहीं; क्योंकि शब्द वाचक है, किसी का वाच्य नहीं। इसी प्रकार, लोक-प्रसिद्ध वाचक पद, जिसका अर्थ 'बोध का जनक' होता है, केवल शब्द में ही रहता है, अर्थ में नहीं; क्योंकि अर्थ बोध का विषय ही होता है, बोध का जनक

नहीं। इन दोनों में लोक-प्रसिद्ध कोई भी अर्थ और शब्द नहीं रहता। इसलिए, सम्बन्ध का लक्षण इसमें नहीं घटता, और सम्बन्ध का लक्षण घटना आवश्यक है; क्योंकि सम्बद्ध पदार्थ का ही प्रमाण से ग्रहण होना सर्वसिद्धान्त-सिद्ध है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी अपने विषय के साथ सम्बन्ध किये विना उसका ग्रहण (प्रत्यक्ष) नहीं कर सकती हैं। इसलिए वृत्ति की अवयव-शक्ति को सम्बन्ध मानना आवश्यक हो जाता है। इसी कारण वैयाकरणों ने नैयायिकाभिमत ईश्वरेच्छा को शक्ति नहीं माना है; क्योंकि ईश्वरेच्छा में भी सम्बन्ध का लक्षण नहीं घटता।

सम्बन्ध का लक्षण

सम्बन्ध का लक्षण आचार्यों ने इस प्रकार किया है—'सम्बन्धिद्वयभिन्नत्वे सति, द्विष्ठत्वे च सति, आश्रयतया विशिष्टबुद्धिनियामकत्वं सम्बन्धत्वम्।' इसका तात्पर्य यह है कि दोनों सम्बन्धियों से भिन्न हो, दोनों में रहता हो और आश्रय होने के कारण विशिष्ट बुद्धि का नियामक भी हो, वही सम्बन्धी है। जैसे, संयोग और आधाराधेय भाव आदि। 'भूतले घटः' भूतल पर घड़ा है, यहाँ संयोग या आधाराधेय भाव सम्बन्ध है। यह भूतल और घट दोनों से भिन्न, दोनों में रहनेवाला और आश्रय होने के नाते विशिष्ट बुद्धि का नियामक भी है, इसलिए यह सम्बन्ध माना जाता है। परन्तु, इच्छा में सम्बन्ध का लक्षण नहीं घटता, कारण यह है कि घट शब्द इच्छावान् है, अथवा उसका अर्थ इच्छावान् है, इस प्रकार का ज्ञान अप्रसिद्ध है। इसलिए, यद्यपि इच्छा सम्बन्धिद्वय से भिन्न है, तथापि द्विष्ठ (दोनों में रहनेवाला) और आश्रयतया विशिष्ट बुद्धि का नियामक नहीं है, इसलिए यह सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसीलिए, बोधजनकत्व भी शक्ति का स्वरूप या सम्बन्ध नहीं होता।

वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध का ग्राहक तादात्म्य

इस सम्बन्ध का ग्राहक (ज्ञापक) तादात्म्य है। यही तादात्म्य संकेत शब्द का वाच्य होता है, अर्थात् संकेत और तादात्म्य एक ही चीज है, भिन्न नहीं। यह संकेत (तादात्म्य) शक्ति का ग्राहक-मात्र होता है, शक्ति का स्वरूप नहीं। यह तादात्म्य इतरेतराध्यासमूलक है। अन्य में अन्य वस्तु का आभास (भान) होना ही अध्यास है। जैसे, सीपी में रजत का आभास होना और रस्सी में सर्प का भान होना ही अध्यास होता है। अध्यासमूलक ही इदम् और रजत पदार्थ में जिस प्रकार तादात्म्य माना जाता है, उसी प्रकार पद और पदार्थ में भी 'अयं घटः' यह घड़ा है, इस प्रकार का तादात्म्य अध्यासमूलक ही है, वास्तविक नहीं। पहले बताया जा चुका है कि तादात्म्य शक्ति का ग्राहक होने के कारण शक्ति का स्वरूप

नहीं होता। परन्तु, इस तादात्म्य का कहीं-कहीं शास्त्रकारों ने जो शक्ति शब्द से व्यवहार किया है, वह शक्ति का ग्राहक होने के कारण शक्तित्व के आरोप से ही। तादात्म्य को शक्ति नहीं मान सकते; क्योंकि शक्ति सम्बन्ध-विशेष का ही नाम है और तादात्म्य में सम्बन्ध का लक्षण ही नहीं जाता। इसी कारण तादात्म्य-सम्बन्ध न होने से शक्ति पद का वाच्य नहीं होता। तादात्म्य का सम्बन्ध न होने में कारण यह है कि सम्बन्ध का लक्षण सम्बन्धद्वय से भिन्न, द्विष्ठ और आश्रयतया विशिष्ट बुद्धि का नियामक होता है, और तादात्म्य का लक्षण भेदघटित अभेद है। अर्थात्, जो वास्तविक भेद होने पर भी अभेदेन (अभिन्न-सा) प्रतीत हो, वही तादात्म्य है। इस स्थिति में तादात्म्यघटक भेद और अभेद ये दो सम्बन्धी उनसे भिन्न न भेद ही है, न अभेद ही। इसलिए, सम्बन्धिद्वय से भिन्न न होने के कारण तादात्म्य को सम्बन्ध नहीं माना जाता। पहले कह चुके हैं कि संकेत ही तादात्म्य है। इस संकेत (तादात्म्य) के अध्यास (भ्रम) मूलक होने में महाभाष्यकार पतञ्जलि की भी सम्मति है—

'सङ्केतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः योऽयं शब्दः सोऽर्थः योऽर्थः स शब्द इति'—अर्थात् पद और पदार्थ का परस्पर-अध्यासरूप ही संकेत है, जिसको तादात्म्य भी कहते हैं। जो शब्द है, वही अर्थ है, और जो अर्थ है, वही शब्द है, इस प्रकार अर्थ में शब्द का और शब्द में अर्थ का जो व्यवहार होता है, वह अध्यास (भ्रम) मूलक ही है।

महाभाष्य की मान्यता में आशङ्का

उक्त भाष्य में तो संकेत को 'इतरेतराध्यासरूपः' कहा है, जिसका अर्थ होगा—इतरेतराध्यास-स्वरूप। जो इतरेतराध्यास-स्वरूप है, वह इतरेतराध्यासमूलक किस प्रकार हो सकता है? अध्यासमूलक का तो अर्थ है, जिसका अध्यास मूल कारण हो। भाष्य का अर्थ इससे भिन्न इतरेतराध्यास-स्वरूप अर्थ भाष्य के स्वारस्य से निकलता है। इस अवस्था में संकेत के अध्यासमूलक होने में भाष्य को प्रमाणरूप में रखना परस्पर विरुद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त आशङ्का का उत्तर

'अध्यासरूपः' में रूप शब्द 'ज्ञापक' होता है, जिसका अर्थ है, मूल कारण। (रूप्यते—ज्ञाप्यते अनेन इति रूपम्, इस व्युत्पत्ति से करण में घञ् प्रत्यय करने से 'रूपम्' बनता है) बाद में इतरेतराध्यास का रूप के साथ बहुव्रीहि समास करने पर अर्थ निकलता है, जिसका मूल इतरेतराध्यास हो।

भाष्यकार के दिये हुए संकेत के दूसरे विशेषण 'स्मृत्यात्मकः' का तात्पर्य है स्मृत्यात्मक (ज्ञात) संकेत ही शक्ति का ज्ञापक, अर्थात् बोधक होता है, अज्ञात नहीं। 'स्मृत्यात्मकः' इस विशेषण से यह भी सिद्ध होता है कि पाणिनि आदि महर्षियों का स्मृति-संकेत ही वाचकता का नियामक होता है, आधुनिक संकेत नहीं। आधुनिक संकेत-स्थल में 'द्वादशेऽह्नि पिता नाम कुर्यात्'–बारहवें दिन पिता नामकरण करें— इत्यादि प्रमाणों के अनुसार पिता आदि से क्रियमाण नाम-स्थल में लक्षणा आदि से ही बोधक समझना चाहिए, शक्ति से नहीं।

संकेत और नाम में यही विशेषता है कि ईश्वरकृत को संकेत कहते हैं और आधुनिक पिता आदि से कृत को नाम कहा जाता है, यह संकेत नहीं है। इसी अभिप्राय से 'द्वादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्' यहाँ नाम पद का उपादान आचार्य ने किया है, संकेत पद का नहीं।

भट्टोजिदीक्षित ने 'शब्दकौस्तुभ' में यह सिद्ध किया है कि पद और पदार्थ इन दोनों में बोध्यबोधक भाव की नियामक शक्ति-विशेष ही सम्बन्ध है। सम्बन्ध शक्ति के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है। परन्तु, नागेशभट्ट ने 'लघुमञ्जूषा' में इनके मत का खण्डन किया है। उन्होंने कहा है, शक्ति के भी कार्यजनक होने का नियामक सम्बन्ध ही होता है। दीप में प्रकाशकत्व-शक्ति के रहते हुए भी जबतक विषय के साथ सम्बन्ध नहीं होता, तबतक वह विषय का प्रकाश कदापि नहीं हो सकता। जब वस्तु के साथ प्रकाशकत्व-शक्ति का सम्बन्ध होता है, तभी वस्तु का प्रकाश होता है, अन्यथा नहीं। इसी अभिप्राय से भर्त्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

> उपकारः स यत्रास्ति धर्मस्तत्रानुगम्यते।
> शक्तीनामप्यसौ शक्तिः गुणानामप्यसौ गुणः॥ (वा०प० ३।३।६)

इसका तात्पर्य यह है कि उपकार्य और उपकारक इन दोनों में उपकार जहाँ रहता है, वहीं कार्य देखकर शक्ति-रूप धर्म का अनुमान किया जाता है। वहीं सम्बन्ध-रूप धर्म शक्ति का भी शक्ति, अर्थात् शक्ति का भी कार्यजनन में उपकारक और गुण का भी गुण, अर्थात् गुण के भी द्रव्याश्रित होने में उपकारक (नियामक) होता है।

शब्दार्थ का तादात्म्य-निरूपण

वाक्यस्फोट नैयायिकों का भी अभिमत है, यह दिखाकर शब्दार्थ का तादात्म्य-निरूपण किया जाता है।

उपर्युक्त कथन से यही सिद्ध होता है कि उपकारस्वभाव-रूप सम्बन्ध जहाँ रहता है, वहीं बोधजनकत्व नामक धर्म का अनुमान किया जाता है। असम्बद्ध पद में शक्ति रहने पर भी वह शाब्दबोध-रूपी कार्य का जनक नहीं होती। यह सम्बन्ध जिस प्रकार पद में रहता है, उसी प्रकार वाक्य में भी रहता है। तात्पर्य यह है कि बोधजनकत्व-रूप शक्ति पद और वाक्य दोनों में रहती है। इसलिए, वाक्य भी पद के समान ही अर्थ का वाचक होता है, बल्कि पहले वाक्य में ही शक्ति का ज्ञान होता है, बाद पद में शक्ति का।

प्रयोजक वृद्ध से 'गामानय'—गाय ले आओ, यह वाक्य सुनकर प्रयोज्य वृद्ध जब गाय ले आता है, तब पार्श्वस्थ (समीपवर्त्ती) बालक यही समझता है कि गाय को ले आना 'गामानय' इस वाक्य का ही अर्थ है। बाद में 'गां नय, अश्वमानय'—गाय ले जाओ, घोड़ा लाओ, इस वाक्य को सुन जब गाय ले जाता है और घोड़ा ले आता है, तभी वह समीपस्थ बालक अन्वयव्यतिरेक से गाम् का अर्थ गाय को और आनय का अर्थ ले आना समझता है। इसलिए, प्रथम शक्ति-ग्रह वाक्य में ही होता है, पद में नहीं, यह मानना पड़ता है। पद में शक्ति का ज्ञान तो अन्वय-व्यतिरेक से बाद में होता है, पहले नहीं। इसलिए, वैयाकरणों ने वाक्यस्फोट को ही मुख्य माना है। आचार्यों ने कहा है—

वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षः सिध्यतीति मतस्थितिः। (वा० प०)

नैयायिकों के मत में भी वाक्यस्फोट

नैयायिकों ने भी वाक्य में ईश्वर-संकेत मानकर वाक्यस्फोट स्वीकार किया है। न्यायाचार्य वात्स्यायन मुनि ने अपने न्यायभाष्य में स्पष्ट लिखा है—'समयज्ञानार्थञ्चेदं पदलक्षणाया वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणम्, वाक्यलक्षणाया वाचोऽर्थलक्षणमिति' (न्या० भा० २।१।५५)। तात्पर्य यह है कि समय, अर्थात् संकेत के ज्ञान के लिए पद-लक्षणा (पदरूपा) वाक् (शब्द) का अन्वाख्यान (प्रकृति-प्रत्यय आदि के द्वारा बोध) करानेवाला व्याकरण है, और वाक्यलक्षणा (वाक्य-रूपा) वाक् का अन्वाख्यान करानेवाला अर्थ लक्षणा, अर्थात् वाक्यार्थ के बोधक शास्त्र तर्क, मीमांसा आदि हैं। इस कथन से यह फलित होता है कि शाब्दबोध की उपयोगिनी शक्ति जिस प्रकार पद में रहती है, उसी प्रकार वाक्य में भी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वाक्यस्फोट में जो वैयाकरणों का मुख्य अभिमत है, उसमें न्यायचार्य वात्स्यायन की भी सम्मति अवश्य है।

एक बात और भी यहाँ ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार शक्ति का ग्राहक संकेत है, उसी प्रकार वाक्यार्थ के निर्णायक होने के कारण आकाङ्क्षा, योग्यता

आदि भी वाक्य-संकेत के ग्राहक होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि पदार्थबोधक शास्त्र जिस प्रकार व्याकरण है, उसी प्रकार वाक्यार्थबोधक शास्त्र तर्क, मीमांसा आदि हैं, और पद में जिस प्रकार ईश्वर का संकेत है, उसी प्रकार वाक्य में भी ईश्वर का संकेत सिद्ध होता है। साथ ही, यह भी जान लेना है कि जहाँ दो-तीन पदों से युक्त आकाङ्क्षा या योग्यता आदि से वाक्यार्थ-बोध होता है, वहाँ तो वाक्यस्फोट को मानना नैयायिकों के लिए भी आवश्यक हो जाता है। इसलिए, वाक्यस्फोट प्रामाणिक और नैयायिकों का भी मान्य है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

पद और अर्थ में अध्यास में प्रमाण

पद और वाक्यगत संकेत को अध्यासमूलक भले माना जाय, पद और अर्थ में अध्यास होता है, इसमें क्या प्रमाण है? इसका उत्तर यह होता है कि 'कः शब्दः? कोऽर्थः?' ?—शब्द क्या है? अर्थ क्या है? इस प्रकार के प्रश्न होने पर 'घट इत्ययं शब्दः, 'घट इत्ययमर्थः'—इस प्रकार का जो एकाकार उत्तर दिया जाता है, उसी से शब्द और अर्थ का अध्यास सिद्ध हो जाता है। यदि यहाँ अध्यास न माना जाय, तब तो 'घट इत्यायमर्थः' इसमें इति शब्द से शब्द और अर्थ के साथ 'घट' इस वर्णचतुष्टय (चार वर्णों) का जो अभेद प्रतीत होता है, वह अनुपपन्न (असङ्गत) हो जाता है। इसलिए, यहाँ अध्यास मानना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार 'घट इति ज्ञानम्' इस प्रकार का बोध होने से शब्द और ज्ञान में भी पूर्ववत् अध्यास सिद्ध हो जाता है।

अध्यास से लोकप्रसिद्ध व्यवहार की सिद्धि

'पदं श्रुतम्, 'अर्थं शृणु', 'अर्थं वदति' —इस प्रकार का व्यवहार लोक में सर्वदा होता रहता है, जो अध्यास के मानने पर ही सम्भव है। यदि शब्द और अर्थ में अध्यास न मानें, तब तो अर्थ सुनो, अर्थ कहता है, इस प्रकार का लोकप्रसिद्ध व्यवहार किस प्रकार हो सकता है? कारण यह कि श्रोत्र-इन्द्रिय का विषय केवल शब्द ही होता है, अर्थ नहीं। इस स्थिति में घट आदि अर्थों का श्रावण प्रत्यक्ष असम्भव होने से अर्थ सुनो, अर्थ कहता है, इस प्रकार का लोकप्रसिद्ध व्यवहार अध्यास मानने पर ही युक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। शब्द और अर्थ में अध्यास मानने पर ही शब्द में रहनेवाली श्रावणविषयता का अर्थ में आरोप करके 'अर्थं शृणु', इस प्रकार का व्यवहार सम्यक् उपपन्न होता है।

इसी प्रकार, 'वृद्धिरादैच्' (पा० सू० १।१।१) 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' (भ०गि० ३०१) इत्यादि शक्तिग्राहक श्रुति-स्मृति आदि स्थलों में समानाधिकरण से प्रयोग अध्यास के होने पर ही युक्त हो सकता है।

शब्द और अर्थ का तादात्म्य

प्रश्न यह उठता है कि शब्द और अर्थ का तादात्म्य होने पर मोदक आदि मधुर शब्द के उच्चारण करने से मुख में माधुर्य की प्रतीति क्यों नहीं होती ? तथा अग्नि आदि शब्दों के उच्चारण करने पर मुख में दाह की प्रतीति क्यों नहीं होती ? और भी, यह वाचक है, यह वाच्य है, इस प्रकार का व्यवहार नहीं होना चाहिए ? इसका उत्तर यह है।

तादात्म्य का लक्षण भेद-घटित अभेद होने के कारण शब्द और अर्थ में भासित होनेवाला अभेद भेदघटित है, इसी कारण मधुर शब्द से मुख में माधुर्य और अग्नि शब्द के उच्चारण से दाह का अनुभव नहीं होता। तादात्म्य का लक्षण इस प्रकार है—'तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्'—'अर्थात् उससे भिन्न होते हुए भी जो उससे अभिन्न प्रतीत हो, वही तादात्म्य है। इस प्रकार, तादात्म्य का लक्षण मानने पर मुख में दाहादि की आपत्ति नहीं होती। यदि यह कहें कि भेद और अभेद ये दोनों प्रकाश और अन्धकार के समान परस्पर विरुद्ध हैं, इस अवस्था में इनका एक जगह समावेश किस प्रकार हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि यहाँ अभेद के अध्यस्त (आरोपित) होने के कारण भेद और अभेद में विरोध नहीं होता। इसीलिए, मधुर शब्दादि के उच्चारण से माधुर्यादि का अनुभव नहीं होता। जिस प्रकार तट में गङ्गा का आरोप करने पर भी उसमें स्नानादि कार्य नहीं होते।

तादात्म्य में भेद और अभेद दोनों के रहते हुए भी जब अभेद के अभिभव-पूर्वक भेद उद्भूत रहेगा, अर्थात् भेद की उद्भूत विवक्षा होगी, उस अवस्था में षष्ठी विभक्ति होगी। जैसे—'अस्य अर्थस्य अयं वाचकः'—इस अर्थ का यह वाचक है, 'तस्य वाचकः प्रणवः'—उस (ईश्वर) का वाचक प्रणव है। यहाँ षष्ठी विभक्ति होती है। जब भेद के अभिभव-पूर्वक अभेद की विवक्षा रहती है, तब तो प्रथमा ही होती है। जैसे—'वृद्धिरादैच्',—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यादि स्थलों में प्रथमा विभक्ति का ही प्रयोग होता है। भेद-घटित अभेद रूप तादात्म्य के होने पर ही 'अर्थं शृणु' इत्यादि स्थलों में शब्द के धर्म का अर्थ में आरोप होता है। अत्यन्त भेद होने पर शब्द धर्म का आरोप नहीं हो सकता था, जिस प्रकार मनुष्यधर्म का अश्व में या अश्वधर्म का मनुष्य में आरोप नहीं होता।

शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध सकल व्यवहार के प्रवर्त्तक ईश्वर का किया हुआ है, ऐसा बहुत लोग मानते हैं। परन्तु, शास्त्रों के अच्छी तरह मथन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध अनादि और स्वाभाविक है। इस विषय के 'तस्य वाचकः प्रणवः' इस योगसूत्र के भाष्य में 'स्थितोऽस्य वाचकस्य वाच्येन सह सम्बन्धः' इत्यादि ग्रन्थों से भगवान् कृष्णद्वैपायन ने स्पष्ट कर दिया है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में लिखा है—

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा॥

इसका भावार्थ यह है कि चक्षु आदि इन्द्रियों के अपने-अपने रूपादि विषयों के ग्रहण (ज्ञान) करने में जिस प्रकार अनादि योग्यता है, उसी प्रकार शब्दों के अर्थ के साथ अनादि (पुरुष-प्रयत्नों की अपेक्षा से रहित) सम्बन्ध ही योग्यता है।

मीमांसकों के मत में शब्दों के अर्थ के साथ सम्बन्ध का विवेचन

मीमांसक शब्दों के अर्थ के साथ सम्बन्ध को नित्य मानकर ही शब्दों के अप्रामाण्य का निराकरण और स्वतःप्रामाण्य को सिद्ध करते हैं। इसपर शब्दार्थ-सम्बन्ध को नित्य नहीं माननेवाले पूर्वपक्षियों का कहना है कि अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध सिद्ध होने पर ही उसका स्वतः या परतः प्रामाण्य के विषय में विचार हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए, शब्दों का अर्थ के साथ सम्बन्ध सिद्ध होने पर ही पौरुषेय, अपौरुषेय आदि का विचार हो सकता है। शब्द का अर्थ के साथ संयोग-सम्बन्ध नहीं माना जा सकता; क्योंकि मधुर शब्द के उच्चारण से मुख में माधुर्य और अग्नि शब्द के उच्चारण से मुख में दाह की प्रतीति नहीं होती। संयोग-सम्बन्ध मानने पर सम्बन्ध के नित्य होने से अग्नि शब्द के साथ आग नित्य संयुक्त ही रहेगी, इस स्थिति में मुख में दाह अनिवार्य हो जाता है, इसलिए शब्दार्थ में संयोग-सम्बन्ध नहीं मान सकते।

शब्द-अर्थ में कार्यकारणभाव-सम्बन्ध भी नहीं हो सकता; क्योंकि यह सम्बन्ध वहीं होता है, जहाँ एक की उत्पत्ति किसी कारण से निश्चित हो। और, मीमांसकों के मत में शब्दार्थ के सम्बन्ध को नित्य माना जाता है, इस स्थिति में शब्द और अर्थ दोनों को भी नित्य मानना होगा; क्योंकि सम्बन्ध निराश्रय रह नहीं सकता। सम्बन्ध का द्विष्ठ होना भी आवश्यक है। इसलिए, आपके मत में दोनों सम्बन्धियों को नित्य मानना आवश्यक हो जाता है, अन्यथा सम्बन्ध को नित्य मान नहीं सकते। कारण यह है कि कार्य की उत्पत्ति के पहले उसके साथ किसी सम्बन्ध

की कल्पना करना वन्ध्यापुत्र के विवाहोत्सव के समान असम्भव ही हो जाता है, इस स्थिति में सम्बन्ध को नित्य किसी प्रकार भी नहीं मान सकते। वैयाकरण भी शब्दार्थ-सम्बन्ध को नित्य मानते हैं, इसलिए इनके मत में भी पूर्वोक्त सब दोष आ जाते हैं।

विज्ञानवादी बौद्धों का मत

इनका कहना है कि बाह्य गकारादि शब्दों को यदि वाचक माना जाय, तब तो वर्णस्फोट या जातिस्फोट या पदस्फोट वाचक होगा ? इन विकल्पों का समाधान नहीं होता। इसी प्रकार, गो, घट आदि पदार्थों को वाच्य मानने पर भी गवादि व्यक्ति वाच्य होगा या आकृति ? इत्यादि विकल्प-शङ्काओं का समाधान नहीं होता। इसीलिए बाह्य गो, घटादि शब्दों को वाचक या बाह्य गो, घटादि पदार्थों को वाच्य भी नहीं मान सकते। इस अवस्था में आन्तर विज्ञान ही शब्द-रूप में या अर्थ-रूप में परिणत होता है, यही मानना समुचित प्रतीत होता है। ऐसा मानने पर शब्द-पद का वाच्य जो गकारादि आकार का विज्ञान है, उससे उत्पन्न होनेवाला ही गवादि विज्ञान, अर्थ पद का वाच्य होता है। कारण यह है कि गो आदि शब्दों के सुनने के अनन्तर ही गवादि अर्थ की प्रतीति होती है। इस स्थिति में शब्द-अर्थ में कार्य-कारणभाव-सम्बन्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं होती, इसलिए कार्य-कारण भाव को सम्बन्ध मान लेने में भी कोई विरोध नहीं होता, बल्कि युक्त ही होता है। विज्ञानवादी बौद्धों की यही मान्यता है। परन्तु—

पूर्वपक्षी और सौत्रान्तिक इसे युक्त नहीं मानते। कारण यह है कि ज्ञान कहीं भी निरालम्ब नहीं उत्पन्न होता, किसी विषय को अवलम्बन कर ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है, निर्विषयक ज्ञान कहीं होता ही नहीं। विज्ञानवादियों के मत में ज्ञान के अतिरिक्त किसी पदार्थ की भी सत्ता नहीं मानी जाती, ऐसी दशा में किसके रूप में विज्ञान का परिणाम माना जा सकता है ? इसलिए, कार्यकारण भाव को भी किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं मान सकते। दूसरे किसी सम्बन्ध की तो सम्भावना ही नहीं है। यदि कोई पूछे कि शब्द यदि अर्थ का प्रत्यायक और अर्थ शब्द का प्रत्याय्य होता है, तो अर्थ और शब्द में प्रत्याय्य-प्रत्यायक भाव-सम्बन्ध मान लेने में क्या आपत्ति है ? पूर्वपक्षी इसका उत्तर देते हैं कि सम्बन्ध के रहने पर ही अर्थ का प्रत्यायक शब्द हो सकता है, विना सम्बन्ध के अर्थ का प्रत्यायक नहीं हो सकता। दूसरा कारण यह है कि किस सम्बन्ध से शब्द अर्थ का प्रत्यायक होता है ? इसी का समाधान निश्चित करने के लिए तो इस प्रकरण का आरम्भ किया गया है। यदि यह कहा जाय कि प्रत्यायक

होने से ही प्रत्यायक है, तब तो आत्माश्रय दोष हो जाता है। इसलिए, प्रत्याय्य-प्रत्यायक भाव भी शब्द-अर्थ का सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस स्थिति में शब्द-अर्थ का कोई सम्बन्ध नहीं होने से अर्थ का बोधक शब्द नहीं हो सकता, पूर्वपक्षियों की यही आशङ्का है। शब्द-अर्थ के भिन्न-भिन्न होने के कारण सम्बन्ध के विना एक का प्रतिपादन दूसरे से हो नहीं सकता। इस स्थिति में शब्दार्थ-सम्बन्ध को नित्य मानकर मीमांसकों द्वारा शब्द को प्रमाण मानना भी सिद्ध नहीं होता। शब्द को प्रमाण नहीं मानने पर अहर्निश होता हुआ शब्दाधीन लौकिक व्यवहार भी सिद्ध हो जाता है; क्योंकि प्रयोज्य-प्रयोजक वृद्धों के व्यवहार से अनुमान द्वारा सम्बन्ध के विना भी किसी प्रकार व्यवहार सिद्ध हो जाता है। फिर भी, वैदिक यागादि का व्यवहार (जो केवल शब्द-प्रमाण के अधीन है) अनुमान आदि किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता। पूर्वपक्षियों की आशङ्का का यही तात्पर्य है।

सिद्धान्ती मीमांसकों का उत्तर

उपर्युक्त शङ्का के उत्तर में मीमांसकों का कहना है कि किसी सम्बन्ध के न रहने पर ही पूर्वपक्षियों की शङ्का का अवसर प्राप्त हो सकता है, परन्तु प्रकृत में शब्द और अर्थ में प्रत्याय्य-प्रत्यायक भाव-सम्बन्ध विद्यमान ही है। इसलिए, शब्द को अप्रत्यायक नहीं कह सकते। सम्बन्धान्तर के नहीं रहने पर ही शब्द का अर्थ-प्रत्यायक (बोधक) होना स्वभाव-सिद्ध धर्म है, अर्थात् शब्द के अर्थ-बोध कराने में किसी सम्बन्धान्तर की अपेक्षा ही नहीं होती। आत्माश्रय दोष जो ऊपर दिखाया गया है, वह नहीं लग सकता; क्योंकि जहाँ असिद्ध वस्तु का साधन किया जाता है, वहीं आत्माश्रय दोष होता है। प्रकृत में तो शब्द का अर्थ-बोधक होना स्वभाव से ही सिद्ध है, असिद्ध नहीं। अतः, आत्माश्रय दोष नहीं होगा।

जिस प्रकार इन्द्रिय के अर्थ-प्रत्यायक होने में अर्थ के साथ सन्निकर्ष (सम्बन्ध) की अपेक्षा होती है, और लिङ्ग के अर्थबोध कराने में व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा रहती है, उस प्रकार शब्द के अर्थ-प्रत्यायक होने में किसी की अपेक्षा नहीं रहती। यही इन्द्रियादि की अपेक्षा शब्द में विशेषता है। इससे यही सिद्ध होता है कि सम्बन्धान्तर की अपेक्षा किये विना ही जो अर्थ का प्रतिपादन है, वही अभिधान-पद का वाच्य होता है।

शब्द अर्थ का प्रतिपादन करता है, इसमें प्रमाण यही है कि शब्द-श्रवण के अनन्तर ही जो अर्थ-प्रतीति होती है, वही शब्द के अर्थबोधक होने में प्रमाण है।

यदि यह कहें कि शब्द-श्रवण के बाद अर्थ-प्रतीति वक्ता के अभिप्राय के द्वारा भी हो सकती है, इसके लिए अधिक शब्द-प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है ? इसका उत्तर यह होता है, स्वप्नादि अवस्था में बिना किसी अभिप्राय से ही शब्द उच्चरित होता है और उस शब्द का अर्थज्ञान श्रोता को होना अभिप्राय के अनुमान के बिना ही देखा जाता है। इससे प्रतीत होता है कि अभिप्रायानुमान के बिना भी अर्थ का प्रत्यायक शब्द होता है। अथवा कोई आदमी किसी प्राचीन कवि-कृत श्लोक या वेदमन्त्र को ही पढ़ रहा है और स्वयं वह उसका अर्थ नहीं समझता है, तो भी व्युत्पन्न श्रोता उससे सुनकर बिना अभिप्रायानुमान के ही उसका अर्थ समझ लेता है। इससे प्रतीत होता है कि वक्ता के अभिप्राय-ज्ञान के बिना भी शब्द का अर्थबोधक होना स्वभावतः सिद्ध है।

शब्द के अर्थ-प्रत्यायकत्व में शङ्का-समाधान

शङ्का यह होती है कि शब्द का अर्थ-प्रत्यायक होना यदि स्वभावसिद्ध धर्म है, तब तो अर्थ नहीं समझनेवाले को भी शब्दश्रवण-मात्र से अर्थबोध हो जाना चाहिए; क्योंकि शब्द का बोधक होना स्वभावसिद्ध धर्म है। इसका समाधान यह है कि कारण भी सहकारी के अभाव में कार्यकारी नहीं होता। शब्द का अर्थ प्रतिपादन करने में शक्ति का ज्ञान सहकारी कारण होता है। जिस प्रकार नेत्र का घटादि पदार्थ को देखना स्वभावसिद्ध धर्म है, तो भी आलोक के अभाव में वह घटादि को नहीं देख सकता; क्योंकि देखने में आलोक सहकारी कारण होता है, इसलिए आलोक के अभाव में नेत्र भी घटादि को नहीं देख सकता। इसी प्रकार, शक्तिज्ञान-रूप सहकारी कारण के अभाव में शब्द भी अर्थ-प्रत्यायक नहीं होता। इसी अभिप्राय से 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में विश्वनाथ-भट्ट ने लिखा है—

> पदज्ञानन्तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
> शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी॥

अर्थात्, शाब्दबोध में पद का ज्ञान करण, पदार्थ का ज्ञान द्वार (व्यापार), शाब्दबोध फल और शक्ति का ज्ञान सहकारी कारण होता है। शब्द का अर्थ-बोधक होना यद्यपि स्वाभाविक धर्म है, तथापि शक्तिज्ञान-रूपी सहकारी कारण न होने से शक्ति-ज्ञान से रहित व्यक्ति को अर्थ का बोधक नहीं होता।

पूर्वोक्त बातों का निष्कर्ष

यहाँतक पूर्वोक्त महासन्दर्भ से स्फोटतत्त्व को प्राचीन-नवीन वैयाकरणों के मतों, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि प्रमाणों तथा श्रुतिमूलक अनुमान से भी सिद्ध किया गया है। इसके अतिरिक्त नैयायिक, मीमांसक, सांख्य, योग, जैन, बौद्ध आदि दार्शनिकों का शब्द-स्वरूप के विषय में मतभेद का पूर्ण विवेचन किया गया है। स्फोट की मान्यता में इनलोगों के आक्षेपों का भी समाधान कर दिया गया है।

इस प्रकार, आद्योपान्त इस ग्रन्थ के देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि परमात्मा के निर्गुण-सगुण दो भेदों में प्रकृति से सम्बद्ध को सगुण और प्रकृति से असम्बद्ध को निर्गुण बताया गया है। इसी प्रकृति से सम्बद्ध सगुण परमात्मा (जो सच्चिदानन्द-स्वरूप है) से शक्ति का आविर्भाव होता है, और उसी शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु की उत्पत्ति होती है। यह स्मरणीय है कि जिस अवस्था में समस्त प्रपञ्च माया में ग्रसित हो जाता है, उस समय प्राणियों के भुक्तावशिष्ट कर्म भी, जो अत्यन्त सूक्ष्म वासना के रूप में उसी मायाशक्ति में अवस्थित हैं, काल-क्रम से परिपक्वावस्था को प्राप्तकर अपने फल-प्रदान के लिए अद्वितीय परमात्मा, जो समस्त मायावृत्ति को ग्रसित कर सोये हुए के समान प्रशान्त निस्तरङ्ग महासागर के सदृश अवस्थित है, में सिसृक्षात्मिका वृत्ति को उत्पन्न करते हैं : 'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय', 'सोऽकामयत' इत्यादि। इस प्रकार, सिसृक्षा के बाद जितने प्राणिकर्म परिपक्व होकर सृष्टि के उन्मुख हो गये हैं, उन सबकी घनीभूत भावावस्था उत्पन्न होती है।

इसी घनीभाव के लिए व्यापार का नाम चिकीर्षा है। इससे यही सूचित होता है कि सृष्टि के उन्मुखीभूत परिपक्व प्राणियों के कर्म के आकार में परमात्मा की इच्छात्मिका शक्ति-रूप माया ही परिणत होती है, यह पहले बताया जा चुका है। उस परिपक्व प्राणिकर्मों के आकार में परिणत मायाविशिष्ट सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म ही बिन्दु शब्द का वाच्य होता है। अविभागावस्थापन्न इसी बिन्दु का नाम अव्यक्त शास्त्रों में पाया जाता है। यही बिन्दु उभयविध (नामात्मक और रूपात्मक) जगत् का अङ्कुर है। इसी अव्यक्तापरपर्याय अङ्कुराकार बिन्दु से नामात्मक और रूपात्मक दोनों प्रकार के जगत् का उद्‌गम होता है।

यही सच्चिदानन्द वैभव प्रकृति-पुरुषमय अव्यक्त नामक बिन्दु जब चैतन्य-प्रधान होकर माया के आश्रयण से प्रादुर्भूत होता है, तब वह सदाशिव ईश्वर

आदि पदों का वाच्य होकर रूपमय सृष्टि का उपादान होता है, उसी से रूपात्मक सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। और, जब वही पूर्वोक्त बिन्दु (अव्यक्त) काल क्रम से शक्ति-प्रधान होता है, तब कुण्डलिनी शक्ति आदि शब्दों के वाच्य होकर समस्त वाङ्मय (शब्दमय) ब्रह्माण्ड का उपादान होता है। इसी कुण्डलिनी शक्ति से वाङ्मय जगत् का उद्गम होता है। इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जगत् के अङ्कुराकार अव्यक्त नामक बिन्दु से दो शाखाएँ निकलीं : एक चैतन्य प्रधान ईश्वर है, जो रूपात्मक ब्रह्माण्ड का उपादान होकर रूपमय जगत् का आधिपत्य करता है, जिससे रूप-सृष्टि का उद्गम होता है। दूसरी शाखा शक्तिप्रधान होने से शक्ति-कुण्डलिनी आदि नामों से व्यवहृत होकर स्फोट, प्रणव शब्दब्रह्म आदि नामों का वाच्य होती है। अर्थात्, शक्ति-प्रधान उसी बिन्दु को स्फोट-प्रणव और शब्दब्रह्म कहते हैं। यही स्फोटब्रह्म समस्त वाङ्मय जगत् का उपादान होता है। इसी से शब्दमय जगत् का उद्गम होता है और वही स्फोटब्रह्म (जिसे शब्दब्रह्म या प्रणव कहते हैं) सकल शब्दमय ब्रह्माण्ड का आधिपत्य करता है। इसी स्फोटब्रह्म का परिणाम या विवर्त्त अखिल वेदादि वाङ्मय जगत् है। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने कहा है—

शब्दब्रह्ममशेषन्तु धत्ते शङ्करवल्लभा।
अर्थस्वरूपमखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः॥

जिस प्रकार रूप-सृष्टि के उपादानभूत ईश्वर सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, नदी, पर्वत आदि अनेक रूपों में अनुस्यूत होकर समस्त रूपमय जगत् की सृष्टि, स्थिति, और प्रलयकर्त्ता के रूप में ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि अनेक देवताओं के रूप से स्थित है, उसी प्रकार स्फोटात्मक भगवती सरस्वती देवी भी वैदिक-तान्त्रिक मन्त्र, तन्त्र, गद्य, पद्य, शास्त्र, पुराण, काव्य, नाटक आदि अनेक रूपों में अनुस्यूत होकर समस्त वाङ्मय जगत् के सृष्टि, स्थिति और प्रलयकर्त्ता के रूप में विद्यमान है।

जिस प्रकार एक ही ईश्वर के उपाधिभेद से चित्, अन्तर्यामी, सूत्रात्मा और विराट् रूप आदि अनेक भेद कल्पित किये गये हैं, उसी प्रकार एक ही स्फोटतत्त्व के भी उपाधि और आश्रयभेद से परा, पश्यन्ती, मध्यमा आदि रूप में अनेक स्वरूप शास्त्रों में कल्पित किये गये हैं।

जिस प्रकार भगवद्भक्त परमर्षियों ने एक ही ईश्वर को अपनी भावना के अनुसार अनेक स्वरूपों में देखा है, उसी प्रकार शब्दब्रह्म के उपासकों ने भी स्फोट, ध्वनि, रस आदि अनेक रूपों में एक ही शब्दतत्त्व का साक्षात्कार किया है।

छान्दोग्योपनिषद् में दो विद्याओं को वेदितव्य बताया गया है—'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च।' इन दोनों में अपरा विद्या—ऋग्वेदादि समस्त वेद, सकल स्मृति, पुराण, वैद्यक, ज्यौतिष, इतिहास, न्याय, सांख्य आदि सभी शास्त्रों को बताया गया है। परा विद्या के विषय में कहा गया है—'परा यया तदक्षरमधिगम्यते'—अर्थात्, परा विद्या वही है, जिसके द्वारा अक्षर, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन परमात्मा का साक्षात्कार हो। यहाँ परा शब्द से परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इन चार शब्द-स्वरूपों में शब्दब्रह्म के असली स्वरूप परा नामक स्फोटतत्त्व को समझना चाहिए। इसी अभिप्राय से ब्रह्मबिन्दूपनिषद् में लिखा है—

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परञ्च तत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥

अर्थात्, शब्दब्रह्म और परब्रह्म दोनों को ही जानना चाहिए। शब्दब्रह्म में निष्णात व्यक्ति परब्रह्म को प्राप्त करता है। जिस शब्दब्रह्म की उपासना से परब्रह्म की प्राप्ति होती है, उसी परात्मक शब्दब्रह्म का नाम है स्फोट, प्रणव, ओम् आदि।

परिशिष्ट

शब्दार्थ-सम्बन्ध-विचार

अब शब्द और अर्थ में सम्बन्ध का विचार किया जाता है। शब्द-श्रवण के बाद किसी को अर्थ-विशेष का भान होता है, किसी को नहीं, यह बात अनुभव-सिद्ध है। इससे यह विदित होता है कि शब्द का अर्थ-विशेष के साथ कोई सम्बन्ध अवश्य है, जिसके ज्ञान होने पर ही अर्थ-विशेष का भान होता है, अन्यथा नहीं।

किसी का यह भी मत है कि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है, शब्दों का स्वभाव ही है बिना अर्थ प्राप्त किये हुए भी तत् तत् अर्थों का बोध करा देना। जैसे, इन्द्रियों के अप्राप्यकारित्व-पक्ष में तत्-तत् इन्द्रियाँ विषयों को प्राप्त किये बिना ही अपने-अपने विषयों को ग्रहण कर लेती हैं। स्वभाव के कारण ही अन्य अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर भी उसको ग्रहण नहीं करतीं। इसी प्रकार, शब्द और अर्थ के साथ सम्बन्ध न होने पर भी स्वभाव के वश से ही शब्दों का तत् तत् अर्थ का अनुभावक या बोधक होना सिद्ध होता है। इस मत में शब्द से अर्थ की उपस्थिति नहीं होती; क्योंकि स्मृति का कोई कारण नहीं है। जिस प्रकार वाक्य से वाक्यार्थ का बोध होता है, उसी प्रकार पद से भी पदार्थ का अनुभव होना स्वाभाविक है। पद के पदार्थ का अनुभावक होना नागेशभट्ट ने 'मञ्जूषा' में स्पष्ट लिख दिया है। स्वभाववादी और सम्बन्धवादी इन दोनों के पक्षों के विद्यमान रहने से यह संशय होना स्वाभाविक हो जाता है कि शब्द का अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध है या नहीं?

इस संशय में सिद्धान्ती का कहना है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध अवश्य है; क्योंकि स्वभाववादी के मत में घट शब्द से पट का बोध क्यों नहीं होता? घट शब्द घट का ही बोधक होता है, अन्य का नहीं, इस स्वभाव का नियामक क्या है? इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में किसी सम्बन्ध को ही नियामक मानना आवश्यक हो जाता है, अन्यथा कोई उत्तर नहीं। शब्दों का अर्थ-विशेष के साथ कौन सम्बन्ध है, इस विषय में आचार्यों में बहुत मतभेद पाये जाते हैं।

मीमांसक लोग शक्ति नाम का एक पदार्थान्तर मानते हैं, वही उनके मत में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है।

इस पद से यह अर्थ समझना, अथवा यह पद इस अर्थ का बोधक हो, इस आकार की जो ईश्वरेच्छा या ईश्वर-संकेत है, वही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध है, यह नैयायिकों का मत है। यहाँ ईश्वरेच्छया संकेत के जो दो आकार बताये गये हैं, उनके पहले आकार में पद-प्रकारक अर्थ-विशेष्यक बोध होता है और दूसरे में अर्थ-प्रकारक पद-विशेष्यक बोध होता है।

परन्तु, वास्तव में दोनों एक ही हैं। सांख्य, योग और अद्वैतवेदान्ती ये तीनों आचार्य भेदाभेदरूप तादात्म्य को ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मानते हैं। भेदाभेद का तात्पर्य है—भेद-घटित अभेद या अभेद-घटित भेद। इनमें एक पारमार्थिक है और दूसरा आध्यासिक। सांख्य और योग के मत में भेद पारमार्थिक है, और अभेद आध्यासिक या प्रातिभासिक। वेदान्ती के मत में अभेद पारमार्थिक और भेद ही प्रातिभासिक या आध्यासिक है। इन तीनों के मत में तादात्म्य को ही सम्बन्ध माना गया है। केवल भेद-अभेद के पारमार्थिक या प्रातिभासिक होने में मतभेद है।

प्राचीन वैयाकरणों के मत में शब्द में जो बोधकत्व है, वही सम्बन्ध है। नवीन वैयाकरण वाच्य-वाचकभाव को ही सम्बन्ध मानते हैं। इस सम्बन्ध का ग्राहक इतरेतराध्यासमूलक तादात्म्य को ही माना गया है। अर्थ में शब्द का और शब्द में अर्थ का जो अध्यास है, उसी को यहाँ इतरेतराध्यास कहते हैं, यही शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्य का मूल है। तादात्म्य का लक्षण दृष्टि-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का माना गया है। द्वैतवादियों के मत में उससे भिन्न होकर भी जो अभेदेन प्रतीयमान हो, उसी को तादात्म्य माना गया है। अद्वैत-वादी का कहना है कि उससे अभिन्न होकर जो भेदेन प्रतीयमान हो, वही तादात्म्य है। अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार दोनों ही लक्षण ठीक हैं। जितने सम्बन्ध-वादी हैं, उनके स्वरूपों या लक्षणों में परस्पर भेद प्रतीत होते हुए भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि सबका तात्पर्य बोधकत्व या वाच्य-वाचकभाव में ही है। शाब्दिक भेद चाहे जो हो, परन्तु अर्थ या तात्पर्य सबका एक ही है—बोधकत्व या वाच्य-वाचकभाव। शब्द और अर्थ के साथ जो सम्बन्ध है, उसका नियामक क्या है? यह प्रश्न सम्बन्धवादियों के प्रति होता है, परन्तु इनके मत में कार्य-कारणभाव ही सम्बन्ध का नियामक है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का नियामक कार्य कारण भाव है, इसको दिखाने के लिए सृष्टि-क्रम का जानना आवश्यक हो जाता है। इससे शब्दार्थ-सम्बन्ध के ज्ञान में सहायता मिलेगी, इस अभिप्राय से सृष्टिक्रम के विषय में भी संक्षेप में कुछ लिखना आवश्यक हो जाता है।

शास्त्रों में सृष्टिक्रम यद्यपि विभिन्न प्रकारों से वर्णित है, तथापि समन्वयात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि सबका तात्पर्य एक ही मूल-तत्त्व के विषय में है, जिससे समस्त सृष्टि का विकास हुआ। 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'; 'आत्मा वा इदमेकमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियों पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि सृष्टि के पहले महाप्रलयावस्था में एक ही अखण्ड सत् शब्द या आत्मशब्द वाच्य-तत्त्व था, वही ब्रह्म, परमात्मादि अनेक शब्दों से शास्त्रों में वर्णित है। वही सत्-चित्-आनन्दमय सर्वशक्तिमान परब्रह्म है। उसी की चिन्मयी स्वाभाविक शक्ति का नाम पराशक्ति या परावाक् है। इसी का वर्णन शास्त्रों में प्रकृति, माया, महामाया, अविद्यादि अनेक शब्दों से किया गया है।

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते; देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या' इत्यादि श्रुति-स्मृतियों से यह बात सिद्ध हो जाती है कि वही परा नाम की शक्ति समस्त नामरूपात्मक जगत् का मूल उपादान है। प्रलयावस्था में जब समस्त जगत् अपने अपने कारण द्वारा परम कारण में लीन होता है, जैसे—पृथिवी जल में, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश अव्यक्त (जिसको प्रकृति, माया, पराशक्ति आदि शब्दों से कहा गया है) में और अव्यक्त परब्रह्म में लीन हो जाता है, तब एक अखण्ड अद्वैत-तत्त्व ही निस्तरङ्ग सागर के समान विद्यमान रहता है। उस समय ब्रह्म और शक्ति में कुछ भेद नहीं रहता। इसी अवस्था का वर्णन 'शिवशक्तिसामरस्य' शब्द से शास्त्रों में पाया जाता है। यही भेदाभेद-घटित शिवशक्ति या ब्रह्ममाया का तादात्म्य है। यहाँ शिव-शक्ति या ब्रह्म-माया में कुछ भी भेद नहीं रहता, जैसे अग्नि और दाहकत्व-शक्ति में कुछ भेद नहीं रहता। यही अद्वैतावस्था है। यहाँ एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए कि जब सकल जडचेतनात्मक पदार्थों का अपने-अपने कारण के द्वारा परम कारण अव्यक्त या माया में लय होने लगता है, तब प्राणियों के शुभ-अशुभ जितने कर्म हैं, वे भी संस्कार या वासना-रूप में अव्यक्त या माया में लीन हो जाते हैं।

इस समय द्वैत का लेशतः भी भान नहीं होता। केवल एक अखण्ड सच्चिदानन्दघन आत्मा (ब्रह्म) ही रहता है। माया में विलीन प्राणियों के शुभाशुभ कर्मरूप जो वासना है, काल की महिमा से जब उसमें फलोन्मुख वृत्ति उद्‌बुद्ध होती है, तब उसमें क्षोभ होता है, जिससे भगवदिच्छा-रूप ईक्षणात्मक वृत्ति उत्पन्न होती है—'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय; सोऽकामयत' इति। वही ईक्षणात्मक माया-

वृत्ति ओं इस प्रणवरूप में प्रादुर्भूत होती है, जो समस्त नामरूपात्मक जगत् का मूल उपादान है।

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं-तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदित्यादि' माण्डूक्य श्रुति का भी यही अभिप्राय है। ईक्षणात्मक मायावृत्ति सिसृक्षा (सृष्टि करने की इच्छा) शब्द से भी शास्त्रों में व्यवहृत किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि भगवदिच्छाशक्ति ही ईक्षणात्मक माया-वृत्ति ओंकाररूप में आविर्भूत या या प्रकट होती है। इसी अभिप्राय से शास्त्रकारों ने लिखा है—

ओङ्कारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ॥

सृष्टि के पहले ब्रह्म के मुख से 'ओम्' और 'अर्थ' ये ही दो शब्द पहले निकले, इसीलिए दोनों माङ्गलिक हैं।

एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सृष्टि का मूल उपादान ओङ्कार ही है। यद्यपि 'एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्यादि श्रुति में आत्मा (ब्रह्म) को ही जगत् का मूल उपादान माना गया है, कहीं 'तत्तेज ऐक्षत' इत्यादि श्रुतियों में तेज को ही उपादान माना है और यथा 'अग्नेर्विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति सहस्रशः सरूपाः, एवमेवाक्षरात् सोम्य सर्वे भावा युगपत् व्युच्चरन्ति, तत्रैवापि यन्ति च' इस श्रुति में अक्षर से ही समस्त पदार्थों की एक काल में उत्पत्ति बताई गई है।

यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने से विरोध प्रतीत होता है, तथापि समन्वयात्मक सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर कुछ भी विरोध नहीं होता। 'एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः, इस श्रुति में 'आत्मनः' पद का अर्थ वही है, जो 'एवमेवाक्षरात् सोम्य' इस श्रुति में अक्षर शब्द का अर्थ है। इस अर्थ को मान लेने से कोई विरोध नहीं होता। अक्षरात् का अर्थ 'शब्देभ्यः' है, यहाँ जाति में एकवचन है। किसी-किसी ने अक्षरात् का अर्थ सूक्ष्मभूतोपाधिक अपर ब्रह्म माना है। शब्द-भेद होने पर भी अर्थ या तात्पर्य एक ही है—शब्द। वास्तविक शब्द 'ओम्' ही है।

अक्षर का अर्थ वर्णात्मक शब्द पतञ्जलि ने भी माना है। माण्डूक्योपनिषद् में तो स्पष्ट ही ओम् को ही अक्षर माना है—'ओम् इत्येतदक्षरम् इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव'। ओम् यही अक्षर है, इसी का परिणाम या विवर्त्त भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् काल में होनेवाला सकल

प्रपञ्च है। जब माण्डूक्योपनिषद् जैसे सर्वमान्य उपनिषद् में अक्षर शब्द का 'ओम्' ही अर्थ माना है, तब किसी को सन्देह नहीं रहना चाहिए कि 'अक्षरात्' का अर्थ क्या है? परब्रह्म की परा नाम की जो अनादि शक्ति है, उसी का विकसित रूप सिसृक्षा-जन्य ईक्षणात्मक ओम् है।

सृष्टि-प्रक्रिया

'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इस श्रुति में आकाश पद से शब्दतन्मात्र का ही ग्रहण होता है; क्योंकि अद्वैतसिद्धान्त में भूतसूक्ष्म शब्द से जिसका व्यवहार होता है, उसी को सांख्य लोग तन्मात्र शब्द से व्यवहृत करते हैं। नैयायिक उसी को परमाणु मानते हैं। प्रकृत में आकाश पद से भूतसूक्ष्म का ही ग्रहण है; क्योंकि आगे पञ्चीकरण का विधान श्रुति में किया गया है। इससे यह तात्पर्य निकला कि पूर्वोक्त ओङ्कारात्मक आत्मा से शब्द तन्मात्र का ही आविर्भाव होता है। श्रुति में 'आकाशः' यहाँ एकवचन जाति के अभिप्राय से किया गया है; क्योंकि शब्द परमाणुओं की सत्ता भर्तृहरि ने भी स्वीकार की है, जैसे 'अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः' (वा० प० ११२)। इसी आकाश का शब्दघन-रूप से भी व्यवहार शास्त्रों में पाया जाता है।

'आकाशाद्वायुः'—शब्द-परमाणुओं से वायु उत्पन्न होती है। शब्द-परमाणुओं के प्रतिक्षण परिणामित्व-स्वभाव होने के कारण वे सक्रिय रहते हैं, इसी से वायु की उत्पत्ति होती है। लोक में भी देखा जाता है कि भावपदार्थों में क्रिया होने पर वायु की उत्पत्ति होती है, इसलिए यह परिणाम सम्भव है। 'आकाशाद् वायुः' यहाँ दोनों पदों में जाति में ही एकवचन है। इसी प्रकार, आगे सर्वत्र जाति में ही एकवचन समझना चाहिए। शब्द-तन्मात्रों से यद्यपि वायु का ही उत्पन्न होना बताया गया है, तथापि उन्हीं शब्द-तन्मात्रों से श्रोत्र-इन्द्रिय की भी उत्पत्ति होती है, यह जानना चाहिए। जितनी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, वे सब एक-एक सत्त्वप्रधान-भूत सूक्ष्मों के ही कार्य हैं; क्योंकि ये सब प्रतिनियत विषय हैं, अर्थात् सब इन्द्रियाँ एक-एक नियत विषय को ही ग्रहण करती हैं। जैसे श्रोत्रेन्द्रिय शब्द को ही, त्वगिन्द्रिय स्पर्श को ही, चक्षु-इन्द्रिय रूप को ही, रसनेन्द्रिय रस को ही और घ्राणेन्द्रिय गन्ध को ही ग्रहण करती है, अन्य को नहीं।

मन सत्त्वप्रधान समस्त भूतसूक्ष्मों का ही कार्य है, इसीलिए वह समस्त विषयों को ग्रहण करता है। शब्द-तन्मात्रों से ही स्थूल शब्दों की भी उत्पत्ति होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि वायु-तन्मात्र, श्रोत्र और स्थूल शब्द ये तीनों शब्द-तन्मात्र के ही कार्य हैं। इन्द्रियों के उपादान भूतसूक्ष्म हैं, इसीलिए इन्द्रियों का

सूक्ष्म और परिच्छिन्न होना शङ्कराचार्य ने 'अणवश्च' सूत्र के शारीरकभाष्य में बताया है। पञ्चीकरण के बाद इतर (शब्देतर) तन्मात्रों से सहकृत शब्द-तन्मात्रों से आकाश (स्थूलाकाश) की उत्पत्ति होती है। 'वायोरग्निः' वायु से अग्नि (तेज) की उत्पत्ति होती है। वायु का स्वभाव तिर्यग्-गमन है, इसलिए वायु-तन्मात्रों के परस्पर आघात-प्रतिघात होने पर तेज की उत्पत्ति होती है। परस्पर प्रतिघात होने पर तेज या अग्नि की उत्पत्ति लोक में प्रत्यक्ष ही है। 'अग्नेरापः', तेज-तन्मात्रों से जल-तन्मात्रों की उत्पति होती है। तेज के प्रकर्ष-आधिक्य होने पर जल का होना भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। 'अद्भ्यः पृथिवी', जल-तन्मात्रों से पृथिवी-तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। जल में तेज से परिपाक होने पर समुद्रफेन का कठिन या पृथिवीभाव होना भी देखा ही जाता है। 'पृथिव्या अन्नौषधयः' पृथिवी से अन्न और ओषधियों की उत्पत्ति होती है। यहाँ पृथिवी से पञ्चीकृत पृथिवी का ही ग्रहण होता है; क्योंकि पञ्चीकृत स्थूल पृथिवी से ही अन्न ओषधि आदि की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। इस प्रकार वैदिक-सृष्टि-प्रक्रिया से यही सिद्ध होता है कि शब्देतर समस्त भूतसूक्ष्मों की प्रकृति शब्द-तन्मात्राएँ ही साक्षात् या परम्परया हैं। इसी कारण समस्त तन्मात्रों में शब्द का अनुगम होता है।

इस स्थिति में यही सिद्ध होता है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामक जो पञ्चतन्मात्र हैं, उनके पञ्चीकरण से स्थूल आकाशादि भूतों की उत्पत्ति होती है, इसी कारण समस्त स्थूल भूतों में भी शब्द-तन्मात्रों का अनुगम है, अर्थात् शब्द-तन्मात्र सर्वत्र अनुस्यूत है। इसीलिए, सब भूतों में आघात होने पर शब्द का अवगम स्पष्ट होता है। पृथिवी में 'चट्-चट्' शब्द, जल में 'बुद्-बुद् ध्वनि' तेज या अग्नि में 'भुग्-भुग्' और वायु में 'सन्-सन्' शब्द का अवगम प्रत्यक्ष लोकानुभव है। पञ्चदशी में लिखा है—

> क्षितौ चटचटा शब्दः जले बुदुबुदु ध्वनिः ।
> अग्नौ भुगुभुगु ध्वनिः वायौ वीसीति शब्दनम् ॥

पञ्चीकरण की प्रक्रिया

जो पञ्च नहीं हैं, उसको पञ्च कर देने का ही नाम पञ्चीकरण है। जैसे आकाश आदि जो पञ्चभूत हैं, वे प्रत्येक एक-एक हैं, पाँच नहीं, उन प्रत्येक को पाँच बनाना ही पञ्चीकरण है। पृथिवी आदि पञ्चभूतों को दो दो भाग कर दें। उनमें प्रथम भाग को चार भाग कर दें। उन प्रत्येक चार भागों को अपने से भिन्न चार भागों के अवशिष्ट दूसरे भागों में मिला दें। इस प्रकार, प्रत्येक भूत अपना

आधा भाग और आधे में अपने से भिन्न चार तत्त्वों का एक-एक भाग रहेगा, इस प्रकार प्रत्येक भूत पञ्चभूतात्मक हो जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि पाँचों भूत या भौतिक पदार्थ सब पञ्चभूतात्मक ही हैं। यह पञ्चीकरण-प्रक्रिया है। इसी को पञ्चदशी में लिखा है—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजात् पञ्च पञ्च ते ॥

इस प्रकार, विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि सकल भौतिक पदार्थों का मूल कारण या प्रकृति स्थूल शब्द ही है। पहले शब्द-तन्मात्रों से स्थूल शब्दों की उत्पत्ति होती है, इसके बाद स्थूल शब्दों से ही अर्थों की उत्पत्ति भी शास्त्रों में बताई गई है। शब्द-परमाणु में काल की महिमा से अपनी शक्ति जब अभिव्यक्त होने लगती है, तभी प्रयत्न से प्रेरित होकर वे मेघ के समान बढ़ने और फैलने लगते हैं। भर्तृहरि ने लिखा है—

स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः ।
अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः ॥

जब काल की महिमा से ही शब्द-तन्मात्रों में अदृष्ट तेजःपरिपाक होता है, तब तेजःपकिपाक के कारण ही वे शब्द-तन्मात्र पहले अकार के रूप में परिणत या प्रकाशित होते हैं। तेज के परिपाक से ही फल आदि में रूप, रस, गन्ध आदि की परावृत्ति देखी जाती है, इसलिए यह सम्भव है। इसी अभिप्राय से भर्तृहरि ने कहा है—

अथेदमान्तरज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम् ।
व्यक्तये स्वस्वरूपस्य शब्दत्वेन विवर्त्तते ॥
समनोभावमापद्य तेजसा पाकमागतः ।
वायुमाविशति प्राणमथासौ समुदीर्यते ॥
अन्तःकरणतत्त्वस्य वायुराश्रयतां गतः ।
तद्धर्मेण समाविष्टस्तेजसैव विवर्त्तते ॥

सूक्ष्म वाक्-रूप में स्थित जो आन्तर ज्ञान है, वही अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए स्थूल शब्द-रूप में अभिव्यक्त या भासित होता है, वही तेज से परिपाक होने से मनोभाव को प्राप्त कर प्राणवायु में प्रविष्ट होकर प्रकाशित

होता है। वही वायु जब अन्तःकारण के तत्व के आश्रित होती है, तब तेजः परिपाक के कारण ही उसके धर्म से युक्त हो कर उसी रूप में परिणत या भासित होती है। उसके बाद वह पूर्वोक्त अकार तत्तत् वर्णों के आकार में परिणत या भासित होता है। श्रुति भी कहती है—'अकारो वै सर्वा वाक्', अकार का ही परिणाम या विवर्त्त समस्त वाक् या वर्ण हैं। वे ही वर्ण पद-रूप में और पद वाक्य रूप में परिणत या भासित होते हैं। उन्हीं पदों से पदार्थों की भी उत्पत्ति होती है। श्रुति कहती है—

'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत्'; 'भुवरित्यन्तरिक्षम्।' वाक्यपदीय में भी महावैयाकर णभर्तृहरि ने लिखा है—

> अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
> विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

अनादि अनन्त अक्षर=अविनाशी शब्दतत्त्व शब्दब्रह्म है, वही अर्थरूप में परिणत या भासित होता है।

उसी शब्द से समस्त जडचेतनात्मक जगत् की प्रक्रिया या सृष्टि होती है। 'शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्यनिबन्धिनी।' शब्दों में आश्रित जो शक्ति है, वही विश्व की निबन्धिनी, अर्थात् जनिका या उत्पन्न करनेवाली है।

> शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
> छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्त्तत॥

वेदविदों का कहना है कि यह समस्त प्रपञ्च शब्द का ही परिणाम है। छन्दोमयी वाक् से ही अनेक प्रकार के पदार्थों की उत्पत्ति होती है, जिनमें शब्दों की व्याप्ति है। कहा भी है—

> विभज्य बहुधात्मानं स छन्दस्यः प्रजापतिः।
> छन्दोमयीभिर्वाचाभिः बहुधैव विवेश तम्॥

'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे', 'वाच इत् सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्' 'ओमित्येतदक्षरम्' इदं सर्वं तस्य उपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदपि ओङ्कार एव।

इत्यादि श्रुति-स्मृतियों के ऊपर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सकल नामरूपात्मक प्रपञ्च शब्द के ही परिणाम या विवर्त्त हैं। यह इसी प्रकार उपपन्न होता है कि पञ्चीकृत तत्तत् भूतों से संस्कृत तत्-तत् अर्थवाचक शब्दों से वे सब भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार, साक्षात् या परम्परया समस्त पदार्थों का उपादान शब्द ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार, विचार करने पर यही सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार घट का उपादान मृत्तिका है या पट का सूत्र, उसी प्रकार पदार्थों का उपादान पद या शब्द ही है। जिस प्रकार मृत्तिका और घट का, पट और सूत्र का तादात्म्य या उपादानोपादेय-सम्बन्ध सिद्ध होता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ का उपादानोपादेय या तादात्म्य-सम्बन्ध सिद्ध होता है। यह तादात्म्य भेदाभेद-घटित है। इसका नियामक कार्य-कारणभाव या प्रकृति-विकृतिभाव है। शब्द प्रकृति या कारण है और अर्थ उसकी विकृति या कार्य। यह कार्य-कारण या प्रकृति-विकृतिभाव सम्बन्धान्तर ही है। मीमांसकों के मत में शक्ति नाम का जो शब्दार्थ-सम्बन्ध माना गया है, उसका भी बोधकत्व शक्ति में ही तात्पर्य है। प्राचीन वैयाकरणों के मत में बोधकत्व-सम्बन्ध माना ही गया है, नवीन वैयाकरण वाच्यावाचक भाव को शब्दार्थ-सम्बन्ध मानते हैं। कुमारिलभट्ट के मत में भी प्रत्याय्य-प्रत्यायक भाव का शब्दार्थ-सम्बन्ध-शास्त्रदीपिका में बताया गया है। शब्द के भेद होने पर भी सबका तात्पर्य एक ही है—वाच्य-वाचकभाव। शब्द बोधक या प्रत्यायक होता है और अर्थ बोध्य या प्रत्याय्य। इसी को वाच्य-वाचक भी कहते हैं। अर्थ है वाच्य, तो शब्द है वाचक। केवल शब्द में ही भेद भासित होता है, तात्पर्य एक ही है।

बाह्य शब्दों के समान आभ्यन्तर शब्द भी होते हैं, जिनको बुद्धि में समुपलभ्यमान या प्रतिभासमान होने से बौद्ध भी कहते हैं। इसी प्रकार आभ्यन्तर या बौद्ध अर्थ भी होते हैं। आभ्यन्तर (बौद्ध) अर्थ दो प्रकार के होते हैं—एक सत्, दूसरा असत्। सत् वह है, जो भीतर (बुद्धि में) और बाहर दोनों जगह उपलभ्यमान हो। जैसे—घट, पट आदि। दूसरा असत् भी दो प्रकार का है—एक अत्यन्त असत्, दूसरा अनिर्वचनीय असत्। अत्यन्त असत् शश-विषाण, आकाशपुष्प आदि हैं। अनिर्वचनीय असत् शुक्ति-रजत और स्वप्न में भासित होनेवाले पदार्थ हैं। ये जो दो प्रकार के बौद्ध पद और पदार्थ हैं, इन दोनों का सम्बन्ध भी तादात्म्य ही है; क्योंकि दोनों का उपादान एकमात्र बुद्धि ही है अथवा बुद्धिवृत्त्यात्मक पद पहले उत्पन्न होता है, इसलिए वह कारण है और बाद में

उत्पन्न होनेवाला जो बुद्धिवृत्त्यात्मक अर्थ है, वह कार्य या उपादेय है। इस प्रकार, कार्य-कारण, उपादानोपादेय या प्रकृति-विकृतिभाव होने से बौद्ध पद और पदार्थों का भी तादात्म्य-सम्बन्ध ही होना सिद्ध होता है। एक दूसरी प्रक्रिया यह है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहितो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥

इसका भावार्थ मूल ग्रन्थ में पहले लिख चुके हैं।

यह प्रक्रिया सृष्टि के आदिकाल में स्थित शब्दों की अभिव्यक्ति-प्रक्रिया है, उत्पत्ति-प्रक्रिया नहीं। वहाँ 'जनयते' का अर्थ अभिव्यञ्जयति है, उत्पादयति नहीं। इसी कारण, धातुपाठ में 'जनी प्रादुर्भावे' ऐसा पाठ है। जहाँ इसका उत्पत्ति-अर्थ माना जाता है, वहाँ जनी धातु का उत्पत्ति-अर्थ लाक्षणिक है। वाच्य अर्थ तो प्रादुर्भाव, अर्थात् अभिव्यक्ति ही है। वस्तुतः, विचार करने से तो वर्ण प्रतिक्षणविध्वंसशील होने से अनित्य ही हैं, उनसे अभिव्यक्त होने वाला स्फोट ही नित्य, अखण्ड और व्यापक है। शब्द-तन्मात्रों के कार्य जो आकाश है, उसके व्यापक होने के कारण शरीराभ्यन्तराकाश में भी शब्द-तन्मात्रों की स्थिति रहती ही है। क्योंकि वे आकाश के ही गुण हैं। शब्द-तन्मात्रों की कारणीभूत जो आत्मा है, वही ब्रह्म की शक्ति परावाक् है, 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' यह श्रुति की घोषणा है। शब्द-तन्मात्रों को पश्यन्ती, वर्ण-पद वाक्य-रूप से अर्थ का स्फोटक या बोधक होने से मध्यमा और पूर्ण अभिव्यक्त होने पर वैखरी कहते हैं। वैखरी और पश्यन्ती के मध्य में होने से भी उसको मध्यमा कहते हैं। शब्द-तन्मात्रों का पश्यन्ती शब्द से इसलिए व्यवहार किया गया है कि वह ज्ञान का विषय होता है। पश्यन्ती का यह अर्थ इसलिए होता है कि पश्यन्ती शब्द दृश् धातु से कर्मकर्त्ता में लट् के स्थान में शतृ करने से निष्पन्न होता है। यद्यपि शब्द-तन्मात्र भी सबके ज्ञान का विषय नहीं होते, तथापि योगियों के सविकल्पक समाधि में उनका ज्ञान या दर्शन होता है।

परा वाक् का ज्ञान सविकल्पक समाधि में योगियों को भी नहीं होता, इसीलिए उसको पश्यन्ती शब्द से व्यवहृत नहीं किया। परा का स्थान मूलाधार, पश्यन्ती का नाभि, मध्यमा का हृदय और वैखरी का कण्ठ स्थान बताया गया है। जैसे—

परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा॥

इसमें मूलाधारस्थ जो परावाक् है, उसी का व्यवहार आत्मशब्द से 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः' इस श्रुति में किया गया है। इसी से शब्द-तन्मात्रों के द्वारा समस्त नामरूपात्मक जगत् का प्रादुर्भाव हुआ है। परावाक् का आत्मशब्द या शब्दब्रह्म शब्द से जो व्यवहार किया गया है, उस से प्रतीत होता है कि परावाक् चित् स्वरूपा या चैतन्यरूपा है, जड नहीं। ब्रह्म या आत्मशब्द का वाच्य जड नहीं हो सकता। इसीलिए महर्षियों ने कहा है—'स्वरूपज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी'। यहाँ अपायरहित, अर्थात् अविनाशिनी परावाक् को स्वरूप (आत्म) ज्योति कहा गया है, यह ब्रह्मशक्ति है, जड कदापि नहीं हो सकती। इसी कारण महर्षियों ने शक्ति से विरहित शिव को शव माना है। परम अद्वैतवादी भगवान् शङ्कराचार्य ने भी 'सौन्दर्यलहरी' में लिखा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।

इसका भावार्थ यही है कि शिव जब शक्ति से रहित होता है, तब वह शव हो जाता है।

यहाँ एक विषय पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि ब्रह्म तो सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है। इसमें तो किसी भी शास्त्रकारों या महर्षियों का विवाद नहीं है। शक्ति और शक्त में अग्नि और उसकी दाहकत्व-शक्ति के समान अभेद भी प्रायः सब लोग मानते हैं। इस स्थिति में यदि परा शक्ति को जड मान लें, तो शक्ति और शक्त के अभेदवादी का सिद्धान्त ही नष्ट हो जायगा। एक बात और है कि शास्त्रों में पराशक्ति को स्वरूपभूता शक्ति भी कहा गया है, तब तो ज्ञानस्वरूप ब्रह्म की स्वरूपभूता शक्ति भी ज्ञानस्वरूपा है, यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है। इसी अभिप्राय से भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में स्पष्ट लिख दिया है—

अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मवागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्वरूपस्य शब्दत्वेन विवर्त्तते॥ (वा० प० ११३)

यहाँ ध्यान देने की बात है कि उक्त पद्य में आन्तर ज्ञान की ही सूक्ष्म वाक्-रूप में स्थिति बताई गई है, जो ज्ञानस्वरूपा वाक्शक्ति (जो पराशक्ति नाम से प्रसिद्ध है) अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए शब्द-रूप में परिणत या भासित होती है। जब वाक्शक्ति का चैतन्य या ज्ञानस्वरूप होना सिद्ध हो जाता है, तब उसके विवर्त्त वा परिणामभूत सकल वैदिक और तान्त्रिक मन्त्रों का भी चैतन्यस्वरूप होना सुतरां सिद्ध हो जाता है। तन्त्रशास्त्र में मन्त्रों में चैतन्य-शक्ति को जाग्रत् करने के लिए मन्त्रों के कई एक संस्कार बताये गये हैं, जो तान्त्रिक मण्डली में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इसलिए परा वाक्शक्ति चैतन्य-स्वरूपा है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस स्थिति में शक्ति या पराशक्ति को जो जड मानते हैं, उनका मत खण्डित हो जाता है।

पूर्व में शब्द-तन्मात्रों से जो स्थूल शब्दों की उत्पत्ति बताई गई है, वहाँ ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक इन दोनों प्रकार के शब्दों की उत्पत्ति समझनी चाहिए। भेरी, मृदङ्ग आदि वाद्यों से जो शब्द उत्पन्न होते हैं, उन्हीं को ध्वन्यात्मक शब्द कहते हैं। ध्वन्यात्मक शब्द का कुछ अर्थ नहीं होता; वर्णात्मक शब्द ही अर्थ के वाचक होते हैं। इन दोनों प्रकार के शब्दों में वैजात्य या भेद होने में कारण यह है कि वायु-तन्मात्रों से सहकृत शब्द-तन्मात्रों से ही इन दोनों प्रकार के शब्दों की उत्पत्ति होती है। वहाँ सहकारी वायुतन्मात्रों के वैजात्य से ही ध्वनि और वर्णात्मक शब्दों में वैजात्य या द्वैविध्य होना माना गया है। जिस प्रकार कत्व, खत्व आदि धर्म-भेद से वर्णों में भेद होता है, उसी प्रकार ध्वनि में भी भेद होता है। वर्णात्मक शब्दों में कण्ठताल्वादि के अभिघात में भेद होने से भेद होता है, और ध्वनि में वाद्यादि के भेद होने से भेद या वैजात्य होता है। शब्द-तन्मात्र के सहकारी वायु-तन्मात्र उपादानकारण होने से होता है, न कि निमित्त-कारण। इसलिए वायु के क्रमिक होने से उससे अभिव्यक्त होनेवाले वर्णपद और वाक्य भी क्रमिक और सावयव माने जाते हैं। वर्णों में क्रमिकत्व और सावयवत्व का भान इसलिए नहीं होता कि उनके अभिव्यक्ति-क्रम अत्यन्त सूक्ष्म या आशुतरभावी है। कहीं-कहीं सन्ध्यक्षर वर्णों में क्रमिकत्व काल और सावयवत्व स्पष्ट प्रतीत होता है। इसलिए ये सब वैयाकरणों के मत में अनित्य माने जाते हैं। केवल इनसे अभिव्यक्त होनेवाल स्फोट-तत्त्व ही नित्य अर्थ का बोधक या वाचक होता है, वर्ण और पद नहीं।

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं' यो वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै, इत्यादि श्रुतियों में पहले ब्रह्मा की सृष्टि बताई गई है, जिसको परमात्मा ने वेद का उपदेश दिया, वही अपरब्रह्म या हिरण्यगर्भ शब्द से शास्त्रों में भी वर्णित है। हिरण्यगर्भ की सृष्टि के पश्चात् पञ्चतन्मात्र (सूक्ष्मभूत) तदुपाधिभूत सूक्ष्म शरीर की भी सृष्टि की। इनकी सृष्टि करने के बाद उन्हें वेद का उपदेश दिया। परमात्मा के संकल्प से पूर्व सर्ग में अधीत वेद की स्मृति हुई जो महास्मृति शब्द से शास्त्रों में वर्णित है। इसके बाद वेद से ही पद-पदार्थों को जानकर पञ्चतन्मात्रों के पञ्चीकरण के द्वारा महाभूत, समस्त पाञ्चभौतिक पदार्थ तथा सूर्य, चन्द्र आदि की पूर्व सृष्टि के समान ही हिरण्यगर्भ ने सृष्टि की। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इत्यादि श्रुति भी इसी बात की घोषणा या पुष्टि करती है। यहाँ हिरण्यगर्भ या अपर ब्रह्म से जिस तत्त्व का वर्णन किया गया है, वह पूर्ववर्णित ओङ्कार-रूप शब्दब्रह्म ही है। यही परा शक्ति है, जिसका वर्णन पहले ही कर चुके हैं। शब्द-भेद या वर्णन-शैली के भेद से भेद प्रतीत होने पर भी वास्तविक तत्त्व एक ही है, जो समन्वयात्मक दृष्टि से विचार करने पर अवश्य स्पष्टतया प्रतीत हो जाता है। इस स्थिति में शब्दब्रह्म या अपर ब्रह्म को जो अचेतन मानते हैं, उनका मत अपास्त हो जाता है। इस प्रकार, विचार करने से शब्द और अर्थ में प्रकृति-विकृति-भाव होना सिद्ध हो जाता है। इसी को उपादानोपादेय भाव या कार्य-कारणभाव भी कहते हैं। यही इस बात को सिद्ध करता है कि प्रकृति-विकृतिभाव या कार्य-कारणभाव से शब्द और अर्थ में तादात्म्य-सम्बन्ध है।

इस पूर्वोक्त सन्दर्भ से यही प्रमाणित होता है कि वेद में जो पद या पदार्थ हैं, उन्हीं में उपादानोपादेय या कार्य-कारणभाव सिद्ध होता है। शास्त्रों में भी वेद के शब्दों से ही सृष्टि का निर्माण होना बताया गया है—'वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थांश्च निर्ममे' इत्यादि। इसीलिए गङ्गापद की शक्ति या तादात्म्य जल या प्रवाह में ही है, तीर में नहीं। तीर का बोध तो लक्षणया होता है, इसी से लक्षणा को भी वृत्त्यन्तर स्वीकार करना पड़ता है। इसीलिए, गङ्गा पद में तीर के बोधानुकूल शक्ति नहीं मानी जाती, गङ्गा पद स्वशक्यसम्बन्ध-रूप लक्षणा से ही तीर का बोध कराता है, इसीलिए गङ्गा पद वहाँ लाक्षणिक माना जाता है। आजकल भाषाविज्ञानवादी लोग शब्दार्थ-सम्बन्ध को नित्य नहीं मानते। उनका कहना है कि कालान्तर में दूसरे अर्थ में भी शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। परन्तु, यह ठीक नहीं है; क्योंकि वह दूसरा अर्थ गौण या लाक्षणिक ही है, शक्य नहीं। शक्य अर्थ के ही साथ शब्द का सम्बन्ध नित्य माना गया है।

इतने सन्दर्भ से यही स्पष्ट होता है कि शब्द से ही अर्थ की उत्पत्ति होती है, अर्थात् अर्थ का उपादानकारण शब्द ही होता है, अतः इन दोनों का उपादानो-पादेय भाव सिद्ध होता है। शब्द उपादान है और अर्थ उपादेय। यही उपादानो-पादेयभाव या कार्यकारण भाव इन दोनों के नित्य सम्बन्ध होने का नियामक है। वह सम्बन्ध तादात्म्य ही होता है। इसी तादात्म्य-रूप शब्दार्थ-सम्बन्ध से शब्द में अर्थबोध के अनुकूल शक्ति का अनुमान किया जाता है। क्योंकि, सर्वशक्ति अनुमेय ही होती है। तादात्म्य तो दोनों का प्रत्यक्ष ही सिद्ध है। 'अयं गौः', 'अयं घटः' इत्यादि प्रयोगों में शब्द और अर्थ का समानाधिकरण से ही निर्देश सर्वत्र पाया जाता है। इसलिए शब्द-अर्थ का तादात्म्य-सम्बन्ध ही सिद्ध होता है। वाच्य-वाचकभाव-रूप शब्दार्थ-सम्बन्ध को भी यदि शक्ति मानते हैं, तो वह भी तादात्म्यमूलक ही है। 'मञ्जूषा'-में स्पष्ट लिख दिया है—'तद्ग्राहकञ्च इतरेतराध्यास मूलकं तादात्म्यम्'। वस्तुतः तो वाच्य-वाचकभाव रूप सम्बन्ध जो वैयाकरण मानते हैं, वही शब्दार्थ-सम्बन्ध है। उसी को कोई बोधकत्व या बोधजनकत्व, कोई प्रत्यायकत्व या प्रत्याय्य-प्रत्यायक भाव सम्बन्ध भी मानते हैं। परन्तु, सब का तात्पर्य एक ही है—वाच्य-वाचकभाव। केवल नाममात्र का भेद है। समन्वयात्मक दृष्टि से विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है।

अनुक्रमणी

अ

य

र

ल